ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन-ग्रन्थमाला [प्राकृत ग्रन्थाङ्क ३]

सिरि वसुणंदि आइरिय विरइयं

उवासयज्झयणं

वसुनन्दि-श्रावकाचार

हिन्दी-भाषानुवाद सहित

सम्पादक—

पं० हीरालाल जैन, सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ

भा र ती य ज्ञा न पी ठ का शी

प्रथम आवृत्ति
एक सहस्र प्रति

वैसाख वीर नि० सं० २४७८
वि० सं० २००९
अप्रैल १९५२

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवी की पवित्र स्मृतिमें
तत्सुपुत्र सेठ शान्तिप्रसादजी द्वारा

संस्थापित

ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन-ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमालामें प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड, तामिल आदि प्राचीन भाषाओंमें उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक और ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन और उसका मूल और यथासंभव अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन होगा। जैन भण्डारोंकी सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमाला में प्रकाशित होंगे।

ग्रन्थमाला सम्पादक—[प्राकृत और संस्कृत-विभाग]

डॉ० हीरालाल जैन, एम० ए०, डी० लिट्०

डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय, एम० ए०, डी० लिट्०

प्राकृत ग्रंथांक ३

प्रकाशक—

अयोध्याप्रसाद गोयलीय,

मन्त्री, **भारतीय ज्ञानपीठ काशी**

दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस ४

मुद्रक—देवताप्रसाद गहमरी, संसार प्रेस, काशीपुरा, बनारस

स्थापनाब्द फाल्गुण कृष्ण ९ वीर नि० २४७०

विक्रम सं० २००० १८ फरवरी १९४४



स्व० मूर्तिदेवी, मातेश्वरी सेठ शान्तिप्रसाद जैन

JNĀNA-PĪTHA MŪRTIDEVI JAINA GRANTHAMĀLĀ
PRAKRIT GRANTHA No. 3

VASUNANDI SHRAVAKACHARA

OF

ACHARYA VASUNANDI

WITH HINDI TRANSLATION

Translated and Edited
BY
PANDIT HIRALAL JAIN,
Siddhant Shastri, Nyayatirtha

Published by

Bhāratīya Jnānapītha Kāshi

First Edition
1000 Copies.

VAISHAKH, VIR SAMVAT 2478
VIKRAMA SAMVAT 2009
APRIL, 1952.

Price
Rs. 5/-

BHĀRATĪYA JÑĀNA-PĪTHA KĀSHI

FOUNDED BY

SETH SHANTI PRASAD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SHRĪ MŪRTI DEVĪ

JÑANA-PĪTHA MŪRTI DEVĪ JAIN GRANTHĀMALA

IN THIS GRANTHAMALA CRITICALLY EDITED JAIN AGAMIC PHILOSOPHICAL, PAURANIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRAKRIT, SANSKRIT, APABHRANSA, HINDI, KANNADA & TAMIL ETC., WILL BE PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

AND

CATALOGUES OF JAIN BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUDIES OF COMPETENT SCHOLARS & POPULAR JAIN LITERATURE ALSO WILL BE PUBLISHED

General Editors of Prakrit and Samskrit Section

Dr. Hiralal Jain, M. A. D. Litt.
Dr. A. N. Upadhye, M. A. D. Litt.

PRAKRIT GRANTHA No. 3

PUBLISHER

AYODHYA PRASAD GOYALIYA
SECY., BHĀRATIYA JÑĀNAPĪTHA,
DURGAKUND ROAD, BANARAS No. 4.

Founded in Phalguna Krishna 9, Vira Sam. 2470

Vikrama Samvat 2000
18th Feb. 1944

समर्पण

परम उदासीन प्रशान्तमूर्ति सचेल साधु

श्रद्धेय, पूज्य, श्री पं० गणेशप्रसादजी वर्णी

न्यायाचार्य

के

कर - कमलों में

सविनय

भेंट

समर्पक

हीरालाल

चलाने का अनधिकार प्रयास किया है। अतएव चरणानुयोग के विशेष अभ्यासी विद्वज्जन मेरे इस प्रयास को सावकाश अध्ययन करेंगे और प्रमादवश रह गई भूलों से मुझे अवगत करावेंगे, ऐसी विनम्र प्रार्थना है।

मैं भारतीय-ज्ञानपीठ काशी के अधिकारियों का आभारी हूँ कि जिन्होंने इस ग्रन्थ को अपनी ग्रन्थमाला से प्रकाशित करके मेरे उत्साह को बढ़ाया है। मेरे सहाध्यायी श्री० पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री ने प्रस्तावना के अनेक अंशों को सुना और आवश्यक परामर्श दिया, श्री पं० दरबारीलाल जी न्यायाचार्य देहली ने प्रति मिलानमें सहयोग दिया, पं० राजाराम जी और पं० रतनचन्द्र जी साहित्यशास्त्री मड़ावरा (झाँसी) ने प्रस्तावना व परिशिष्ट तैयार करनेमें। श्री पं० पन्नालालजी सोनी ब्यावर, बा० पन्नालालजी अग्रवाल देहली और श्री रतनलालजी धर्मपुरा देहलीके द्वारा मूल प्रतियाँ उपलब्ध हुईं। इसके लिए मैं सर्व महानुभावोंका आभारी हूँ।

डॉ० उपाध्यायने कुछ और भी महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ संशोधन एवं परिवर्द्धनके लिए दी थीं। किन्तु पहले तो लगातार चार मास तक पत्नीके सख्त बीमार रहनेसे न लिख सका। पीछे उसके कुछ स्वस्थ होते ही पच्चीसवर्षीय ज्येष्ठ पुत्र हेमचन्द्रके ता० ७–६–५१ को सहसा चिर-वियोग हो जानेसे हृदय विदीर्ण और मस्तिष्क शून्य हो गया। अब लम्बे समय तक भी उन्हें पूरा करनेकी कल्पना तक नहीं रही। फलतः यही निश्चय किया कि जैसा कुछ बन सका है, वही प्रकाशनार्थ दे दिया जाय। विद्वज्जन रही त्रुटियोंको सस्नेह सूचित करेंगे, ऐसी आशा है। मैं यथावसर उनके परिमार्जनार्थ सदैव उद्यत रहूँगा।

साढूमल, पो० मड़ावरा
झाँसी (उ० प्र०)
३०–६–५१

विनम्र—
हीरालाल
सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ

प्रकाशन-व्यय

७६०।।)।	कागज २२ × २६ = २८ पौंड ३३ रीम	४४०)	सम्पादन पारिश्रमिक
११०२)	छपाई ४।।।) प्रति पृष्ठ	३००)	कार्यालय व्यवस्था प्रूफ संशोधनादि
५५०)	जिल्द बँधाई	३५०)	भेंट आलोचना ७५ प्रति
५०)	कवर कागज	७५)	पोस्टेज ग्रंथ भेंट भेजनेका
१००)	कवर डिजाइन तथा ब्लाक	२५०)	विज्ञापन
६०)	कवर छपाई	११२५)	कमीशन २५ प्रतिशत

५१६२।।)। कुल लागत

१००० प्रति छपी । लागत एक प्रति ५=)।।

मूल्य ५) रुपये

वसुनन्दि-श्रावकाचार

प्रस्तावना

१–आदर्श प्रतियोंका परिचय

वसुनन्दि श्रावकाचारके प्रस्तुत संस्करणमें जिन प्रतियों का उपयोग किया गया है, उनका परिचय इस प्रकार है—

इ—यह उदासीन आश्रम इन्दौर की प्रति है, संस्कृत छाया और ब्र० चम्पालालजी कृत विस्तृत हिन्दी टीका सहित है। मूल पाठ साधारणतः शुद्ध है, पर सन्दिग्ध पाठोंका इससे निर्णय नहीं होता। इसका आकार ६ × १० इंच है। पत्र संख्या ४३४ है। इसके अनुसार मूलगाथाओं की संख्या ५४८ है। इसमें गाथा नं० १८ के स्थानपर २ गाथाएँ पाई जाती हैं जो कि गो० जीवकांडमें क्रमशः ६०२ और ६०१ नं० पर साधारण से पाठभेद के साथ पाई जाती हैं।

झ—यह ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वतीभवन झालरापाटन की प्रति है। इसका आकार १०×६ इंच है। पत्र-संख्या ३७ है। प्रति पत्रमें पंक्ति-संख्या ६-१० है। प्रत्येक पंक्तिमें अक्षर-संख्या ३०-३५ है। प्रति अत्यन्त शुद्ध है। दो-चार स्थल ही संदिग्ध प्रतीत हुए। इस प्रतिके अनुसार गाथा-संख्या ५४६ है। इसमें मुद्रित प्रतिमें पाई जानेवाली ५३८ और ५३६ नं० की गाथाएँ नहीं हैं। तथा गाथा नं० १८१ के आगे "तिरिएहिं खज्जमाणो" और "अण्णोण्णं खज्जंतो" ये दो गाथाएँ और अधिक पाई जाती हैं। पर एक तो वे दिल्लीकी दोनों प्रतियोंमें नहीं पाई जाती हैं, दूसरे वे स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें क्रमशः ४१ और ४२ नं० पर पाई जाती हैं। अतः इन्हें मूलपाठमें सम्मिलित न करके वहीं टिप्पणीमें दे दिया गया है। इसके अतिरिक्त गाथा नं० १८ और १९के स्थानपर केवल एक ही गाथा है। इस प्रतिके अन्तमें लेखन-काल नहीं दिया गया है, न लेखक-नाम ही। परन्तु कागज, स्याही और अक्षरोंकी बनावट देखते हुए यह प्रति कमसे कम ३०० वर्ष पुरानी अवश्य होनी चाहिए। कागज मोटा, कुछ पीले रंगका और साधारणतः पुष्ट है। प्रति अच्छी हालतमें है। इस प्रतिके आदि और मध्यमें कहीं भी ग्रन्थका नाम नहीं दिया गया है। केवल अन्तमें पुष्पिका रूपमें "इत्युपासकाध्ययनं वसुनन्दिना कृतमिदं समाप्तम्" ऐसा लिखा है। और इसी अन्तिम पत्रकी पीठपर अन्य कलम और अन्य स्याहीसे किसी भिन्न व्यक्ति द्वारा "उपासकाध्ययनसूत्रम् दिगम्बरे" ऐसा लिखा है। प्रतिमें कहीं कहीं अर्थको स्पष्ट करनेवाली टिप्पणियाँ भी संस्कृत छाया रूपमें दी गई हैं, जिनकी कुल संख्या ७७ है। इनमें से कुछ अर्थबोधक आवश्यक टिप्पणियाँ प्रस्तुत संस्करणमें भी दी गई हैं।

ध—यह प्रति धर्मपुरा दिल्लीके नये मन्दिर की है। इसका आकार ५॥ × १० इंच है। पत्र-संख्या ४८ है। प्रत्येक पत्रमें पंक्ति-संख्या ६ है और प्रत्येक पंक्तिमें अक्षर-संख्या ३६–४० है। अक्षर बहुत मोटे हैं। इस प्रतिके अनुसार गाथाओंकी संख्या ५४६ है। मुद्रित प्रतिमें पाई जानेवाली गाथा नं० ५३८ (मोहक्खएण सम्मं) और गाथा नं० ५३६ (सुहुमं च णामकम्मं) ये दोनों गाथाएँ इस प्रतिमें नहीं हैं।

प—यह प्रति पंचायती मंदिर देहलीके भंडार की है। इसका आकार ५॥ × १०॥ इंच है। पत्र-संख्या १४ है। प्रत्येक पत्रमें पंक्ति-संख्या १५ है और प्रत्येक पंक्तिमें अक्षर-संख्या ५० से ५६ तक है। अक्षर बहुत छोटे हैं, तथा कागज अत्यन्त पतला और जीर्ण-शीर्ण है। इसके अनुसार भी गाथाओं की संख्या

५४६ हैं। इस प्रतिमें भी मुद्रित प्रतिवाली उपर्युक्त ५३८ और ५३६ नं० की गाथाएँ नहीं पाई जाती हैं। इस प्रतिमें यत्र तत्र अर्थबोधक टिप्पणियाँ भी पंक्तियोंके ऊपर या हाशिये में दी गई हैं जो कि शुद्ध संस्कृतमें हैं। इस प्रतिमें कहीं-कहीं अन्य ग्रन्थोंकी समानार्थक और अर्थबोधक गाथाएँ और श्लोक भी हाशियेमें विभिन्न कलमोंसे लिखे हुए हैं। उदाहरणार्थ—ब्रह्मचर्य प्रतिमा स्वरूप-प्रतिपादक गाथापर निशान देकर "सव्वेसिं इत्थीणं" इत्यादि 'स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा' की गाथा नं० ३८४ दी है। इसीके साथ "लिंगम्मि य इत्थीणं" इत्यादि सूत्रपाहुड की २४वीं गाथा और "मलबीजं मलयोनिं" इत्यादि रत्नकरण्डकका १४३वाँ श्लोक दिया है। गाथा नं० ५३१-३२ पर समुद्घातका स्वरूप और संख्यावाली गो० जी० की ६६६-६७वीं गाथाएँ भी उद्धृत हैं। इनके अतिरिक्त गाथा नं० ५२९ पर टिप्पणी रूपसे गुणस्थानों की कालमर्यादा-सूचक दो गाथाएँ और भी लिखी हैं जो कि किसी अज्ञात ग्रन्थकी हैं, क्योंकि दि० सम्प्रदायके ज्ञातप्राय ग्रन्थोंकी जो प्राकृत पद्यानुक्रमणी हाल हीमें वीर सेवा मन्दिर सरसावासे प्रकाशित हुई है, उसमें कहीं भी उनका पता नहीं लगता। वे दोनों गाथाएँ इस प्रकार हैं—

छावलियं सासाणं समये तेत्तीस सायरं चउत्थे।
देसूण पुव्वकोडी पंचम तेरस संपन्नो ॥ १ ॥
लघु पंचक्खर चरमे तय छट्ठा य बारसं जम्मि।
ए अट्ठ गुणट्ठाणा अंतमुहुत्तं मुणेयव्वा ॥ २ ॥

इन दोनों गाथाओंमें प्रथम को छोड़कर शेष तेरह गुणस्थानों का उत्कृष्ट काल बताया गया है, वह यह कि—दूसरे गुणस्थानका छह आवली, चौथेका साधिक तेतीस सागर, पाँचवें और तेरहवेंका देशोन पूर्वकोटि, चौदहवेंका लघुपंचाक्षर, तीसरे और छठेसे लेकर बारहवें तकके आठ गुणस्थानोंका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। इन दोनों गाथाओंमें पहले गुणस्थानका काल नहीं बताया गया है, जो कि अभव्य जीवकी अपेक्षा अनादि-अनंत, अनादि मिथ्यादृष्टि भव्यकी अपेक्षा अनादि-सान्त और सादि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा सादि सान्त अर्थात् देशोन अर्धपुद्गल परिवर्तन है।

इन टिप्पणियोंसे टिप्पणीकारके पांडित्यका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। एक स्थलपर शीलके १८००० भेद भी गिनाये गये हैं। प्रतिकी अत्यन्त जीर्णावस्था होनेपर भी भंडारके संरक्षकोंने कागज चिपका-चिपका करके उसे हाथमें लेने योग्य बना दिया है। इस प्रतिपर भी न लेखन-काल है और न लेखक-नाम ही। पर प्रति की लिखावट, स्याही और कागज आदिकी स्थितिको देखते हुए यह ४०० वर्षसे कमकी लिखी हुई नहीं होगी, ऐसा मेरा अनुमान है। बाबू पन्नालालजी अग्रवालके पास जो इस भंडारकी सूची है, उसपर लेखन काल वि० सं० १६६२ दिया हुआ है। संभवतः वह दूसरी रही हो, पर मुझे नहीं मिली।

ब - यह प्रति ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वतीभवन ब्यावर की है। इसका आकार ४ × १० इंच है। पत्र-संख्या ४१ है। प्रत्येक पत्र में पंक्ति-संख्या ९ और प्रत्येक पंक्तिमें अक्षर-संख्या ३२से ३६ है। कागज साधारण मोटा, पुष्ट और पीलेसे रंगका है। यह प्रति वि० सं० १६५४के ज्येष्ठ सुदी तीज सोमवार-को अजमेरमें लिखी गई है। यह प्रति आदर्श प्रतियोंमें सबसे अधिक प्राचीन और अत्यन्त शुद्ध है। इसीको आधार बनाकर प्रेस कापी की गई है। झ प्रतिके समान इस प्रतिमें भी "तिरिएहिं खजमाणो" और "अण्णोण्णं खजंता" इत्यादि गाथाएँ पाई जाती हैं। इसके अन्तमें एक प्रशस्ति भी दी हुई है, जो यहाँपर ज्योंकी त्यों उद्धृत की जाती है। जिसके द्वारा पाठकोंको अनेक नवीन बातोंका परिचय प्राप्त होगा। पूरी प्रशस्ति इस प्रकार है—

प्रशस्ति :—शुभं भवतु। सं० १६५४ वर्षे आषाढ़मासे कृष्णपक्षे एकादश्यां तिथौ ११ भौम-वासरे अजमेरगढ़मध्ये श्रीमूलसिंघे (संघे) नन्द्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारकश्रीपद्मनन्दिदेवाः, तत्० भ० श्रीशुभचन्द्रदेवाः, त० भ० श्री जिनचन्द्रदेवाः, त० भ० श्रीप्रभाचन्द्रदेवाः, त० भ० श्रीचन्द्रकीर्तिदेवाः, तत्पट्टे मण्डलाचार्य श्रीभुवनकीर्ति तत्पट्टे मण्डलाचार्य श्रीधर्मकीर्ति त० मं०

श्रीविशालकीर्ति, त० मं० श्रीलिखिमीचन्द्र, त० मं० सहसकीर्ति, त० मण्डलाचार्य श्री श्री श्री श्री श्रीनेमिचन्द्र तदाम्नाये खण्डेलवालान्वये पहाड्यागोत्रे साह नानिग, तस्य भार्या शीलतोयतरङ्गिणी साधवी लाछि, तयोः पुत्रत्रय प्रथम पुत्र शाह श्रीरंग, तस्य भार्या दुय २ प्रथम श्री यादे द्वितीय हरषमदे। तयोः पुत्रः शाह रेडा, तस्य भार्या रैणादे। शाह नानिग दुतिय पुत्र शाह लाखा, तस्य भार्या लाडमदे, तयो पुत्र शाह नाथू, तस्य भार्या नौलादे, शाह नानिग तृतीय पुत्र शाह लाला तस्य भार्या ललितादे, तयो पुत्र २, प्रथम पुत्र चि० गागा, द्वितीय पुत्र सागा। एतेषां मध्ये शाह श्रीरंग तेन इदं वसुनन्दि (उ-)पासकाचार ग्रन्थ ज्ञानावरणी कर्मक्षय-निमित्तं लिखथापितं। मण्डलाचार्य श्री श्री श्री श्री श्री नेमिचन्द्र, तस्य शिष्यणी बाइ सबीरा जोग्य घटापितं। शुभं भवतु। मांगल्यं दद्यात्। लिखितं जोसी सूरदास।

> **ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः।**
> **अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्याधिः भेषजाद्भवेत् ॥ १ ॥**
> **सम्यक्त्वमूलं श्रुतपीठबन्धः दानादिशाखा गुणपल्लवाढ्या।**
> **जसप्र (यशः) प्रसूनो जिनधर्मकल्पद्रुमो मनोऽभीष्टफलादवुस्त (फलानि दत्ते) ॥**

हाशियामें इतना संदर्भ और लिखा है: "संवत् १६५४ ज्येष्ठ सुदि तीज तृतीया तिथौ सोमवासरे अजमेरगढ़मध्ये लिखितं च जोसी सूरदास अर्जुनसुत ज्ञाति बुन्दीवाल लिखाइतं च चिरंजिव"।

उपर्युक्त प्रशस्ति संस्कृत मिश्रित हिन्दी भाषामें है। इसमें लिखानेवाले शाह नानिग, उनके तीनों पुत्रों और उनकी स्त्रियोंका उल्लेख किया गया है। यह प्रति शाह नानिगके ज्येष्ठ पुत्र श्रीरंगने जोसी सूरदाससे लिखाकर संवत् १६५४ के आषाढ़ वदी ११ मंगलवारको श्रीमण्डलाचार्य भट्टारक नेमिचन्द्रजीकी शिष्यणी सबीराबाईके लिए प्रदान की थी। प्रशस्तिके अन्तिम श्लोकका भाव यह है—"यह जिनधर्मरूप एक कल्पवृक्ष है, जिसका सम्यग्दर्शन मूल है, श्रुतज्ञान पीठबन्ध है, व्रत दान आदि शाखाएँ हैं, श्रावक और मुनियोंके मूल व उत्तरगुणरूप पल्लव हैं, और यशरूप फूल हैं। इस प्रकारका यह जिनधर्मरूप कल्पद्रुम शरणार्थी या आश्रित जनोंको अभीष्ट फल देता है।"

म—यह बा० सूरजभान जी द्वारा देवबन्दसे लगभग ४५ वर्ष पूर्व प्रकाशित प्रति है। मुद्रित होने से इसका संकेत 'म' रखा गया है।

हमने प, भ और ध प्रतियोंके अनुसार गाथाओं की संख्या ५४६ ही रखी है।

२—ग्रन्थ-परिचय

ग्रन्थकारने अपने इस प्रस्तुत ग्रन्थका नाम स्वयं 'उपासकाध्ययन' दिया है, पर सर्व-साधारणमें यह 'वसुनन्दि-श्रावकाचार' नामसे प्रसिद्ध है। उपासक अर्थात् श्रावकके अध्ययन यानी आचारका विचार जिसमें किया गया हो, उसे उपासकाध्ययन कहते हैं। द्वादशांग श्रुतके भीतर उपासकाध्ययन नामका सातवाँ अंग माना गया है, जिसके भीतर ग्यारह लाख सत्तर हजार पदोंके द्वारा दार्शनिक आदि ग्यारह प्रकारके श्रावकोंके लक्षण, उनके व्रत धारण करने की विधि और उनके आचरणका वर्णन किया गया है। वीर भगवान्के निर्वाण चले जानेके पश्चात् क्रमशः ६२ वर्षमें तीन केवली, १०० वर्षमें पाँच श्रुतकेवली, १८३ वर्षमें दशपूर्वी और २२० वर्षमें एकादशांगधारी आचार्य हुए। इस प्रकार वीर-निर्वाणके (६२ + १०० + १८३ + २२० = ५६५) पाँच सौ पैंसठ वर्ष तक उक्त उपासकाध्ययनका पठन-पाठन आचार्य-परम्परामें अविकलरूपसे चलता रहा। इसके पश्चात् यद्यपि इस अंगका विच्छेद हो गया, तथापि उसके एक देशके ज्ञाता आचार्य होते रहे और वही आचार्य-परम्परासे प्राप्त ज्ञान प्रस्तुत ग्रन्थके कर्त्ता आचार्य वसुनन्दिको प्राप्त हुआ, जिसे कि उन्होंने धर्म-वात्सल्यसे प्रेरित होकर भव्य-जीवोंके हितार्थ रचा।[१] उक्त पूर्वानुपूर्वीके प्रकट

---

१. देखो प्रशस्ति।

करनेके लिए ग्रन्थकारने अपने इस ग्रन्थका नाम भी उपासकाध्ययन रक्खा, और सातवें अंगके समान ही ग्यारह प्रतिमाओंको आधार बनाकर श्रावक धर्मका प्रस्तुत ग्रन्थमें वर्णन किया।

यद्यपि इस ग्रन्थमें प्रायः श्रावकके सभी छोटे-मोटे कर्त्तव्योंका वर्णन किया गया है, तथापि सात व्यसनोंका और उनके सेवनसे प्राप्त होनेवाले चतुर्गति-सम्बन्धी महा दुःखोंका जिस प्रकार खूब विस्तारके साथ वर्णन किया गया है, उसी प्रकारसे दान, दान देनेके योग्य पात्र, दातार, देय पदार्थ, दानके भेद और दानके फलका; पंचमी, रोहिणी, अश्विनी आदि व्रत-विधानोंका, पूजनके छह भेदोंका और बिम्ब-प्रतिष्ठाका भी विस्तृत वर्णन किया गया है।

ग्रन्थ की भाषा सौरसेनी प्राकृत है जिसे कि प्रायः सभी दि० ग्रन्थकारोंने अपनाया है।

३—ग्रन्थका परिमाण

आचार्य वसुनन्दिने प्रस्तुत ग्रन्थका परिमाण प्रशस्तिकी अन्तिम गाथा द्वारा छह सौ पचास (६५०) सूचित किया है, मुद्रित प्रतिमें यह प्रमाण अनुष्टुप् श्लोकोंकी अपेक्षा कहा गया है। परन्तु प्रति-परिचय में जो पृष्ठ, प्रति पृष्ठ पंक्ति, और प्रतिपंक्ति-अक्षरसंख्या दी है, तदनुसार अधिकसे अधिक अक्षर-संख्यासे गणित करनेपर भी ग्रन्थका परिमाण छह सौ पचास श्लोक प्रमाण नहीं आता है। उक्त सर्व प्रतियोंका गणित इस प्रकार है :—

प्रति	पत्र	पंक्ति	अक्षर	योग	श्लोक प्रमाण
झ	३७ ×	१० ×	३५ =	१२९५० ÷ ३२ =	४०५
ध	४८ ×	६ ×	४१ =	११८०८ ÷ ३२ =	३६९
प	१४ ×	१५ ×	५६ =	११७६० ÷ ३२ =	३६७॥
ब	४१ ×	९ ×	३६ =	१३२८४ ÷ ३२ =	४१५

ऐसी दशामें स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि ग्रन्थकारने अपने ग्रन्थका स्वयं जो परिमाण दिया है, वह किस अपेक्षासे दिया है ? यह प्रश्न उस अवस्थामें और भी जटिल हो जाता है जब कि सभी प्रतियोंमें 'छच्चसया पण्णासुत्तराणि एयस्स गंथपरिमाणं' पाठ एक समान ही उपलब्ध है। यदि यह कल्पना की जाय, कि ग्रन्थकारने उक्त प्रमाण अपने ग्रन्थकी गाथा-संख्याओंके हिसाबसे दिया है सो भी नहीं बनता, क्योंकि किसी भी प्रतिके हिसाबसे गाथाओंका प्रमाण ६५० नहीं है, बल्कि **झ, ध, प** प्रतियोंके अनुसार गाथाओंकी संख्या ५४६ और **इ** तथा **ब** प्रतियोंके अनुसार ५४८ है। और विभिन्न प्रतियोंमें उपलब्ध प्रक्षिप्त गाथाओंको भी मिलाने पर वह संख्या अधिकसे अधिक ५५२ ही होती है।

मेरे विचारानुसार स्थूल मानसे एक गाथाको सवा श्लोक-प्रमाण मान करके ग्रन्थकारने समग्र ग्रन्थका परिमाण ६५० कहा है। संभवतः प्रशस्तिकी ८ गाथाओंको उसमें नहीं गिना गया है।

अब हम विभिन्न प्रतियोंमें पाई जानेवाली गाथाओंकी जाँच करके यह निर्णय करेंगे कि यथार्थमें उन गाथाओंकी संख्या कितनी है, जिन्हें कि आ० वसुनन्दिने स्वयं निबद्ध किया है ? इस निर्णयको करनेके पूर्व एक बात और भी जान लेना आवश्यक है, और वह यह कि स्वयं ग्रन्थकारने भावसंग्रहकी या अन्य ग्रन्थोंकी जिन गाथाओंको अपने ग्रन्थका अंग बना लिया है, उन्हें प्रस्तुत ग्रन्थ की ही मूल गाथाएँ मान लिया जाय, तब भी कितनी और प्रक्षिप्त गाथाओंका समावेश मूलमें हो गया है ? उक्त निर्णयके लिए हमें प्रत्येक प्रति-गत गाथाओंकी स्थितिका जानना आवश्यक है।

(१) **ध** और **प** प्रतियोंके अनुसार गाथाओंकी संख्या ५४६ है। इस परिमाणमें प्रशस्ति-सम्बन्धी ८ गाथाएँ भी सम्मिलित हैं। इन दोनों प्रतियोंमें अन्य प्रतियोंमें पाई जानेवाली कुछ गाथाएँ नहीं हैं; जिन पर यहाँ विचार किया जाता है :—

झ और **ब** प्रतियोंमें गाथा नं० १८१ के बाद निम्न दो गाथाएँ और भी पाई जाती हैं :—

तिरिएहिं खज्जमाणो दुट्ठमणुस्सेहिं हम्ममाणो वि ।
सव्वत्थ वि संतट्ठो भयदुक्खं विसहदे भीमं ॥
अण्णोण्णं खज्जंतो तिरिया पावंति दारुणं दुक्खं ।
माया वि जत्थ भक्खदि अण्णो को तत्थ राखेदि ॥

अर्थ-संगतिकी दृष्टिसे ये दोनों गाथाएँ प्रकरणके सर्वथा अनुरूप हैं। पर जब हम अन्य प्रतियोंको सामने रखकर उनपर विचार करते हैं, तब उन्हें संशोधनमें उपयुक्त पाँच प्रतियोंमेंसे तीन प्रतियोंमें नहीं पाते हैं। यहाँ तक कि बाबू सूरजभान वकील द्वारा वि० सं० १९६६ में मुद्रित प्रतिमें भी ये नहीं हैं। अतः बहुमतके अनुसार उन्हें प्रक्षिप्त मानना पड़ेगा।

अब देखना यह है कि ये दोनों गाथाएँ कहाँ की हैं और यहाँ पर वे कैसे आकर मूलग्रन्थका अंग बन गईं? ग्रन्थोंका अनुसन्धान करनेपर ये दोनों गाथाएँ हमें स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षामें मिलती हैं, जहाँ पर कि उनकी संख्या क्रमशः ४१ और ४२ है और वे उक्त प्रकरणमें यथास्थान सुसम्बद्ध हैं। ज्ञात होता है कि किसी स्वाध्यायप्रेमी पाठकने अपने अध्ययन की प्रतिमें प्रकरणके अनुरूप होनेसे उन्हें हाशियामें लिख लिया होगा और बादमें किसी लिपिकारके प्रमादसे वे मूलग्रन्थका अंग बन गईं।

(२) गाथा नं० २३० के पश्चात् आहार-सम्बन्धी चौदह दोषोंका निर्देश करनेवाली एक गाथा **झ ध ब** प्रतियोंमें पाई जाती है, और वह मुद्रित प्रतिमें भी है। पर **प** प्रतिमें वह नहीं है और प्रकरण-की स्थितिको देखते हुए वह वहाँ नहीं होना चाहिए। वह गाथा इस प्रकार है—

णह-जंतु-रोम-अट्ठी-कण-कुंडय-मंस-रुहिर चम्माइं ।
कंद-फल-मूल-बीया छिण्णमला चउद्दसा होंति ॥

यह गाथा मूलाराधना की है, और वहां पर ४८४ नं० पर पाई जाती है।

(३) मुद्रित प्रतिमें तथा झ और ब प्रतिमें गाथा नं० ५३७ के पश्चात् निम्नलिखित दो गाथाएँ अधिक पाई जाती हैं :—

मोहक्खएण सम्मं केवलणाणं हणेइ अण्णाणं ।
केवलदंसण दंसण अणंतविरियं च अंतराएण ॥
सुहुमं च णामकम्मं आउहणणेण हवइ अवगहणं ।
गोयं च अगुरुलहुयं अव्वाबाहं च वेयणीयं च ॥

इनमें यह बताया गया है कि सिद्धोंके किस कर्मके नाशसे कौन सा गुण प्रकट होता है। इसके पूर्व नं० ५३७ वीं गाथामें सिद्धोंके आठ गुणोंका उल्लेख किया गया है। किसी स्वाध्यायशील व्यक्तिने इन दोनों गाथाओंको प्रकरणके उपयोगी जानकर इन्हें भी मार्जनमें लिखा होगा और कालान्तरमें वे मूलका अंग बन गईं। यही बात चौदह मलवाली गाथाके लिए समझना चाहिए।

उक्त पाँच प्रक्षिप्त गाथाओंको हटा देने पर ग्रन्थकी गाथाओंका परिमाण ५३९ रह जाता है। पर इनके साथ ही सभी प्रतियोंमें प्रशस्तिकी ८ गाथाओंपर भी सिलसिलेवार नम्बर दिये हुए हैं अतः उन्हें भी जोड़ देनेपर ५३९ + ८ = ५४७ गाथाएँ प्रस्तुत ग्रन्थ की सिद्ध होती हैं। प्रस्तुत ग्रन्थकी गाथा नं० ५७ केवल क्रियापदके परिवर्तनके साथ अपने अविकल रूपमें २०५ नम्बर पर भी पाई जाती है। यदि इसे न गिना जाय तो ग्रन्थकी गाथा-संख्या ५४६ ही रह जाती है।

४—ग्रन्थकारका परिचय

आचार्य वसुनन्दिने अपने जन्मसे किस देशको पवित्र किया, किस जातिमें जन्म लिया, उनके माता-पिता का क्या नाम था? जिनदीक्षा कब ली और कितने वर्ष जीवित रहे, इन सब बातोंके जाननेके लिए हमारे

पास कोई साधन नहीं है। ग्रन्थके अन्तमें दी हुई उनकी प्रशस्तिसे केवल इतना ही पता चलता है कि श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकी परम्परामें श्रीनन्दिनामके एक आचार्य हुए। उनके शिष्य नयनन्दि और उनके शिष्य नेमिचन्द्र हुए। नेमिचन्द्रके प्रसादसे वसुनन्दिने यह उपासकाध्ययन बनाया। प्रशस्तिमें ग्रन्थ-रचनाकाल नहीं दिया गया है। पं० आशाधरजीने सागारधर्मामृतकी टीकाको वि० सं० १२९६ में समाप्त किया है। इस टीकामें उन्होंने आ० वसुनन्दिका अनेक बार आदरणीय शब्दोंके साथ उल्लेख किया है[1] और उनके इस उपासकाध्ययनकी गाथाओंको उद्धृत किया है[2]। अतः इनसे पूर्ववर्त्ती होना उनका स्वयंसिद्ध है। श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने 'पुरातन-वाक्य सूची' की प्रस्तावनामें और श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'जैन इतिहास'में वसुनन्दिका समय आ० अमितगतिके पश्चात् और पं० आशाधरजीसे पूर्व अर्थात् विक्रमकी बारहवीं शताब्दी निश्चित किया है। पर विशेष अनुसन्धानसे यह पता चलता है कि वसुनन्दिके दादागुरु श्रीनयनन्दिने विक्रम संवत् ११०० में 'सुदर्शनचरित' नामक अपभ्रंश भाषाके ग्रन्थको रचा है, अतएव आ० वसुनन्दिका समय बारहवीं शताब्दीका पूर्वार्ध निश्चित होता है।

वसुनन्दि नामके अनेक आचार्य हुए हैं। वसुनन्दिके नामसे प्रकाशमें आनेवाली रचनाओंमें आप्तमीमांसावृत्ति, जिनशतकटीका, मूलाचारवृत्ति, प्रतिष्ठासारसंग्रह और प्रस्तुत उपासकाध्ययन प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे अन्तिम दो ग्रन्थ तो स्वतंत्र रचनाएँ हैं और शेष सब टीका-ग्रन्थ हैं। यद्यपि अभी तक यह सुनिश्चित नहीं हो सका है कि आप्तमीमांसा आदिके वृत्ति-रचयिता और प्रतिष्ठापाठ तथा उपासकाध्ययनके निर्माता आचार्य वसुनन्दि एक ही व्यक्ति हैं, तथापि इन ग्रन्थोंके अन्तःपरीक्षणसे इतना तो अवश्य ज्ञात होता है कि आप्तमीमांसा-वृत्ति और जिनशतक-टीकाके रचयिता एक ही व्यक्ति होना चाहिए। इसी प्रकार प्रतिष्ठापाठ और प्रस्तुत उपासकाध्ययनके रचयिता भी एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं, क्योंकि प्रतिष्ठापाठके समान प्रस्तुत उपासकाध्ययनमें भी जिन-बिम्ब-प्रतिष्ठाका खूब विस्तारके साथ वर्णन करके भी अनेक स्थलोंपर प्रतिष्ठा शास्त्रके अनुसार विधि-विधान करनेकी प्रेरणा की गई है[2]। इन दोनों ग्रन्थोंकी रचनामें भी समानता पाई जाती है और जिन धूलीकलशाभिषेक, आकरशुद्धि आदि प्रतिष्ठा-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का यहाँ स्पष्टीकरण नहीं किया गया है, उनका प्रतिष्ठासंग्रहमें विस्तृत रूपसे वर्णन किया गया है। यहाँ एक बात खास तौर से जानने योग्य है कि प्रतिष्ठासंग्रहकी रचना संस्कृत-भाषामें है, जब कि प्रस्तुत उपासकाध्ययन प्राकृतमें रचा गया है। यह विशेषता वसुनन्दिकी उभय-भाषा-विज्ञता को प्रकट करती है तथा वसुनन्दिके लिए परवर्त्ती विद्वानों द्वारा प्रयुक्त 'सैद्धान्तिक' उपाधि भी मूलाचारवृत्तिके कर्तृत्वकी ओर संकेत करती है।

५—नयनन्दिका परिचय और वसुनन्दिका समय

आचार्य वसुनन्दिने आचार्य नयनन्दिको अपने दादागुरुरूपसे स्मरण किया है। नयनन्दि-रचित अपभ्रंशभाषाके दो ग्रन्थ—सुदर्शनचरित और सकल-विधि-विधान आमेरके शास्त्रभंडारमें उपलब्ध हैं। इनमेंसे सुदर्शनचरितके अन्तमें जो प्रशस्ति पाई जाती है, उससे प्रकट है कि उन्होंने उक्त ग्रन्थकी रचना विक्रम संवत् ११०० में धारा नरेश महाराज भोजदेवके समयमें पूर्ण की थी। सुदर्शनचरित की वह प्रशस्ति इस प्रकार है:—

जिणिंदस्स वीरस्स तित्थे वहंते, *महाकुंदकुंदण्णए* **एंतसंते।**
सुसिक्खाहिहाणो तहा *पोमणंदी,* **पुणो** *विसहणंदी* **तओ** *णंदणंदी* **॥**
जिणुदिट्ठ धम्मं धुराणं विसुद्धो, कयाणेयगंथो जयंते पसिद्धो।
भवं बोहि पोउं महीविस्स (ट्ठ) णंदी, खमाजुत्तसिद्धंतिओ *विसहणंदी* **॥**

१. देखो—सागारध० अ० ३ श्लो० १६ की टीका आदि। २. देखो उपासकाध्य० गाथा नं० ३९६,४१० इत्यादि।

जिणिंदागमब्भासणे एयचित्तो, तवायारणिट्ठाइ लद्धाइजुत्तो।
णरिंदामरिंदाहिवाणंदवंदी, हुओ तस्स सीसो गणी *रामणंदी* ॥
असेसाणगंथंमि पारंमि पत्तो, तवे अंगवी भव्वराईवमित्तो।
गुणावासभूवो सुतिल्लोक्कणंदी, महापंडि अंतस्य (ओ तस्स) *माणिक्कणंदी* ॥

घत्ता—

पढम सीसु तहो जायउ जगविक्खायउ मुणि *णयणंदी* अणिंदिउ।
चरिउं सुदंसणणाहहो तेण, अवाह हो विरइउं बुह अहिणंदिउं ॥

आराम-गाम-पुरवरणिवेस, सुपसिद्ध *अवंती* णाम देस।
सुरवइपुरिव्व विबुहयणइट्ठ, तहिं अत्थि धारणयरीगरिट्ठ ॥
रणिदुद्धर अरिवर-सेल-वज्जु, रिद्धिय देवासुर जणिय चोज्जु।
तिहुयणु णारायण सिरिणिकेउ, तहिं णरवइ पुंगमु *भोयदेउ* ॥
मणिगणपहदूसिय रविगभत्थि, तहिं जिणवर वद्धु विहारु अत्थि।
णिव विक्कमकालहो ववगएसु, एयारह संवच्छर सएसु।
तहिं केवलि चरिउं अमरच्छरेण, *णयणंदी* विरयउ वित्थरेण ॥

घत्ता—

णयणंदियहो मुणिंदहो कुवलयचंदहो णरदेवासुर वंदहो।
देउ देइ मइ णिम्मल भवियहं मंगल वाया जिणवर चंदहो ॥

उक्त प्रशस्तिसे यह बात तो निर्विवाद सिद्ध है कि वे धारा-नरेश महाराज भोजके समय विद्यमान थे, और विक्रम संवत् ११०० में उन्होंने सुदर्शनचरित की रचना पूर्ण की। पर साथ ही इस प्रशस्तिसे और भी अनेक बातोंपर नवीन प्रकाश पड़ता है जिनमेंसे एक यह है कि नयनन्दि सुप्रसिद्ध तार्किक एवं परीक्षामुख सूत्रकार **महापंडित माणिक्यनन्दिके** शिष्य थे—जब कि आचार्य वसुनन्दिने नयनन्दिको **'श्रीनन्दि'** का शिष्य कहा है। नयनन्दिने अपनी जो गुरुपरम्परा दी है, उसमें **'श्रीनन्दि'** नामके किसी आचार्यका नामोल्लेख नहीं है। हाँ, नन्दिपदान्तवाले अनेक नाम अवश्य मिलते हैं। यथा—रामनन्दि, विशाखनन्दि, नन्दनन्दि इत्यादि। नयनन्दिकी दी हुई गुरु-परम्परा में तो किसी प्रकारकी शंका या सन्देहको स्थान है ही नहीं, अतः प्रश्न यह उठता है कि आ० वसुनन्दिको नयनन्दि द्वारा दी गयी गुरुपरम्परामेंसे कौनसे **'नन्दि'** अभीष्ट हैं? मेरे विचारसे **'रामनन्दि'** के लिए ही आ० वसुनन्दिने 'श्रीनन्दि' लिखा है। क्योंकि जिन विशेषणोंसे नयनन्दिने रामनन्दिका स्मरण किया है, वे प्रायः वसुनन्दि द्वारा श्रीनन्दिके लिए दिये गये विशेषणोंसे मिलते-जुलते हैं।

यथा—(१) **जिणिंदागमब्भासणे एयचित्तो**—*नयनन्दि*
जो सिद्धंतंबुरासिं सुणयतरणिमासेज्ज लीलावतिण्णो।—*वसुनन्दि*
(२) **तवायारणिट्ठाइ लद्धाइजुत्तो, णरिंदामरिंदाहिवाणंदवंदी**—*नयनन्दि*
वण्णेउं कोसमत्थो सयलगुणगणं सेवियंतो वि लोए—*वसुनन्दि*

इस विषयमें अधिक ऊहापोह अप्रासंगिक होगा, पर इससे इतना तो निश्चित ही है कि नयनन्दिके शिष्य नेमिचन्द्र हुए और उनके शिष्य वसुनन्दि। वसुनन्दिने जिन शब्दोंमें अपने दादागुरुका प्रशंसापूर्वक उल्लेख किया है उससे ऐसा अवश्य ध्वनित होता है कि वे उनके सामने विद्यमान रहे हैं। यदि यह अनुमान ठीक हो, तो बारहवीं शताब्दिका प्रथम चरण वसुनन्दिका समय माना जा सकता है। यदि वे उनके सामने विद्यमान न भी रहे हों तो भी प्रशिष्यके नाते वसुनन्दिका काल बारहवीं शताब्दीका पूर्वार्ध ठहरता है।

६–उपासक या श्रावक

गृहस्थ व्रतीको उपासक, श्रावक, देशसंयमी, आगारी आदि नामोंसे पुकारा जाता है। यद्यपि साधारणतः ये सब पर्यायवाची नाम माने गये हैं, तथापि यौगिक दृष्टिसे उनके अर्थोंमें परस्पर कुछ विशेषता है। यहाँ क्रमशः उक्त नामोंके अर्थोंका विचार किया जाता है।

'उपासक' पदका अर्थ उपासना करनेवाला होता है। जो अपने अभीष्ट देवकी, गुरुकी, धर्मकी उपासना अर्थात् सेवा, वैयावृत्त्य और आराधना करता है, उसे उपासक कहते हैं। गृहस्थ मनुष्य वीतराग देवकी नित्य पूजा-उपासना करता है, निर्ग्रन्थ गुरुओंकी सेवा-वैयावृत्त्यमें नित्य तत्पर रहता है और सत्यार्थ धर्मकी आराधना करते हुए उसे यथाशक्ति धारण करता है, अतः उसे उपासक कहा जाता है।

'श्रावक' इस नाम की निरुक्ति इस प्रकार की गई है :—

'श्रन्ति पचन्ति तत्त्वार्थश्रद्धानं निष्ठां नयन्तीति श्राः,
तथा वपन्ति गुणवत्सप्तक्षेत्रेषु धनबीजानि निक्षिपन्तीति वाः,
तथा किरन्ति क्लिष्टकर्मरजो विक्षिपन्तीति काः।
ततः कर्मधारये श्रावका इति भवति'। **(अभिधान राजेन्द्र 'सावय' शब्द)**

इसका अभिप्राय यह है कि 'श्रावक' इस पद में तीन शब्द हैं। इनमें से 'श्रा' शब्द तो तत्त्वार्थ-श्रद्धान की सूचना करता है, 'व' शब्द सप्त धर्म-क्षेत्रों में धनरूप बीज बोने की प्रेरणा करता है और 'क' शब्द क्लिष्ट कर्म या महापापों को दूर करने का संकेत करता है। इस प्रकार कर्मधारय समास करने पर श्रावक यह नाम निष्पन्न हो जाता है।

कुछ विद्वानों ने श्रावक पद का इस प्रकार से भी अर्थ किया है :—

अभ्युपेतसम्यक्त्वः प्रतिपन्नाणुव्रतोऽपि प्रतिदिवसं यतिभ्यः
सकाशात्साधूनामागारिणां च सामाचारीं शृणोतीति श्रावकः।

—श्रावकधर्म प्र० गा० २

अर्थात् जो सम्यक्त्वी और अणुव्रती होने पर भी प्रतिदिन साधुओं से गृहस्थ और मुनियों के आचार-धर्म को सुने, वह श्रावक कहलाता है।

कुछ विद्वानों ने इसी अर्थ को और भी पल्लवित करके कहा है :—

श्रद्धालुतां श्राति शृणोति शासनं दीने वपेदाशु वृणोति दर्शनम्।
कृतत्वपुण्यानि करोति संयमं तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणाः॥

अर्थ—जो श्रद्धालु होकर जैन शासन को सुने, दीन जनों में अर्थ का वपन करे अर्थात् दान दे, सम्यग्दर्शन को वरण करे, सुकृत और पुण्य के कार्य करे, संयम का आचरण करे उसे विचक्षण जन श्रावक कहते हैं।

उपर्युक्त सर्व विवेचन का तात्पर्य यही है कि जो गुरुजनों से आत्म-हित की बात को सदा सावधान होकर सुने, वह श्रावक कहलाता है[1]।

---

१ परलोयहियं सम्मं जो जिणवयणं सुणेइ उवजुत्तो।
अइतिव्वकम्मविगमा सुक्कोसो सावगो एत्थ॥—पंचा० १ विव०
अवाप्तदृष्ट्यादिविशुद्धसम्पत्परं समाचारमनुप्रभातम्।
शृणोति यः साधुजनादतन्द्रस्तं श्रावकं प्राहुरमी जिनेन्द्राः॥
(अभिधान राजेन्द्र, 'सावय' शब्द)

अणुव्रतरूप देश संयम को धारण करने के कारण देशसंयमी या देशविरत कहते हैं। इसी का दूसरा नाम संयतासंयत भी है, क्योंकि यह स्थूल या त्रसहिंसा की अपेक्षा संयत है और सूक्ष्म या स्थावर हिंसा की अपेक्षा असंयत है। घर में रहता है, अतएव इसे गृहस्थ, सागार, गेही, गृही और गृहमेधी आदि नामों से भी पुकारते हैं। यहाँ पर 'गृह' शब्द उपलक्षण है, अतः जो पुत्र, स्त्री, मित्र, शरीर, भोग आदि से मोह छोड़ने में असमर्थ होने के कारण घर में रहता है उसे गृहस्थ आदि कहते हैं।

७—उपासकाध्ययन या श्रावकाचार

उपासक या श्रावक जनोंके आचार-धर्मके प्रतिपादन करनेवाले सूत्र, शास्त्र या ग्रन्थको उपासकाध्ययन-सूत्र, उपासकाचार या श्रावकाचार नामोंसे व्यवहार किया जाता है। द्वादशांग श्रुतके बारह अंगोंमें श्रावकोंके आचार-विचार का स्वतन्त्रतासे वर्णन करनेवाला सातवाँ अंग उपासकाध्ययन माना गया है। आचार्य वसुनन्दि ने भी अपने प्रस्तुत ग्रन्थका नाम उपासकाध्ययन ही दिया है, जैसा कि प्रशस्ति-गत ५४५ वीं गाथासे स्पष्ट है।

स्वामी समन्तभद्रने संस्कृत भाषामें सबसे पहले उक्त विषयका प्रतिपादन करनेवाला स्वतन्त्र ग्रन्थ रचा और उसका नाम 'रत्नकरण्डक' रक्खा। उसके टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्रने अपनी टीकामें और उसके प्रत्येक परिच्छेदके अन्तमें 'रत्नकरण्डकनाम्नि उपासकाध्ययने' वाक्यके द्वारा 'रत्नकरण्डकनामक उपासकाध्ययन' ऐसा लिखा है। इस उल्लेखसे भी यह सिद्ध है कि श्रावक-धर्मके प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रको सदासे उपासकाध्ययन ही कहा जाता रहा है। बहुत पीछे लोगोंने अपने बोलनेकी सुविधाके लिए श्रावकाचार नामका व्यवहार किया है।

आचार्य सोमदेवने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ यशस्तिलकके पांचवें आश्वासके अन्तमें 'उपासकाध्ययन' कहने की प्रतिज्ञा की है। यथा—

इयता ग्रन्थेन मया प्रोक्तं चरितं यशोधरनृपस्य।
इत उत्तरं तु वक्ष्ये श्रुतपठितमुपासकाध्ययनम्॥

अर्थात् इस पाँचवें आश्वास तक तो मैंने महाराज यशोधरका चरित कहा। अब इससे आगे द्वादशांग-श्रुत-पठित **उपासकाध्ययन** को कहूँगा।

दिगम्बर-परम्परामें श्रावक-धर्मका प्रतिपादन करनेवाले स्वतन्त्र ग्रन्थ इस प्रकार हैं:—रत्नकरण्डक, अमितगति-उपासकाचार, वसुनन्दि-उपासकाध्ययन, सागारधर्मामृत, धर्मसंग्रहश्रावकाचार, पूज्यपाद श्रावकाचार, गुणभूषणश्रावकाचार, लाटी-संहिता आदि। इसके अतिरिक्त स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षाकी धर्मभावनामें, तत्त्वार्थसूत्रके सातवें अध्यायमें, आदिपुराणके ३८, ३९, ४० वें पर्वमें, यशस्तिलकके ६, ७, ८ वें आश्वासमें, तथा भावसंग्रहमें भी श्रावकधर्मका विस्तारके साथ वर्णन किया गया है। श्वेताम्बर-परम्परामें उपासकदशासूत्र, श्रावकधर्मप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं।

८—श्रावकधर्म-प्रतिपादनके प्रकार

उपलब्ध जैन वाङ्मयमें श्रावक-धर्मका वर्णन तीन प्रकारसे पाया जाता है:—

१. ग्यारह प्रतिमाओंको आधार बनाकर।
२. बारह व्रत और मारणान्तिकी सल्लेखनाका उपदेश देकर।
३. पक्ष, चर्या और साधनका प्रतिपादन कर।

(१) उपर्युक्त तीनों प्रकारोंमें से प्रथम प्रकारके समर्थक या प्रतिपादक आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कार्त्तिकेय और वसुनन्दि आदि रहे हैं। इन्होंने अपने-अपने ग्रन्थोंमें ग्यारह प्रतिमाओंको आधार बनाकर ही

श्रावक-धर्म का वर्णन किया है। आ० कुन्दकुन्दने यद्यपि श्रावक-धर्मके प्रतिपादनके लिए कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ या पाहुडकी रचना नहीं की है, तथापि चारित्र-पाहुड में इस विषय का वर्णन उन्होंने छह गाथाओं द्वारा किया है। यह वर्णन अति संक्षिप्त होनेपर भी अपने-आपमें पूर्ण है और उसमें प्रथम प्रकारका स्पष्ट निर्देश किया गया है। स्वामी कार्त्तिकेयने भी श्रावक धर्मपर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं रचा है, पर उनके नामसे प्रसिद्ध 'अनुप्रेक्षा' में धर्मभावनाके भीतर श्रावक धर्मका वर्णन बहुत कुछ विस्तार के साथ किया है। इन्होंने भी बहुत स्पष्ट रूपसे सम्यग्दर्शन और ग्यारह प्रतिमाओंको आधार बनाकर ही श्रावक धर्मका वर्णन किया है। स्वामिकार्त्तिकेयके पश्चात् आ० वसुनन्दिने भी उक्त सरणिका अनुसरण किया। इन तीनों ही आचार्योंने न अष्ट मूल गुणोंका वर्णन किया है और न बारह व्रतोंके अतीचारोंका ही। प्रथम प्रकारका अनुसरण करनेवाले आचार्योंमें से स्वामिकार्त्तिकेयको छोड़कर शेष सभीने सल्लेखनाको चौथा शिक्षाव्रत माना है।

उक्त तीनों प्रकारोंमेंसे यह प्रथम प्रकार ही आद्य या प्राचीन प्रतीत होता है, क्योंकि धवला और जयधवला टीकामें आ० वीरसेनने उपासकाध्ययन नामक अंगका स्वरूप इस प्रकार दिया है—

१—उवासयज्झयणं णाम अंगं एक्कारस लक्ख-सत्तरि सहस्स पदेहिं ११७०००० पदेहिं 'दंसण वद'.......इदि एक्कारसविहउवासगाणं लक्खणं तेसिं च वदारोवण-विहाणं तेसिमाचरणं च वण्णेदि। (षट्खंडागम भा० १, पृ० १०२)

२—उवासयज्झयणं णाम अंगं दंसण-वय-सामाइय-पोसहोववास-सचित्त-रायिभत्त बंभारंभपरिग्गहाणु-मणुद्दिट्ठणामाणमेकारसण्हमुवासयाणं धम्ममेक्कारसविहं वण्णेदि। (कसायपाहुड भा० १ पृ० १३०)

अर्थात् उपासकाध्ययननामा सातवाँ अंग दर्शन, व्रत, सामायिक आदि ग्यारह प्रकारके उपासकोंका लक्षण, व्रतारोपण आदिका वर्णन करता है।

स्वामिकार्त्तिकेय के पश्चात् ग्यारह प्रतिमाओं को आधार बनाकर श्रावक-धर्म का प्रतिपादन करनेवाले आ० वसुनन्दि हैं। इन्होंने अपने उपासकाध्ययन में उसी परिपाटी का अनुसरण किया है, जिसे कि आ० कुन्दकुन्द और स्वामिकार्त्तिकेय ने अपनाया है।

स्वामिकार्त्तिकेय ने सम्यक्त्व की विस्तृत महिमा के पश्चात् ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर बारह व्रतों का स्वरूप निरूपण किया है। पर वसुनन्दि ने प्रारम्भ में सात व्यसनों का और उनके दुष्फलों का खूब विस्तार से वर्णन कर मध्य में बारह व्रत और ग्यारह प्रतिमाओं का, तथा अन्त में विनय, वैयावृत्त्य, पूजा, प्रतिष्ठा और दान का वर्णन भी खूब विस्तार से किया है। इस प्रकार प्रथम प्रकार प्रतिपादन करनेवालों में तदनुसार श्रावक धर्म का प्रतिपादन क्रम से विकसित होता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

(२) द्वितीय प्रकार अर्थात् बारह व्रतोंको आधार बनाकर श्रावकधर्मका प्रतिपादन करनेवाले आचार्योंमें उमास्वाति और समन्तभद्र प्रधान हैं। आ० उमास्वातिने अपने तत्त्वार्थसूत्रके सातवें अध्यायमें श्रावक-धर्मका वर्णन किया है। इन्होंने व्रतीके आगारी और अनगारी भेद करके अणुव्रतधारीको आगारी बताया और उसे तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत रूप सप्त शीलसे सम्पन्न कहा[1]। आ० उमास्वातिने ही सर्वप्रथम बारह व्रतोंके पाँच-पाँच अतीचारोंका वर्णन किया है। तत्त्वार्थसूत्रकारने अतीचारोंका यह वर्णन कहाँसे किया, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इसके निर्णयार्थ जब हम वर्तमानमें उपलब्ध समस्त दि० श्वे० जैन वाङ्मयका अवगाहन करते हैं, तब हमारी दृष्टि उपासकदशा-सूत्र पर अटकती है। यद्यपि वर्तमानमें उपलब्ध यह सूत्र तीसरी वाचनाके बाद लिपि-बद्ध हुआ है, तथापि उसका आदि स्रोत तो श्वे० मान्यताके अनुसार भ० महावीरकी वाणीसे ही माना जाता है। जो हो, चाहे अतीचारोंके विषयमें उमास्वातिने उपासकदशासूत्रका अनुसरण किया हो और चाहे उपासकदशासूत्रकारने तत्त्वार्थसूत्रका, पर इतना निश्चित है कि दि० परम्परामें उमास्वातिसे पूर्व अतीचारोंका वर्णन किसीने नहीं किया।

१ देखो तत्त्वार्थ० अ० ७, सू० १८–२१.

तत्त्वार्थसूत्र और उपासकदशासूत्रमें एक समता और पाई जाती है और वह है मूलगुणोंके न वर्णन करनेकी। दोनों ही सूत्रकारोंने आठ मूलगुणोंका कोई वर्णन नहीं किया है। यदि कहा जाय कि तत्त्वार्थसूत्रकी संक्षिप्त रचना होनेसे अष्टमूलगुणोंका वर्णन न किया गया होगा, सो माना नहीं जा सकता। क्योंकि जब सूत्रकार एक-एक व्रतके अतीचार बतानेके लिए पृथक्-पृथक् सूत्र बना सकते थे, अहिंसादि व्रतोंकी भावनाओंका भी पृथक्-पृथक् वर्णन कर सकते थे, तो क्या अष्टमूलगुणोंके लिए एक भी सूत्रको स्थान नहीं दे सकते थे? यह एक विचारणीय प्रश्न है। इसके साथ ही सूत्रकारने श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओं का भी कोई निर्देश नहीं किया? यह भी एक दूसरा विचारणीय प्रश्न है।

तत्त्वार्थसूत्र से उपासकदशासूत्र में इतनी बात अवश्य विशेष पाई जाती है कि उसमें ग्यारह प्रतिमाओं का जिक्र किया गया है। पर कुन्दकुन्द या स्वामिकार्त्तिकेय के समान उन्हें आधार बनाकर श्रावक-धर्म का वर्णन न करके एक नवीन ही रूप वहाँ दृष्टिगोचर होता है। वह इस प्रकार है :—

आनन्द नामक एक बड़ा धनी सेठ भ० महावीर के पास जाकर विनयपूर्वक निवेदन करता है कि भगवन्, मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन की श्रद्धा करता हूँ, प्रतीति करता हूँ और वह मुझे सर्व प्रकार से अभीष्ट एवं प्रिय भी है। भगवान् के दिव्य-सान्निध्य में जिस प्रकार अनेक राजे-महाराजे और धनाढ्य पुरुष प्रव्रजित होकर धर्म-साधन कर रहे हैं, उस प्रकार से मैं प्रव्रजित होने के लिए अपने को असमर्थ पाता हूँ। अतएव भगवन्, मैं आपके पास पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म को स्वीकार करना चाहता हूँ।[1] इसके अनन्तर उसने क्रमशः एक-एक पाप का स्थूल रूप से प्रत्याख्यान करते हुए पाँच अणुव्रत ग्रहण किये और दिशा आदि का परिमाण करते हुए सात शिक्षाव्रतों को ग्रहण किया। तत्पश्चात् उसने घर में रहकर बारह व्रतों का पालन करते हुए चौदह वर्ष व्यतीत किये। पन्द्रहवें वर्ष के प्रारम्भ में उसे विचार उत्पन्न हुआ कि मैंने जीवन का बड़ा भाग गृहस्थी के जंजाल में फँसे हुए निकाल दिया है। अब जीवन का तीसरा पन है, क्यों न गृहस्थी के संकल्प-विकल्पों से दूर होकर और भ० महावीर के पास जाकर मैं जीवन का अवशिष्ट समय धर्म-साधन में व्यतीत करूँ? ऐसा विचार कर उसने जातिके लोगोंको आमन्त्रित करके उनके सामने अपने ज्येष्ठ पुत्रको गृहस्थीका सर्व भार सौंप कर सबसे बिदा ली और भ० महावीरके पास जाकर उपासकोंकी 'दंसणपडिमा' आदिका यथाविधि पालन करते हुये विहार करने लगा। एक एक 'पडिमा' को उस उस प्रतिमाकी संख्यानुसार उतने उतने मास पालन करते हुए आनन्द श्रावकने ग्यारह पडिमाओंके पालन करनेमें ६६ मास अर्थात् ५।। वर्ष व्यतीत किये। तपस्यासे अपने शरीरको अत्यन्त कृश कर डाला। अन्तमें भक्त-प्रत्याख्यान नामक संन्यासको धारण कर समाधिमरण किया और शुभ परिणाम वा शुभ लेश्याके योगसे सौधर्म स्वर्गमें चार पल्योपमकी स्थितिका धारक महर्द्धिक देव उत्पन्न हुआ[2]।

इस कथानकसे यह बात स्पष्ट है कि जो सीधा मुनि बननेमें असमर्थ है, वह श्रावकधर्म धारण करे और घरमें रहकर उसका पालन करता रहे। जब वह घरसे उदासीनताका अनुभव करने लगे और देखे कि अब मेरा शरीर दिन-प्रतिदिन क्षीण हो रहा है और इन्द्रियोंकी शक्ति घट रही है, तब घरका भार बड़े पुत्रको सँभलवाकर और किसी गुरु आदिके समीप जाकर क्रमशः ग्यारह प्रतिमाओंका नियत अवधि तक अभ्यास करते हुए अन्तमें या तो मुनि बन जाय, या संन्यास धारण कर आत्मार्थको सिद्ध करे।

---

१ सद्दहामि णं भंते, णिग्गंथं पावयणं; पत्तियामि णं भंते, णिग्गंथं पावयणं; रोएमि णं भंते, णिग्गंथं पावयणं। एवमेयं भंते, तहमेयं भंते, अवितहमेयं भंते, इच्छियमेयं भंते, पडिच्छियमेयं भंते, इच्छिय-पडिच्छियमेयं भंते, से जहेयं तुब्भे वयह त्ति कट्टु जहा णं देवाणुप्पियाणं अन्तिए बहवे राईसर-तलवर-मांडविक-कोडुम्बिय-सेट्ठि-सत्थवाहप्पभिइया मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइया; नो खलु अहं तहा संचाएमि मुंडे जाव पव्वइत्तए। अहं णं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जस्सामि। उपासकदशासूत्र अ० १, सू० १२.

२ देखो उपासकदशा सूत्र, अध्ययन १ का अन्तिम भाग।

तत्त्वार्थ-सूत्रमें यद्यपि ऐसी कोई सीधी बात नहीं कही गई है, पर सातवें अध्यायका गम्भीर अध्ययन करने पर निम्न सूत्रोंसे उक्त कथनकी पुष्टिका संकेत अवश्य प्राप्त होता है। वे सूत्र इस प्रकार हैं:—

अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥ दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ॥२१॥ मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥२२॥ तत्त्वार्थसूत्र, अ० ७।

इनमेंसे प्रथम सूत्रमें बताया गया है कि अगारी या गृहस्थ पंच अणुव्रतका धारी होता है। दूसरे सूत्रमें बताया गया है कि वह दिग्व्रत आदि सात व्रतोंसे सम्पन्न भी होता है। तीसरे सूत्रमें बताया गया है कि वह जीवनके अन्तमें मारणान्तिकी सल्लेखना को प्रेमपूर्वक धारण करे।

यहाँ पर श्रावकधर्मका अभ्यास कर लेनेके पश्चात् मुनि बननेकी प्रेरणा या देशना न करके सल्लेखनाको धारण करनेका ही उपदेश क्यों दिया! इस प्रश्नका स्पष्ट उत्तर यही है कि जो समर्थ है और गृहस्थीसे मोह छोड़ सकता है, वह तो पहले ही मुनि बन जाय। पर जो ऐसा करनेके लिए असमर्थ है, वह जीवन-पर्यन्त बारह व्रतोंका पालन कर अन्तमें संन्यास या समाधिपूर्वक शरीर त्याग करे।

इस संन्यासका धारण सहसा हो नहीं सकता, घरसे, देहसे और भोगोंसे ममत्व भी एकदम छूट नहीं सकता; अतएव उसे क्रम-क्रमसे कम करनेके लिए ग्यारह प्रतिमाओंकी भूमिका तैयार की गई प्रतीत होती है, जिसमें प्रवेश कर वह सांसारिक भोगोपभोगोंसे तथा अपने देहसे भी लालसा, तृष्णा, गृद्धि, आसक्ति और स्नेहको क्रमशः छोड़ता और आत्मिक शक्तिको बढ़ाता हुआ उस दशाको सहजमें ही प्राप्त कर लेता है, जिसे चाहे साधु-मर्यादा कहिये और चाहे सल्लेखना। यहाँ यह आशंका व्यर्थ है कि दोनों वस्तुएँ भिन्न हैं, उन्हें एक क्यों किया जा रहा है? इसका उत्तर यही है कि भक्त-प्रत्याख्यान समाधिमरणका उत्कृष्ट काल बारह वर्षका माना गया है, जिसमें ग्यारहवीं प्रतिमाके पश्चात् संन्यास स्वीकार करते हुए पाँच महाव्रतोंको धारण करने पर वह साक्षात् मुनि बन ही जाता है।

तत्त्वार्थसूत्र और उपासकदशासूत्रके वर्णनसे निकाले गये उक्त मथितार्थकी पुष्टि स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्ड-श्रावकाचारसे भी होती है। जिन्होंने कुछ भी मननके साथ रत्नकरण्डकका अध्ययन किया है, उनसे यह अविदित नहीं है कि कितने अच्छे प्रकारसे आचार्य समन्तभद्रने यह प्रतिपादन किया है कि श्रावक बारह व्रतोंका विधिवत् पालन करके अन्तमें उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा, रोग आदि निष्प्रतीकार आपत्तिके आ जाने पर अपने धर्मकी रक्षाके लिए सल्लेखनाको धारण करे[1]। सल्लेखनाका क्रम और उसके फलको अनेक श्लोकों द्वारा बतलाते हुए उन्होंने अन्तमें बताया है कि इस सल्लेखनाके द्वारा वह दुस्तर संसार-सागरको पार करके परम निःश्रेयस—मोक्ष—को प्राप्त कर लेता है, जहाँ न कोई दुःख है, न रोग, चिन्ता, जन्म, जरा, मरण, भय, शोक आदिक। जहाँ रहनेवाले अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख-आनन्द, परम सन्तोष आदिका अनन्त काल तक अनुभव करते रहते हैं। इस समग्र प्रकरणको और खास करके उसके अन्तिम श्लोकोंको देखते हुए एक बार ऐसा प्रतीत होता है मानों ग्रन्थकार अपने ग्रन्थका उपसंहार करके उसे पूर्ण कर रहे हैं। इसके पश्चात् अर्थात् ग्रन्थके सबसे अन्तमें एक स्वतन्त्र अध्याय बनाकर एक-एक श्लोकमें श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओंका स्वरूप वर्णनकर ग्रन्थको समाप्त किया गया है। श्रावक-धर्मका अन्तिम कर्त्तव्य समाधिमरणका सांगोपांग वर्णन करनेके पश्चात् अन्तमें ग्यारह प्रतिमाओंका वर्णन करना सचमुच एक पहेली-सी प्रतीत होती है और पाठकके हृदयमें एक आशंका उत्पन्न करती है कि जब समन्तभद्रसे पूर्ववर्त्ती कुन्दकुन्द आदि आचार्योंने ग्यारह प्रतिमाओंको आधार बनाकर श्रावक-धर्मका वर्णन किया, तब समन्तभद्रने वैसा क्यों नहीं किया? और क्यों ग्रन्थके अन्तमें उनका वर्णन किया?

१ **उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥१२२॥—रत्नकरण्ड श्रावकाचार**

(३) श्रावक धर्मके प्रतिपादनका तीसरा प्रकार पक्ष, चर्या और साधनका निरूपण है। इस मार्गके प्रतिपादन करनेवालोंमें हम सर्वप्रथम आचार्य जिनसेनको पाते हैं। आ० जिनसेनने यद्यपि श्रावकाचार पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं रचा है, तथापि उन्होंने अपनी सबसे बड़ी कृति महापुराणके ३९-४० और ४१ वें पर्व में श्रावक धर्मका वर्णन करते हुए ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति, उनके लिए व्रत-विधान, नाना क्रियाओं और उनके मन्त्रादिकोंका खूब विस्तृत वर्णन किया है। वहीं पर उन्होंने पक्ष, चर्या और साधनरूपसे श्रावक-धर्मका निरूपण इस प्रकारसे किया है :—

स्यादारेका च षट्कर्मजीविनां गृहमेधिनाम्।
हिंसादोषोऽनुसंगी स्याज्जैनानां च द्विजन्मनाम् ॥१४३॥
इत्यत्र ब्रूमहे सत्यमल्पसावद्यसंगतिः।
तत्रास्त्येव तथाप्येषां स्याच्छुद्धिः शास्त्रदर्शिता ॥१४४॥
अपि चैषां विशुद्ध्यंगं पक्षश्चर्या च साधनम्।
इति त्रितयमस्त्येव तदिदानीं विवृण्महे ॥१४५॥
तत्र पक्षो हि जैनानां कृत्स्नहिंसाविवर्जनम्।
मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यैरुपबृंहितम् ॥१४६॥
चर्या तु देवतार्थं वा मंत्रसिद्ध्यर्थमेव वा।
औषधाहारक्लृप्त्यै वा न हिंस्यामीति चेष्टितम् ॥१४७॥
तत्राकामकृते शुद्धिः प्रायश्चित्तैर्विधीयते।
पश्चाच्चात्मान्वयं सूनौ व्यवस्थाप्य गृहोज्झनम् ॥१४८॥
चर्यैषा गृहिणां प्रोक्ता जीवितान्ते तु साधनम्।
देहाहारेहितत्यागाद् ध्यानशुद्ध्याऽऽत्मशोधनम् ॥१४९॥
त्रिष्वेतेषु न संस्पर्शो वधेनार्हद्-द्विजन्मनाम्।
इत्यात्मपक्षनिक्षिप्तदोषाणां स्यान्निराकृतिः ॥१५०॥

—आदिपुराण पर्व ३९

अर्थात् यहाँ यह आशंका की गई है कि जो षट्कर्मजीवी द्विजन्मा जैनी गृहस्थ हैं, उनके भी हिंसा दोष का प्रसंग होगा? इसका उत्तर दिया गया है कि हाँ, गृहस्थ अल्प सावद्य का भागी तो होता है, पर शास्त्र में उसकी शुद्धि भी बतलाई गई है। उस शुद्धि के तीन प्रकार हैं :—पक्ष, चर्या और साधन। इनका अर्थ इस प्रकार है—समस्त हिंसा का त्याग करना ही जैनों का पक्ष है। उनका यह पक्ष मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्यरूप चार भावनाओं से वृद्धिंगत रहता है। देवता की आराधना के लिए, या मंत्र की सिद्धि के लिए, औषधि या आहार के लिए मैं कभी किसी भी प्राणी को नहीं मारूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा को चर्या कहते हैं। इस प्रतिज्ञा में यदि कभी कोई दोष लग जाय, तो प्रायश्चित्त के द्वारा उसकी शुद्धि बताई गई है। पश्चात् अपने सब कुटुम्ब और गृहस्थाश्रम का भार पुत्रपर डालकर घर का त्याग कर देना चाहिए। यह गृहस्थों की चर्या कही गई है। अब साधनको कहते हैं—जीवनके अन्तमें अर्थात् मरणके समय शरीर, आहार और सर्व इच्छाओंका परित्याग करके ध्यानकी शुद्धि द्वारा आत्माके शुद्ध करनेको साधन कहते हैं। अर्हद्देवके अनुयायी द्विजन्मा जैनोंको इन पक्ष, चर्या और साधनका साधन करते हुए हिंसादि पापोंका स्पर्श भी नहीं होता है और इस प्रकार ऊपर जो आशंका की गई थी, उसका परिहार हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचनका निष्कर्ष यह है कि जिसे अर्हद्देवका पक्ष हो, जो जिनेन्द्रके सिवाय किसी अन्य देवको, निर्ग्रन्थ गुरुके अतिरिक्त किसी अन्य गुरुको और जैनधर्मके सिवाय किसी अन्य धर्मको न माने, जैनत्वका ऐसा दृढ़ पक्ष रखनेवाले व्यक्तिको पाक्षिक श्रावक कहते हैं। इसका आत्मा मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और

माध्यस्थ्यभावनासे सुवासित होना ही चाहिये[1]। जो देव, धर्म, मन्त्र, औषधि, आहार आदि किसी भी कार्यके लिए जीवघात नहीं करता, न्यायपूर्वक आजीविका करता हुआ श्रावकके बारह व्रतोंका और ग्यारह प्रतिमाओंका आचरण करता है, उसे चर्याका आचरण करनेवाला नैष्ठिक श्रावक कहते हैं[2]। जो जीवनके अन्तमें देह, आहार आदि सर्व विषय-कषाय और आरम्भको छोड़कर परम समाधिका साधन करता है, उसे साधक[3] श्रावक कहते हैं। आ० जिनसेनके पश्चात् पं० आशाधरजीने, तथा अन्य विद्वानोंने इन तीनोंको ही आधार बनाकर सागार-धर्मका प्रतिपादन किया है।

६—वसुनन्दि-श्रावकाचारकी विशेषताएँ

वसुनन्दिके प्रस्तुत उपासकाध्ययन का अन्तः अवगाहन करने पर कई विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं और उनपर विचार करनेसे अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं :—

१—जब कि आ० वसुनन्दिके सामने समन्तभद्रका रत्नकरण्डक, जिनसेनका आदिपुराण, सोमदेवका उपासकाध्ययन और अमितगतिका श्रावकाचार आदि श्रावकधर्मका वर्णन करनेवाला विस्तृत साहित्य उपस्थित था, तो फिर इन्हें एक और स्वतन्त्र श्रावकाचार रचनेकी आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई ?

२—जब कि विक्रमकी पहिली-दूसरी शताब्दीसे प्रायः जैन-साहित्य संस्कृत भाषामें रचा जाने लगा और ११ वीं १२ वीं शताब्दीमें तो संस्कृत भाषामें जैन-साहित्यका निर्माण प्रचुरतासे हो रहा था; तब इन्होंने प्रस्तुत उपासकाध्ययनको प्राकृत भाषामें क्यों रचा ? खासकर उस दशामें, जब कि वे अनेक ग्रन्थोंके संस्कृत-टीकाकार थे। तथा स्वयं भी प्रतिष्ठा-पाठका निर्माण संस्कृत भाषामें ही किया है !

३—जब कि आ० वसुनन्दिके सामने स्वामी समन्तभद्रका रत्नकरण्डक विद्यमान था और जिसकी कि सरणिका प्रायः सभी परवर्ती श्रावकाचार-रचयिताओंने अनुसरण किया है, तब इन्होंने उस सरणिको छोड़कर ११ प्रतिमाओंको आधार बनाकर एक नई दिशासे क्यों वर्णन किया ?

४—जब कि वसुनन्दिके पूर्ववर्ती प्रायः सभी श्रावकाचार-रचयिताओंने १२ व्रतोंके वर्णन करनेके पूर्व आठ मूलगुणोंका वर्णन किया है, तब इन्होंने आठ मूलगुणोंका नामोल्लेख तक भी क्यों नहीं किया ?

५—जब कि उमास्वाति और समन्तभद्रसे लेकर वसुनन्दिके पूर्ववर्ती सभी आचार्योंने १२ व्रतोंके अतीचारोंका प्रतिपादन किया है, तब इन्होंने उन्हें सर्वथा क्यों छोड़ दिया ? यहाँ तक कि 'अतीचार' शब्द भी समग्र ग्रन्थमें कहीं भी प्रयुक्त नहीं किया ?

१—स्यान्मैत्र्याद्युपबृंहितोऽखिलवधत्यागो न हिंस्यामहं,
धर्माद्यर्थमितीह पक्ष उदितं दोषं विशोध्योज्झतः।
सूनौ न्यस्य निजान्वयं गृहमथो चर्या भवेत्साधनम्,
त्वन्तेऽन्नेहतनूज्झनाद्विशदया ध्यात्याऽऽत्मनः शोधनम् ॥१९॥
पाक्षिकादिभिदा त्रेधा श्रावकस्तत्र पाक्षिकः।
तद्धर्मगृह्यस्तन्निष्ठो नैष्ठिकः साधकः स्वयुक् ॥२०॥
—सागारधर्मामृत अ० १

२—देशयमघ्नकषायक्षयोपशमतारतम्यवशतः स्यात्।
दर्शनिकाद्येकादशदशावशो नैष्ठिकः सुलेश्यतरः ॥१॥
—सागारध० अ० ३

३—देहाहारेहितत्यागाद् ध्यानशुद्धयाऽऽत्मशोधनम्।
यो जीवितान्ते सम्प्रीतः साधयत्येष साधकः ॥१॥
—सागारध० अ० ८

ये कुछ मुख्य प्रश्न हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य विशेषताएँ भी पाई जाती हैं जो कि इस प्रकार हैं :—

१—पूर्व-परम्परा को छोड़कर नई दिशासे ब्रह्मचर्याणुव्रत, देशव्रत और अनर्थदण्ड-विरति के स्वरूप का वर्णन करना।

२—भोगोपभोग-परिमाण नामक एक ही शिक्षाव्रत का भोगविरति और उपभोगविरति नाम से दो शिक्षाव्रतों का प्रतिपादन करना।

३—सल्लेखना को शिक्षाव्रतों में कहना।

४—छठी प्रतिमाका नाम 'रात्रिभुक्तित्याग' रखने पर भी स्वरूप-निरूपण 'दिवा मैथुनत्याग' रूप में करना।

५—ग्यारहवीं प्रतिमा के दो भेदों का निरूपण करना। तथा प्रथम भेदवाले उत्कृष्ट श्रावक को पात्र लेकर व अनेक घरों से भिक्षा माँग एक जगह बैठकर आहार लेने का विधान करना।

अब यहाँ प्रथम मुख्य प्रश्नों पर क्रमशः विचार किया जाता है :—

१—प्रत्येक ग्रन्थकार अपने समय के लिए आवश्यक एवं उपयोगी साहित्य का निर्माण करता है। आ० वसुनन्दि के सामने यद्यपि अनेक श्रावकाचार विद्यमान थे, तथापि उनके द्वारा वह बुराई दूर नहीं होती थी, जो कि तात्कालिक समाज एवं राष्ट्रमें प्रवेश कर गई थी। दूसरे जिन शुभ प्रवृत्तियों की उस समय अत्यन्त आवश्यकता थी, उनका भी प्रचार या उपदेश उन श्रावकाचारोंसे नहीं होता था। इन्हीं दोनों प्रधान कारणों से उन्हें स्वतंत्र ग्रन्थ के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई। सदाचारके स्वरूपमें कहा गया है कि—

'असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं'। द्रव्य सं०, गा० ४५

अर्थात् अशुभ कार्यों से निवृत्ति और शुभ कार्यों में प्रवृत्ति को सम्यक् चारित्र कहते हैं। श्रावकों के मूलगुणों और उत्तरगुणों में भी यही उद्देश्य अन्तर्निहित है। मूलगुण असदाचार की निवृत्ति कराते हैं और उत्तरगुण सदाचार में प्रवृत्ति कराते हैं। वसुनन्दि के समय में सारे देश में सप्त व्यसनों के सेवन का अत्यधिक प्रचार प्रतीत होता है। और प्रतीत होता है सर्वसाधारण के व्यसनों में निरत रहने के कारण दान, पूजन आदि श्रावक क्रियाओंका अभाव भी। साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि उस समय जिनबिम्ब, जिनालय आदि भी नगण्य-जैसे ही थे। श्रावकोंकी संख्याके अनुपातसे वे नहीं के बराबर थे। यही कारण है कि वसुनन्दि को तात्कालिक परिस्थितियों से प्रेरित होकर अपने समय के कदाचार को दूर करने और सदाचार के प्रचार करने का उपदेश देने की आवश्यकता का अनुभव हुआ और उन्होंने इसके लिए एक स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना की। यह बात उनके सप्त व्यसन और प्रतिमा-निर्माण आदि के विस्तृत वर्णन से भली भाँति सिद्ध है[1]।

२—यह ठीक है कि उमास्वाति के समय से जैन साहित्य का निर्माण संस्कृत भाषा में प्रारंभ हो गया था और ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में तो वह प्रचुरता से हो रहा था, फिर भी संस्कृत भाषा लोकभाषा—सर्वसाधारण के बोलचाल की भाषा—नहीं बन सकी थी। उस समय सर्वसाधारण में जो भाषा बोली जाती थी वह प्राकृत या अपभ्रंश ही थी। जो कि पीछे जाकर हिन्दी, गुजराती, महाराष्ट्री आदि प्रान्तीय भाषाओं के रूप में परिवर्तित हो गई। भगवान् महावीर ने अपना दिव्य उपदेश भी लोकभाषा अर्धमागधी प्राकृत में दिया था। उनके निर्वाण के पश्चात् सैकड़ों वर्षों तक जैन ग्रन्थों का निर्माण भी उसी लोकभाषा में ही होता रहा। प्राकृत या लोक-भाषा में ग्रन्थ-निर्माण का उद्देश्य सर्वसाधारण तक धर्म का उपदेश पहुँचाना था। जैसा कि कहा गया है :—

१—प्रस्तुत ग्रन्थमें व्यसनोंका वर्णन १४८ गाथाओंमें किया गया है, जब कि समग्र ग्रन्थमें कुल गाथाएँ ५४६ ही हैं। इसी प्रकार जिनप्रतिमा-प्रतिष्ठा और पूजनका वर्णन भी ११४ गाथाओंमें किया गया है। दोनों वर्णन ग्रन्थका लगभग आधा भाग रोकते हैं।—संपादक.

बाल-स्त्री-मन्द-मूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम् ।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृते कृतः ॥

अर्थात् बालक, स्त्री, मूर्ख, मन्दज्ञानी, पर चारित्र धारण करनेकी आकांक्षा रखनेवाले सर्वसाधारण जनोंके अनुग्रहके लिए तत्त्वज्ञानी महर्षियोंने सिद्धान्त-ग्रन्थोंका निर्माण प्राकृत भाषामें किया है ।

आ० वसुनन्दिको भी अपना उपदेश सर्वसाधारण तक पहुँचाना अभीष्ट था ; क्योंकि साधारण जनता ही सप्त व्यसनोंके गर्तमें पड़ी हुई विनाश की ओर अग्रसर हो रही थी और अपना कर्त्तव्य एवं गन्तव्य मार्ग भूली हुई थी । उसे सुमार्ग पर लानेके लिए लोकभाषामें उपदेश देनेकी अत्यन्त आवश्यकता थी । यही कारण है कि अपने सामने संस्कृतका विशाल-साहित्य देखते हुए भी उन्होंने लोककल्याणकी भावनासे प्रेरित होकर अपनी प्रस्तुत रचना प्राकृत भाषामें की ।

३—आचार्य वसुनन्दिने समन्तभद्र-प्रतिपादित सरणिका अनुसरण न करते हुए और प्रतिमाओंको आधार बनाकर एक नवीन दिशासे क्यों वर्णन किया, यह एक जटिल प्रश्न है । प्रस्तावनाके प्रारंभमें श्रावक धर्मके जिन तीन प्रतिपादन-प्रकारोंका जिक्र किया गया है, संभवतः वसुनन्दिको उनमेंसे प्रथम प्रकार ही प्राचीन प्रतीत हुआ और उन्होंने उसीका अनुसरण किया हो । अतः उनके द्वारा श्रावकधर्मका प्रतिपादन नवीन दिशासे नहीं, अपितु प्राचीन पद्धतिसे किया गया जानना चाहिए । आ० वसुनन्दिने स्वयं अपनेको कुन्दकुन्दाचार्यकी परम्पराका अनुयायी बतलाया है । अतएव इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं जो इसी कारणसे उन्होंने कुन्दकुन्द-प्रतिपादित ग्यारह प्रतिमारूप सरणिका अनुसरण किया हो । इसके अतिरिक्त वसुनन्दिने आ० कुन्दकुन्दके समान ही सल्लेखनाको चतुर्थ शिक्षाव्रत माना है जो कि उक्त कथनकी पुष्टि करता है । दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि वसुनन्दिने प्रस्तुत ग्रन्थमें जिस उपासकाध्ययनका बार-बार उल्लेख किया है, संभव है उसमें श्रावक धर्मका प्रतिपादन ग्यारह प्रतिमाओंको आधार बनाकर ही किया गया हो और वसुनन्दिने अपने ग्रन्थके नाम-संस्कारके अनुसार उसकी प्रतिपादन-पद्धतिका भी अनुसरण किया हो । जो कुछ हो, पर इतना निश्चित है कि दिगम्बर-परम्पराके उपलब्ध ग्रन्थोंसे ग्यारह प्रतिमाओंको आधार बनाकर श्रावकधर्मके प्रतिपादनका प्रकार ही सर्वप्राचीन रहा है । यही कारण है कि समन्तभद्रादिके श्रावकाचारोंके सामने होते हुए भी, और संभवतः उनके आप्तमीमांसादि ग्रन्थोंके टीकाकार होते हुए भी वसुनंदिने इस विषयमें उनकी तार्किक सरणिका अनुसरण न करके प्राचीन आगमिक-पद्धतिका ही अनुकरण किया है ।

४—आ० वसुनन्दि ने श्रावक के मूलगुणों का वर्णन क्यों नहीं किया, यह एक विचारणीय प्रश्न है । वसुनन्दि ने ही क्या, आ० कुन्दकुन्द और स्वामी कार्तिकेय ने भी मूलगुणों का कोई विधान नहीं किया है । श्वेतांबरीय उपासकदशासूत्र और तत्त्वार्थसूत्र में भी अष्टमूलगुणों का कोई निर्देश नहीं है । जहाँ तक मैंने श्वेतांबर ग्रंथों का अध्ययन किया है, वहाँ तक मैं कह सकता हूँ कि प्राचीन और अर्वाचीन किसी भी श्वे० आगम सूत्र या ग्रंथ में अष्ट मूलगुणों का कोई वर्णन नहीं है । दि० ग्रंथों में सबसे पहिले स्वामी समंतभद्र ने ही अपने रत्नकरण्डक में आठ मूल गुणों का निर्देश किया है । पर रत्नकरण्डक के उक्त प्रकरण को गवेषणात्मक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि स्वयं समन्तभद्र को भी आठ मूलगुणों का वर्णन मुख्य रूप से अभीष्ट नहीं था । यदि उन्हें मूलगुणों का वर्णन मुख्यतः अभीष्ट होता तो वे चारित्र के सकल और विकल भेद करने के साथ ही मूलगुण और उत्तरगुण रूप से विकलचारित्र के भी दो भेद करते । पर उन्होंने ऐसा न करके यह कहा है कि विकल चारित्र अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षा व्रत-रूप से तीन प्रकार का है और उसके क्रमशः पाँच, तीन और चार भेद हैं[1] । इतना ही नहीं, उन्होंने पाँचों अणुव्रतों का स्वरूप, उनके अतीचार तथा उनमें और पापों में प्रसिद्ध होनेवालों के नामों का उल्लेख करके केवल एक श्लोक में आठ मूलगुणों का निर्देश कर दिया है । इस अष्ट मूलगुण का निर्देश करने वाले श्लोक को भी गंभीर दृष्टि

१—देखो रत्नक० श्लो० ५१

से देखने पर उसमें दिए गए "आहुः" और "श्रमणोत्तमाः" पद पर दृष्टि अटकती है। दोनों पद स्पष्ट बतला रहे हैं कि समन्तभद्र अन्य प्रसिद्ध आचार्यों के मन्तव्य का निर्देश कर रहे हैं। यदि उन्हें आठ मूल गुणों का प्रतिपादन अभीष्ट होता तो वे मद्य, मांस और मधु के सेवन के त्याग का उपदेश बहुत आगे जाकर, भोगोपभोग परिमाण-व्रत में न करके यहीं, या इसके भी पूर्व अणुव्रतों का वर्णन प्रारंभ करते हुए देते।

भोगोपभोगपरिमाणव्रतके वर्णनमें दिया गया वह श्लोक इस प्रकार है—

त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये।
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥८४॥—रत्नक०

अर्थात् जिन भगवान्के चरणोंकी शरणको प्राप्त होनेवाले जीव त्रसजीवोंके घातका परिहार करनेके लिए मांस और मधुको तथा प्रमादका परिहार करनेके लिए मद्यका परित्याग करें।

इतने सुन्दर शब्दोंमें जैनत्वकी ओर अग्रेसर होनेवाले मनुष्यके कर्त्तव्यका इससे उत्तम और क्या वर्णन हो सकता था। इस श्लोकके प्रत्येक पदकी स्थितिको देखते हुए यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि इसके बहुत पहिले जो अष्ट मूलगुणोंका उल्लेख किया गया है, वह केवल आचार्यान्तरोंका अभिप्राय प्रकट करनेके लिए ही है। अन्यथा इतने उत्तम, परिष्कृत एवं सुन्दर श्लोकको भी वहीं, उसी श्लोकके नीचे ही देना चाहिये था।

रत्नकरण्डकके अध्याय-विभाग-क्रमको गम्भीर दृष्टिसे देखनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारको पाँच अणुव्रत ही श्रावकके मूलगुण रूपसे अभीष्ट रहे हैं। पर इस विषयमें उन्हें अन्य आचार्योंका अभिप्राय बताना भी उचित जँचा और इसलिए उन्होंने पाँच अणुव्रत धारण करनेका फल आदि बताकर तीसरे परिच्छेद को पूरा करते हुए मूलगुणके विषयमें एक श्लोक द्वारा मतान्तरका भी उल्लेख कर दिया है।

जो कुछ भी हो, चाहे अष्टमूलगुणोंका वर्णन स्वामी समन्तभद्रको अभीष्ट हो या न हो; पर उनके समयमें दो परम्पराओंका पता अवश्य चलता है। एक वह—जो मूलगुणोंकी संख्या आठ प्रतिपादन करती थी। और दूसरी वह—जो मूलगुणोंको नहीं मानती थी, या उनकी पाँच संख्या प्रतिपादन करती थी। आ० कुन्दकुन्द, स्वामी कार्तिकेय, उमास्वाति और तात्कालिक श्वेताम्बराचार्य पाँच संख्याके, या न प्रतिपादन करनेवाली परम्पराके प्रधान थे; तथा स्वामी समन्तभद्र, जिनसेन आदि मूलगुण प्रतिपादन करनेवालोंमें प्रधान थे। ये दोनों परम्पराएँ विक्रमकी ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी तक बराबर चली आई। जिनमें समन्तभद्र, जिनसेन, सोमदेव आदि आठमूल गुण माननेवाली परम्पराके और आ० कुन्दकुन्द, स्वामी कार्तिकेय, उमास्वाति तथा तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकार—पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्द वा वसुनन्दि आदि न माननेवाली परम्पराके आचार्य प्रतीत होते हैं। तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकारोंका उल्लेख इसलिए करना पड़ा कि उन सभीने भोगोपभोगपरिमाण व्रतकी व्याख्या करते हुए ही मद्य, मांस, मधुके त्यागका उपदेश दिया है। इसके पूर्व अर्थात् अणुव्रतोंकी व्याख्या करते हुए किसी भी टीकाकारने मद्य, मांस, मधु सेवनके निषेधका या अष्टमूलगुणोंका कोई संकेत नहीं किया है। उपलब्ध श्वे० उपासकदशासूत्रमें भी अष्टमूलगुणोंका कोई जिक्र नहीं है। सम्भव है, इसी प्रकार वसुनन्दिके सम्मुख जो उपासकाध्ययन रहा हो, उसमें भी अष्टमूलगुणोंका विधान न हो और इसी कारण वसुनन्दि ने उनका नामोल्लेख तक भी करना उचित न समझा हो।

वसुनन्दिके प्रस्तुत उपासकाध्ययनकी वर्णन-शैलीको देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि जब सप्त-व्यसनोंमें मांस और मद्य ये दो स्वतंत्र व्यसन माने गये हैं और मद्य व्यसनके अन्तर्गत मधुके परित्यागका भी स्पष्ट निर्देश किया है, तथा दर्शनप्रतिमाधारीके लिए सप्त व्यसनोंके साथ पंच उदुम्बरके त्यागका भी स्पष्ट कथन किया है[1]। तब द्वितीय प्रतिमामें या उसके पूर्व प्रथम प्रतिमामें ही अष्ट मूलगुणोंके पृथक् प्रतिपादन का कोई स्वारस्य नहीं रह जाता है। उनकी इस वर्णन-शैलीसे मूलगुण मानने न माननेवाली दोनों परम्पराओं-

१ देखो—प्रस्तुत ग्रन्थ की गाथा नं० ५७-५८।

का संग्रह हो जाता है। माननेवाली परम्पराका संग्रह तो इसलिए हो जाता है कि मूल गुणोंके अन्तस्तत्त्वका निरूपण कर दिया है और मूलगुणोंके न माननेवाली परम्पराका संग्रह इसलिए हो जाता है कि मूल गुण या अष्टमूलगुण ऐसा नामोल्लेख तक भी नहीं किया है। उनके इस प्रकरणको देखनेसे यह भी विदित होता है कि उनका झुकाव सोमदेव और देवसेन-सम्मत अष्टमूल गुणों की ओर रहा है, पर प्रथम प्रतिमाधारी को रात्रि-भोजन का त्याग आवश्यक बताकर उन्होने अमितगति के मत का भी संग्रह कर लिया है।

(५) अन्तिम मुख्य प्रश्न अतीचारों के न वर्णन करने के सम्बन्ध में है। यह सचमुच एक बड़े आश्चर्यका विषय है कि जब उमास्वातिसे लेकर अमितगति तकके वसुनन्दिसे पूर्ववर्ती सभी आचार्य एक स्वर से व्रतोंके अतीचारोंका वर्णन करते आ रहे हों, तब वसुनन्दि इस विषयमें सर्वथा मौन धारण किये रहें और यहाँ तक कि समग्र ग्रंथ भरमें अतीचार शब्दका उल्लेख तक न करें। इस विषयमें विशेष अनुसन्धान करने पर पता चलता है कि वसुनन्दि ही नहीं, अपितु वसुनन्दिपर जिनका अधिक प्रभाव है ऐसे अन्य अनेक आचार्य भी अतीचारोंके विषयमें मौन रहे हैं। आचार्य कुन्दकुन्दने चारित्र-पाहुडमें जो श्रावकके व्रतोंका वर्णन किया है, उसमें अतीचारका उल्लेख नहीं है। स्वामिकार्तिकेयने भी अतीचारोंका कोई वर्णन नहीं किया है। इसके पश्चात् आचार्य देवसेनने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ भावसंग्रहमें जो पाँचवें गुणस्थानका वर्णन किया है, वह पर्याप्त विस्तृत है। पूरी २४९ गाथाओंमें श्रावक धर्मका वर्णन है, परन्तु वहाँ कहीं भी अतीचारोंका कोई जिक्र नहीं है। इस सबके प्रकाशमें यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस विषयमें आचार्योंकी दो परम्पराएँ रही हैं—एक अतीचारोंका वर्णन करनेवालों की, और दूसरी अतीचारोंका वर्णन न करने करनेवालों की। उनमेंसे आचार्य वसुनन्दि दूसरी परम्पराके अनुयायी प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपनी गुरु-परंपराके समान स्वयं भी अतीचारोंका कोई वर्णन नहीं किया है।

अब ऊपर सुझाई गई कुछ अन्य विशेषताओंके ऊपर विचार किया जाता है:—

१—(अ) वसुनन्दिसे पूर्ववर्त्ती श्रावकाचार-रचयिताओंमें समन्तभद्रने ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरूप स्वदार-सन्तोष या परदारा-गमनके परित्याग रूपसे किया है[२]। सोमदेवने उसे और भी स्पष्ट करते हुए 'स्ववधू और वित्तस्त्री' (वेश्या) को छोड़कर शेष परमहिला-परिहार रूपसे वर्णन किया है[३]। परवर्ती पं० आशाधरजी आदिने 'अन्यस्त्री और प्रकटस्त्री' (वेश्या) के परित्याग रूपसे प्रतिपादन किया है[४]। पर वसुनन्दिने उक्त प्रकारसे न कहकर एक नवीन ही प्रकारसे ब्रह्मचर्याणु व्रतका स्वरूप कहा है। वे कहते हैं कि 'जो अष्टमी आदि पर्वोंके दिन स्त्री-सेवन नहीं करता है और सदा अनंग-क्रीड़ाका परित्यागी है, वह स्थूल ब्रह्मचारी या ब्रह्मचर्याणु व्रतका धारी है। (देखो प्रस्तुत ग्रन्थकी गाथा नं० २१२) इस स्थितिमें स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि आ० वसुनन्दिने समन्तभद्रादि-प्रतिपादित शैलीसे ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरूप न कहकर उक्त प्रकारसे क्यों कहा ? पर जब हम उक्त श्रावकाचारोंका पूर्वापर-अनुसन्धानके साथ गंभीरतापूर्वक अध्ययन करते हैं, तो स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि समन्तभद्रादि ने श्रावकको अणुव्रतधारी होनेके पूर्व सप्तव्यसनोंका त्याग नहीं कराया है अतः उन्होंने उक्त प्रकारसे ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरूप कहा है। पर वसुनन्दि तो प्रथम प्रतिमाधारीको ही सप्त व्यसनोंके अन्तर्गत जब परदारा और वेश्यागमन रूप दोनों व्यसनों का त्याग करा आये

---

१ देखो—प्रस्तुत ग्रन्थ की गाथा नं० ३१४।

२ न तु परदारान् गच्छति, न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसन्तोषनामापि ॥—रत्नक० श्लो० ५९.

३ वधू-वित्तस्त्रियौ मुक्त्वा सर्वत्रान्यत्र तज्जने।
माता स्वसा तनूजेति मतिर्ब्रह्म गृहाश्रमे ॥—यशस्ति० आ० ७.

४ सोऽस्ति स्वदारसन्तोषी योऽन्यस्त्री-प्रकटस्त्रियौ।
न गच्छत्यंहसो भीत्या नान्यैर्गमयति त्रिधा ॥—सागार० अ० ४ श्लो० ५२.

हैं, तब द्वितीय प्रतिमामें उनका दुहराना निरर्थक हो जाता है। यतः द्वितीय प्रतिमाधारी पहले से ही पर-स्त्रीत्यागी और स्वदार-सन्तोषी है, अतः उसका यही ब्रह्मचर्य-अणुव्रत है कि वह अपनी स्त्रीका भी पर्वके दिनोंमें उपभोग न करे और अनंगक्रीडाका सदाके लिए परित्याग करे। इस प्रकार वसुनन्दिने पूर्व सरणिका परित्याग कर जो ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरूप कहनेके लिए शैली स्वीकार की है, वह उनकी सैद्धान्तिकताके सर्वथा अनुकूल है। पं० आशाधरजी आदि जिन परवर्ती श्रावकाचार-रचयिताओंने समन्तभद्र, सोमदेव और वसुनन्दिके प्रतिपादनका रहस्य न समझकर ब्रह्मचर्याणुव्रतका जिस ढंगसे प्रतिपादन किया है और जिस ढंगसे उनके अतीचारोंकी व्याख्या की है, उससे वे स्वयं स्ववचन-विरोधी बन गये हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है:—

उत्तर प्रतिमाओंमें पूर्व प्रतिमाओंका अविकल रूपसे पूर्ण शुद्ध आचरण अत्यन्त आवश्यक है, इसीलिए समन्तभद्रको 'स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह सन्तिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः'[1] और सोमदेवको 'पूर्वपूर्वव्रतस्थिताः' कहना पड़ा है[2]। पर पं० आशाधरजी उक्त बातसे भली भाँति परिचित होते हुए और प्रकारान्तरसे दूसरे शब्दोंमें स्वयं उसका निरूपण करते हुए भी दो-एक स्थलपर कुछ ऐसा वस्तु-निरूपण कर गये हैं, जो पूर्वापर-क्रम-विरुद्ध प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ—सागारधर्मामृतके तीसरे अध्यायमें श्रावककी प्रथम प्रतिमाका वर्णन करते हुए वे उसे जुआ आदि सप्त व्यसनोंका परित्याग आवश्यक बतलाते हैं[3] और व्यसन-त्यागीके लिए उनके अतीचारोंके परित्यागका भी उपदेश देते हैं, जिसमें वे एक ओर तो वेश्याऽव्यसनत्यागीको गीत, नृत्य, वादित्रादिके देखने, सुनने और वेश्याके यहाँ जाने-आने या संभाषण करने तकका प्रतिबन्ध लगाते हैं,[4] तब दूसरी ओर वे ही इससे आगे चलकर चौथे अध्यायमें दूसरी प्रतिमाका वर्णन करते समय ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतीचारोंकी व्याख्यामें भाड़ा देकर नियत कालके लिए वेश्याको भी स्वकलत्र बनाकर उसे सेवन करने तकको अतीचार बताकर प्रकारान्तरसे उसके सेवनकी छूट दे देते हैं[5]। क्या यह पूर्व गुणके विकासके स्थानपर उसका ह्रास नहीं है? और इस प्रकार क्या वे स्वयं स्ववचन-विरोधी नहीं बन गये हैं? वस्तुतः संगीत, नृत्यादिके देखने का त्याग भोगोपभोगपरिमाण व्रतमें कराया गया है[6]।

पं० आशाधरजी द्वारा इसी प्रकारकी एक और विचारणीय बात चोरी व्यसनके अतीचार कहते हुए कही गई है। प्रथम प्रतिमाधारीको तो वे अचौर्य-व्यसनकी शुचिता (पवित्रता या निर्मलता) के लिए अपने सगे भाई आदि दायादारोंके भी भूमि, ग्राम, स्वर्ण आदि दायभागको राजवर्चस् (राजाके तेज या आदेश) से, या आजकी भाषामें कानूनकी आड़ लेकर लेनेकी मनाई करते हैं[7]। परन्तु दूसरी प्रतिमाधारीको

---

१ देखो—रत्नकरण्डक, श्लोक १३६.

२ अवधिव्रतमारोहेत्पूर्वपूर्वव्रतस्थिताः।
सर्वत्रापि समाः प्रोक्ताः ज्ञान-दर्शनभावनाः ॥—यशस्तिक आ० ८.

३ देखो—सागारधर्मामृत अ० ३, श्लो० १७.

४ त्यजेत्तौर्यत्रिकासक्तिं वृथाट्यां विड्गसङ्गतिम्।
नित्यं पण्याङ्गनात्यागी तद्गेहगमनादि च ॥

टीका—तौर्यत्रिकासक्तिं—गीतनृत्यवादित्रेषु सेवानिबन्धनम्। वृथाट्यां—प्रयोजनं बिना विचरणम्। तद्गेहगमनादि—वेश्यागृहगमन-संभाषण-सत्कारादि।—सागारध०, अ० ३, श्लो० २०.

५ भाटिप्रदानान्नियतकालस्वीकारेण स्वकलत्रीकृत्य वेश्यां वेत्वरिकां सेवमानस्य स्वबुद्धिकल्पनया स्वदारत्वेन व्रतसापेक्षचित्तत्वादल्पकालपरिग्रहाच्च न भंगो वस्तुतोऽस्वदारत्वाच्च भंग इति × × × भंगाभंगरूपोऽतिचारः।—सागारध० अ० ४ श्लो० ५८ टीका।

६ देखो—रत्नकरण्डक, श्लो० ८८.

७ दायादाज्जीवतो राजवर्चसाद् गृह्णतो धनम्।
दायं वाऽपह्नुवानस्य क्वाचौर्यव्यसनं शुचि ॥—सागार ध० अ० ३, २१.

अचौर्याणुव्रतके अतीचारोंकी व्याख्यामें चोरोंको चोरीके लिए भेजने, चोरीके उपकरण देने और चोरीका माल लेनेपर भी व्रतकी सापेक्षता बताकर उन्हें अतीचार ही बतला रहे हैं[1]।

ये और इसी प्रकारके जो अन्य कुछ कथन पं० आशाधरजी द्वारा किये गये हैं, वे आज भी विद्वानों के लिए रहस्य बने हुए हैं और इन्हीं कारणोंसे कितने ही लोग उनके ग्रंथों के पटन-पाटनका विरोध करते रहे हैं। पं० आशाधर जैसे महान् विद्वान्के द्वारा ये व्युत्क्रम-कथन कैसे हुए, इस प्रश्नपर जब गंभीरतासे विचार करते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने श्रावक-धर्मके निरूपणकी परम्परागत विभिन्न दो धाराओंके मूलमें निहित तत्त्वको दृष्टिमें न रखकर उनके समन्वयका प्रयास किया, और इसी कारण उनसे उक्त कुछ व्युत्क्रम-कथन हो गये। वस्तुतः ग्यारह प्रतिमाओंको आधार बनाकर श्रावक-धर्मका प्रतिपादन करनेवाली परम्परासे बारह व्रतोंको आधार बनाकर श्रावक-धर्मका प्रतिपादन करनेवाली परम्परा बिलकुल भिन्न रही है। अतीचारोंका वर्णन प्रतिमाओंको आधार बनाकर श्रावक-धर्मका प्रतिपादन करनेवाली परम्परामें नहीं रहा है। यह अतीचार-सम्बन्धी समस्त विचार बारह व्रतोंको आधार बनाकर श्रावक-धर्मका वर्णन करनेवाले उमास्वाति, समन्तभद्र आदि आचार्योंकी परम्परामें ही रहा है।

(ब) देशावकाशिक या देशव्रतको गुणव्रत माना जाय, या शिक्षाव्रत, इस विषयमें आचार्योंके दो मत हैं, कुछ आचार्य इसे गुणव्रतमें परिगणित करते हैं और कुछ शिक्षाव्रत में। पर सभीने उसका स्वरूप एक ही ढंगसे कहा है और वह यह कि जीवन-पर्यन्तके लिए किये हुए दिग्व्रतमें कालकी मर्यादा द्वारा अनावश्यक क्षेत्रमें जाने-आनेका परिमाण करना देशव्रत है। जहाँतक मेरी दृष्टि गई है, किसी भी आचार्यने देशव्रतका स्वरूप अन्य प्रकारसे नहीं कहा है। पर आ० वसुनन्दिने एकदम नवीन ही दिशासे उसका स्वरूप कहा है। वे कहते हैं:—

'दिग्व्रतके भीतर भी जिस देशमें व्रत-भंगका कारण उपस्थित हो, वहाँपर नहीं जाना सो दूसरा गुणव्रत है।' (देखो गा० २१५)

जब हम देशव्रतके उक्त स्वरूपपर दृष्टिपात करते हैं और उसमें दिये गये 'व्रत-भंग-कारण' पदपर गंभीरतासे विचार करते हैं, तब हमें उनके द्वारा कहे गये स्वरूपकी महत्ताका पता लगता है। कल्पना कीजिए—किसीने वर्तमानमें उपलब्ध दुनियामें जाने-आने और उसके बाहर न जानेका दिग्व्रत किया। पर उसमें अनेक देश ऐसे हैं जहाँ खानेके लिए मांसके अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता, तो दिग्व्रतकी मर्यादाके भीतर होते हुए भी उनमें अपने अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिए न जाना देशव्रत है। एक दूसरी कल्पना कीजिए—किसी व्रतीने भारतवर्षका दिग्व्रत किया। भारतवर्ष आर्यक्षेत्र भी है। पर उसके किसी देश-विशेष में ऐसा दुर्भिक्ष पड़ जाय कि लोग अन्नके दाने-दानेको तरस जायँ, तो ऐसे देशमें जानेका अर्थ अपने आपको और अपने व्रतको संकटमें डालना है। इसी प्रकार दिग्व्रत-मर्यादित क्षेत्रके भीतर जिस देशमें भयानक युद्ध हो रहा हो, जहाँ मिथ्यात्वियों या विधर्मियोंका बाहुल्य हो, व्रती संयमीका दर्शन दुर्लभ हो, जहाँ पीनेके लिए पानी भी शुद्ध न मिल सके, इन और इन जैसे व्रत-भंगके अन्य कारण जिस देशमें विद्यमान हों, उनमें नहीं जाना, या जानेका त्याग करना देशव्रत है। इसका गुणव्रतपना यही है कि उक्त देशोंमें न जानेसे उसके व्रतोंकी सुरक्षा बनी रहती है। इस प्रकारके सुन्दर और गुणव्रतके अनुकूल देशव्रतका स्वरूप प्रतिपादन करना सचमुच आ० वसुनन्दिकी सैद्धान्तिक पद्धतिके सर्वथा अनुरूप है।

---

१ तत्र चौरप्रयोगः—चोरयतः स्वयमन्येन वा चोरय त्वमिति चोरणक्रियायां प्रेरणं, प्रेरितस्य वा साधु करोषीत्यनुमननं, कुशिका-कर्त्तरिकाघर्घरिकादिचोरोपकरणानां वा समर्पणं विक्रयणं वा। अत्र च यद्यपि चौर्यं न करोमि, न कारयामीत्येवं प्रतिपन्नव्रतस्य चौरप्रयोगो व्रतभंग एव। तथापि किमधुना यूयं निर्व्यापारास्तिष्ठथ ! यदि वो भक्तादिकं नास्ति तदाहं ददामि। भवदानीतमोषस्य वा यदि क्रेता नास्ति तदाहं विक्रेष्ये इत्येवंविध वचनैश्चौरान् व्यापारयतः स्वकल्पनया तद्व्यापारणं परिहरतो व्रतसापेक्षस्यासावतीचारः॥

—सागारध०, अ० ४ श्लो० ५० टीका०

(स) देशव्रतके समान ही अनर्थदण्ड व्रतका स्वरूप भी आ० वसुनन्दिने अनुपम और विशिष्ट कहा है। वे कहते हैं कि "खड्ग, दंड, पाश, अस्त्र आदिका न बेंचना, कूटतुला न रखना, हीनाधिक मानोन्मान न करना, क्रूर एवं मांस-भक्षी जानवरोंका न पालना तीसरा गुणव्रत है।" (देखो गाथा नं० २१६)

अनर्थदण्डके पाँच भेदोंके सामने उक्त लक्षण बहुत छोटा या नगण्य-सा दिखता है। पर जब हम उसके प्रत्येक पदपर गहराईसे विचार करते हैं, तब हमें यह उत्तरोत्तर बहुत विस्तृत और अर्थपूर्ण प्रतीत होता है। उक्त लक्षणसे एक नवीन बातपर भी प्रकाश पड़ता है, वह यह कि आ० वसुनन्दि कूटतुला और हीनाधिक-मानोन्मान आदिको अतीचार न मानकर अनाचार ही मानते थे। ब्रह्मचर्याणुव्रतके स्वरूपमें अनंग-क्रीडा-परिहारका प्रतिपादन भी उक्त बातकी ही पुष्टि करता है।

(२) आ० वसुनन्दिने भोगोपभोग-परिमाणनामक एक शिक्षाव्रतके विभाग कर भोग-विरति और उपभोग-विरति नामक दो शिक्षाव्रत गिनाए हैं। जहाँ तक मेरा अध्ययन है, मैं समझता हूँ कि समस्त दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्यमें कहींपर भी उक्त नामके दो स्वतंत्र शिक्षाव्रत देखनेमें नहीं आये। केवल एक अपवाद है। और वह है 'श्रावक-प्रतिक्रमण सूत्र का। वसुनन्दिने ग्यारह प्रतिमाओंका स्वरूप वर्णन करनेवाली जो गाथाएँ प्रस्तुत ग्रन्थमें निबद्ध की हैं, वे उक्त श्रावक-प्रतिक्रमणसूत्रमें ज्योंकी त्यों पाई जाती हैं। जिससे पता चलता है कि उक्त गाथाओं के समान भोग-विरति और उपभोग-विरति नामक दो शिक्षाव्रतोंके प्रतिपादनमें भी उन्होंने 'श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र' का अनुसरण किया है। अपने कथनके प्रामाणिकता-प्रतिपादनार्थ उन्होंने "तं भोयविरइ भणियं पढमं सिक्खावयं सुत्ते" (गाथा २१७) वाक्य कहा है। यहाँ सूत्र पदसे वसुनन्दिका किस सूत्रकी ओर संकेत रहा है, यद्यपि यह अद्यावधि विचारणीय है तथापि उनके उक्त निर्देशसे उक्त दोनों शिक्षाव्रतोंका पृथक् प्रतिपादन असंदिग्ध रूपसे प्रमाणित है।

(३) आ० वसुनन्दि द्वारा सल्लेखनाको शिक्षाव्रत प्रतिपादन करनेके विषयमें भी यही बात है। प्रथम आधार तो उनके पास श्रावक-प्रतिक्रमणसूत्रका था ही। फिर उन्हें इस विषयमें आ० कुन्दकुन्द और देवसेन जैसोंका समर्थन भी प्राप्त था। अतः उन्होंने सल्लेखनाको शिक्षाव्रतोंमें गिनाया।

उमास्वाति, समन्तभद्र आदि अनेकों आचार्योंके द्वारा सल्लेखनाको मारणान्तिक कर्त्तव्यके रूपमें प्रतिपादन करनेपर भी वसुनन्दिके द्वारा उसे शिक्षाव्रतमें गिनाया जाना उनके तार्किक होनेकी बजाय सैद्धान्तिक होनेकी ही पुष्टि करता है। यही कारण है कि परवर्ती विद्वानोंने अपने ग्रन्थोंमें उन्हें उक्त पदसे संबोधित किया है।

(४) आ० कुन्दकुन्द, स्वामी कार्तिकेय और समन्तभद्र आदिने छठी प्रतिमाका नाम 'रात्रिभुक्ति-त्याग' रखा है। और तदनुसार ही उस प्रतिमामें चतुर्विध रात्रिभोजनका परित्याग आवश्यक बताया है। आ० वसुनन्दिने भी ग्रन्थके आरम्भमें गाथा नं० ४ के द्वारा इस प्रतिमाका नाम तो वही दिया है पर उसका स्वरूप-वर्णन दिवामैथुनत्याग रूपसे किया है। तब क्या यह पूर्वापर विरोध या पूर्व-परम्पराका उल्लंघन है? इस आशंकाका समाधान हमें वसुनन्दिकी वस्तु-प्रतिपादन-शैलीसे मिल जाता है। वे कहते हैं कि रात्रि-भोजन करनेवाले मनुष्यके तो पहिली प्रतिमा भी संभव नहीं है, क्योंकि रात्रिमें खानेसे अपरिमाण त्रस जीवों-की हिंसा होती है। अतः अर्हन्मतानुयायीको सर्वप्रथम मन, वचन कायसे रात्रि-भुक्तिका परिहार करना चाहिये। (देखो गा० नं० ३१४–३१८) ऐसी दशामें पाँचवीं प्रतिमा तक श्रावक रात्रिमें भोजन कैसे कर सकता है? अतएव उन्होंने दिवामैथुन त्याग रूपसे छठी प्रतिमाका वर्णन किया। इस प्रकारसे वर्णन करनेपर भी वे पूर्वापर विरोध रूप दोषके भागी नहीं हैं, क्योंकि 'भुज' धातुके भोजन और सेवन ऐसे दो अर्थ संस्कृत-प्राकृत साहित्य में प्रसिद्ध हैं। समन्तभद्र आदि आचार्योंने 'भोजन' अर्थका आश्रय लेकर छठी प्रतिमाका स्वरूप कहा है और वसुनन्दिने 'सेवन' अर्थको लेकर।

आ० वसुनन्दि तक छठी प्रतिमाका वर्णन दोनों प्रकारोंसे मिलता है। वसुनन्दिके पश्चात् पं० आशा-धरजी आदि परवर्ती दि० और श्वे० विद्वानोंने उक्त दोनों परम्पराओंसे आनेवाले और भुज् धातुके द्वारा

प्रकट होनेवाले दोनों अर्थोंके समन्वयका प्रयत्न किया है और तदनुसार छठी प्रतिमामें दिनको स्त्री-सेवनका त्याग तथा रात्रिमें सर्व प्रकारके आहारका त्याग आवश्यक बताया है।

(५) आ० वसुनन्दिके प्रस्तुत उपासकाध्ययनकी एक बहुत बड़ी विशेषता ग्यारहवीं प्रतिमाधारी प्रथमोत्कृष्ट श्रावकके लिए भिक्षा-पात्र लेकर, अनेक घरोंसे भिक्षा माँगकर और एक ठौर बैठ कर खानेके विधान करने की है। दि० परम्परामें इस प्रकारका वर्णन करते हुए हम सर्वप्रथम आ० वसुनन्दिको ही पाते हैं। सैद्धान्तिक-पद-विभूषित आ० वसुनन्दिने प्रथमोत्कृष्ट श्रावकका जो इतना विस्तृत और स्पष्ट वर्णन किया है, वह इस बातको सूचित करता है कि उनके सामने इस विषयके प्रबल आधार अवश्य रहे होंगे। अन्यथा उन जैसा सैद्धान्तिक विद्वान् पात्र रखकर और पाँच-सात घरसे भिक्षा माँगकर खानेका स्पष्ट विधान नहीं कर सकता था।

अब हमें देखना यह है कि वे कौनसे प्रबल प्रमाण उनके सामने विद्यमान थे, जिनके आधारपर उन्होंने उक्त प्रकारका वर्णन किया ? सबसे पहले हमारी दृष्टि प्रस्तुत प्रकरणके अन्तमें कही गई गाथापर जाती है, जिसमें कहा गया है कि 'इस प्रकार मैंने ग्यारहवें स्थानमें सूत्रानुसार दो प्रकारके उद्दिष्टपिंडविरत श्रावकका वर्णन संक्षेपसे किया।' (देखो गा० नं० ३१३) इस गाथामें दिये गये दो पदोंपर हमारी दृष्टि अटकती है। पहला पद है 'सूत्रानुसार', जिसके द्वारा उन्होंने प्रस्तुत वर्णनके स्वकपोल-कल्पितत्वका परिहार किया है। और दूसरा पद है 'संक्षेपसे' जिसके द्वारा उन्होंने यह भाव व्यक्त किया है कि मैंने जो उद्दिष्ट-पिंडविरतका इतना स्पष्ट और विस्तृत वर्णन किया है, उसे कोई 'तिलका ताड़' या 'राईका पहाड़' बनाया गया न समझे, किन्तु आगम-सूत्रमें इस विषयका जो विस्तृत वर्णन किया गया है, उसे मैंने 'सागरको गागरमें' भरनेके समान अत्यन्त संक्षेपसे कहा है।

अब देखना यह है कि वह कौन-सा सूत्र-ग्रन्थ है, जिसके अनुसार वसुनन्दिने उक्त वर्णन किया है ? प्रस्तुत उपासकाध्ययनपर जब हम एक बार आद्योपान्त दृष्टि डालते हैं तो उनके द्वारा बार-बार प्रयुक्त हुआ 'उवासयज्झयण' पद हमारे सामने आता है। वसुनन्दिके पूर्ववर्ती आ० अमितगति, सोमदेव और भगवज्जिन-सेनने भी अपने-अपने ग्रन्थोंमें 'उपासकाध्ययन'का अनेक बार उल्लेख किया है। उनके उल्लेखोंसे इतना तो अवश्य ज्ञात होता है कि वह उपासकाध्ययन सूत्र प्राकृत भाषामें रहा है, उसमें श्रावकोंके १२ व्रत या ११ प्रतिमाओंके वर्णनके अतिरिक्त पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक रूपसे भी श्रावक-धर्मका वर्णन था। भगवज्जिन-सेनके उल्लेखोंसे यह भी ज्ञात होता है कि उसमें दीक्षान्वयादि क्रियाओंका, षोडश संस्कारोंका, सज्जातित्व आदि सप्त परम स्थानोंका, नाना प्रकारके व्रत-विधानोंका और यज्ञ, जाप्य, हवन आदि क्रियाकांडका समंत्र सविधि वर्णन था। वसुनन्दि-प्रतिष्ठापाठ, जयसेन प्रतिष्ठापाठ और सिद्धचक्रपाठ आदिके अवलोकनसे उपलब्ध प्रमाणोंके द्वारा यह भी ज्ञात होता है कि उस उपासकाध्ययनमें क्रियाकांड-सम्बन्धी मंत्र तक प्राकृत भाषामें थे। इतना सब होनेपर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि उक्त सभी आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट उपासकाध्ययन एक ही रहा है। यदि सभीका अभिप्रेत उपासकाध्ययन एक ही होता, तो जिनसेनसे सोमदेवके वस्तु-प्रतिपादनमें इतना अधिक मौलिक अन्तर दृष्टिगोचर न होता। यदि सभीका अभिप्रेत उपासकाध्ययन एक ही रहा है, तो निश्चयतः वह बहुत विस्तृत और विभिन्न विषयोंकी चर्चाओंसे परिपूर्ण रहा है, पर जिनसेन आदि किसी भी परवर्ती विद्वान्को वह अपने समग्र रूपमें उपलब्ध नहीं था। हाँ, खंड-खंड रूपमें वह यत्र-तत्र तत्तद्विषयके विशेषज्ञोंके पास अवश्य रहा होगा और संभवतः यही कारण रहा है कि जिसे जो अंश उपलब्ध रहा, उसने उसीका अपने ग्रन्थमें उपयोग किया।

दि० साहित्यमें अन्वेषण करनेपर भी ऐसा कोई आधार नहीं मिलता है जिससे कि प्रथमोत्कृष्ट श्रावक की उक्त चर्या प्रमाणित की जा सके। हाँ, बहुत सूक्ष्म रूपमें कुछ बीज अवश्य उपलब्ध हैं। पर जब वसु-नन्दि कहते हैं कि मैंने उक्त कथन संक्षेपसे कहा है, तब निश्चयतः कोई विस्तृत और स्पष्ट प्रमाण उनके सामने अवश्य रहा प्रतीत होता है। कुछ विद्वान् उक्त चर्याका विधान शूद्र-जातीय उत्कृष्ट श्रावकके लिए किया गया

बतलाते हैं, पर वसुनन्दिके शब्दोंसे ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता है। श्वे० साहित्यसे अवश्य उक्त चर्याकी पुष्टि होती है, जो कि साधुके लिए बतलाई गई है। और इसीलिए ऐसा माननेको जी चाहता है कि कहीं श्वेताम्बरीय साधुओंके संग्रह करनेकी दृष्टिसे उत्कृष्ट श्रावककी वैसी चर्या न कही गई हो ?

१०—अष्ट मूलगुणों के विविध प्रकार

यहाँ प्रकरणवश अष्टमूलगुणोंका कुछ अधिक स्पष्टीकरण अप्रासंगिक न होगा। श्रावकधर्मके आधार-भूत मुख्य गुणको मूलगुण कहते हैं। मूलगुणोंके विषयमें आचार्योंके अनेक मत रहे हैं, जिनकी तालिका इस प्रकार है:—

आचार्य नाम—	**मूलगुणोंके नाम**
(१) आचार्य समन्तभद्रः— या अनेक श्रमणोत्तम	स्थूल हिंसादि पाँच पापोंका तथा मद्य, मांस, मधुका त्याग[1]।

(२) आचार्य जिनसेनः—स्थूल हिंसादि पाँच पापोंका तथा द्यूत, मांस और मद्यका त्याग[2]।

(३) आचार्य सोमदेव, आचार्य देवसेन—पाँच उदुम्बर फलोंका तथा मद्य, मांस और मधुका त्याग[3]।

(४) अज्ञात नाम (पं० आशाधरजी द्वारा उद्धृत) - मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग, रात्रिभोजन-त्याग, पंच उदुम्बरफल त्याग, देवदर्शन या पंचपरमेष्ठीका स्मरण, जीवदया और छने जलका पान[4]।

इन चारों मतोंके अतिरिक्त एक मत और भी उल्लेखनीय है और वह मत है आचार्य अमितगतिका। उन्होंने मूलगुण यह नाम और उनकी संख्या इन दोनों बातोंका उल्लेख किये विना ही अपने उपासकाध्ययनमें उनका प्रतिपादन इस प्रकारसे किया है:—

मद्यमांसमधुरात्रिभोजनं क्षीरवृक्षफलवर्जनं त्रिधा।
कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधास्तत्र पुष्यति निषेविते व्रतम् ॥

—अमित० श्रा० अ० ५ श्लो० १

अर्थात्—व्रत ग्रहण करनेकी इच्छासे विद्वान् लोग मन, वचन, कायसे मद्य, मांस, मधु, रात्रिभोजन और क्षीरी वृक्षोंके फलोंको सेवनका त्याग करते हैं, क्योंकि इनके त्याग करने पर ग्रहीत व्रत पुष्ट होता है।

इस श्लोकमें न 'मूलगुण' शब्द है और न संख्यावाची आठ शब्द। फिर भी यदि क्षीरी फलोंके त्यागको एक गिनें तो मूलगुणोंकी संख्या पाँच ही रह जाती है और यदि क्षीरी फलोंकी संख्या पाँच गिनें, तो नौ मूलगुण हो जाते हैं, जो कि अष्टमूल गुणोंकी निश्चित संख्याका अतिक्रमण कर जाते हैं। अतएव अमितगतिका मत एक विशिष्ट कोटिमें परिगणनीय है।

१—**मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकम्।**
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥६६॥—रत्नक०

२—**हिंसासत्याऽस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।**
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिगृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः ॥
—आदिपुराण

३—**मद्यमांसमधुत्यागैः सहोदुम्बरपंचकैः।**
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुते ॥ यशस्तिलकचम्पू

४—**मद्यपलमधुनिशाशनपंचफलीविरतिपंचकाप्तनुती।**
जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः ॥१८॥
—सागारधर्मामृत अ० २

मूलगुणोंके ऊपर दिखाये गये भेदोंको देखनेपर यह बात बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि इनके विषयमें मूलगुण माननेवाली परम्परामें भी भिन्न-भिन्न आचार्योंके विभिन्न मत रहे हैं।

सूत्रकार उमास्वातिने अपने तत्त्वार्थसूत्रमें यद्यपि मूलगुण ऐसा नाम नहीं दिया है और न उनकी कोई संख्या ही बताई है और न उनके टीकाकारोंने ही। पर सातवें अध्यायके सूत्रोंका पूर्वापर क्रम सूक्ष्मेक्षिकासे देखनेपर एक बात हृदयपर अवश्य अंकित होती है और वह यह कि सातवें अध्यायके प्रारम्भमें उन्होंने सर्वप्रथम पाँच पापोंके त्यागको व्रत कहा[1]। पुनः उनका त्याग देश और सर्वके भेद से दो प्रकारका बतलाया[2]। पुनः व्रतोंकी भावनाओंका विस्तृत वर्णन किया। अन्तमें पाँचों पापोंका स्वरूप कहकर व्रतीका लक्षण कहा[3] और व्रतीके अगारी और अनगारी ऐसे दो भेद कहे[4]। पुनः अगारीको अणुव्रतधारी बतलाया[5] और उसके पश्चात् ही उसके सप्त व्रत (शील) समन्वित होनेको सूचित किया[6]। इन अन्तिम दो सूत्रोंपर गंभीर दृष्टिपात करते ही यह शंका उत्पन्न होती है कि यदि अगारी पाँच अणुव्रत और सात शीलोंका धारी होता है, तो दो सूत्र पृथक्-पृथक् क्यों बनाये? दोनोंका एक ही सूत्र कह देते। ऐसा करनेपर 'सम्पन्न' और 'च' शब्दका भी प्रयोग न करना पड़ता और सूत्रलाघव भी होता। पर सूत्रकारने ऐसा न करके दो सूत्र ही पृथक्-पृथक् बनाये, जिससे प्रतीत होता है कि ऐसा करनेमें उनका अवश्य कोई आशय रहा है। गंभीर चिंतन करनेपर ऐसा माननेको जी चाहता है कि कहीं सूत्रकारको पाँच अणुव्रत मूलगुण रूपसे और सात शील उत्तर गुण रूपसे तो विवक्षित नहीं हैं?

एक विचारणीय प्रश्न

यहाँ एक प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब समन्तभद्र और जिनसेन जैसे महान् आचार्य पाँच अणुव्रतोंको मूलगुणोंमें परिगणित कर रहे हों, तब सोमदेव या उनके पूर्ववर्त्ती किसी अन्य आचार्यने उनके स्थानपर पंचक्षीरी फलोंके परित्यागको मूलगुण कैसे माना? उदुम्बर फलोंमें अगणित त्रसजीव स्पष्ट दिखाई देते हैं और उनके खानेमें त्रसहिंसाका या मांस खानेका पाप लगता है। त्रसहिंसाके परिहारसे उसका अहिंसाणुव्रतमें अन्तर्भाव किया जा सकता था और मांस खानेके दोषसे उसे मांसभक्षणमें परिगणित किया जा सकता था? ऐसी दशामें पंच उदुम्बरोंके परित्यागके पाँच मूलगुण न मानकर एक ही मूलगुण मानना अधिक तर्कयुक्त था। विद्वानोंके लिए यह प्रश्न अद्यावधि विचारणीय बना हुआ है। संभव है किसी समय क्षीरी फलोंके भक्षणका सर्वसाधारणमें अत्यधिक प्रचार हो गया हो, और उसे रोकनेके लिए तात्कालिक आचार्योंको उसके निषेधका उपदेश देना आवश्यक रहा हो और इसलिए उन्होंने पंचक्षीरी फलोंके परिहारको मूलगुणोंमें स्थान दिया हो!

१ हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥१॥

२ देशसर्वतोऽणुमहती ॥२॥

३ निःशल्यो व्रती ॥१८॥

४ अगार्यनगारश्च ॥१९॥

५ अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥

६ दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ॥२१॥ —तत्त्वा० अ० ७

७ परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥१३६॥—पुरुषार्थसि०

११—शील का स्वरूप

सूत्रकार द्वारा गुणव्रतों और शिक्षाव्रतोंकी जो 'शील' संज्ञा दी गई है, उस 'शील' का क्या स्वरूप है, यह शंका उपस्थित होती है। आचार्य अमितगतिने अपने श्रावकाचारमें 'शील' का स्वरूप इस प्रकारसे दिया है :—

संसारारातिभीतस्य व्रतानां गुरुसाक्षिकम् ।
गृहीतानामशेषाणां रक्षणं शीलमुच्यते ॥४१॥
—अमि० श्रा०, परि० १२.

अर्थात्—संसारके कारणभूत कर्मशत्रुओंसे भयभीत श्रावकके गुरुसाक्षीपूर्वक ग्रहण किये गये सब व्रतोंके रक्षणको शील कहते हैं।

पूज्यपाद श्रावकाचारमें शीलका लक्षण इस प्रकार दिया है :—

यद् गृहीतं व्रतं पूर्वं साक्षीकृत्य जिनान् गुरून् ।
तद् व्रताखंडनं शीलमिति प्राहुर्मुनीश्वराः ॥७८॥

अर्थात्—देव या गुरुकी साक्षीपूर्वक जो व्रत पहले ग्रहण कर रखा है, उसका खंडन नहीं करनेको मुनीश्वर 'शील' कहते हैं।

शीलके इसी भावको बहुत स्पष्ट शब्दोंमें अमृतचन्द्राचार्यने अपने पुरुषार्थ-सिद्ध्युपायमें व्यक्त किया है कि जिस प्रकार कोट नगरोंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार शील व्रतोंकी रक्षा करते हैं, अतएव व्रतोंकी रक्षा करनेके लिए शीलोंको भी पालना चाहिए[1]।

व्रतका अर्थ हिंसादि पापोंका त्याग है और शीलका अर्थ गृहीत व्रतकी रक्षा करना है। जिस प्रकार कोट नगरका या बाढ़ बीजका रक्षक है उसी प्रकार शील भी व्रतोंका रक्षक है। नगर मूल अर्थात् प्रथम है और कोट उत्तर अर्थात् पीछे है। इसी प्रकार बीज प्रथम या मूल है और बाढ़ उत्तर है। ठीक इसी प्रकार अहिंसादि पाँच व्रत श्रावकोंके और मुनियोंके मूलगुण हैं और शेष शील व्रत या उत्तर गुण हैं, यह फलितार्थ जानना चाहिए।

मेरे विचारसे श्रावकके शील और उत्तरगुण एकार्थक रहे हैं। यही कारण है कि सूत्रकारादि जिन अनेक आचार्योंने गुणव्रत और शिक्षाव्रतकी शील संज्ञा दी है, उन्हें ही सोमदेव आदिने उत्तर गुणोंमें गिना है। हाँ, मुनियोंके शील और उत्तरगुण विभिन्नार्थक माने गये हैं।

उक्त निष्कर्षके प्रकाशमें यह माना जा सकता है कि उमास्वाति या उनके पूर्ववर्ती आचार्योंको श्रावकोंके मूलव्रत या मूलगुणोंकी संख्या पाँच और शीलरूप उत्तरगुणोंकी संख्या सात अभीष्ट थी। परवर्त्ती आचार्यों ने उन दोनोंकी संख्याको पल्लवित कर मूलगुणोंकी संख्या आठ और उत्तर गुणोंकी संख्या बारह कर दी।[2] हालाँकि समन्तभद्रने आचार्यान्तरोंके मतसे मूल गुणोंकी संख्या आठ कहते हुए भी स्वयं मूलगुण या उत्तर गुणोंकी कोई संख्या नहीं कही है, और न मूल वा उत्तर रूपसे कोई विभाग ही किया है।

१ परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि ।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥१३६॥—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

२ महुमज्जमंसविरई चाओ पुण उंबराण पंचण्हं ।
अट्ठेदे मूलगुणा हवंति फुडु देसविरयम्मि ॥३५६॥—भावसंग्रह

पंचधाऽणुव्रतं त्रेधा गुणव्रतमगारिणाम् ।
शिक्षाव्रतं चतुर्धेति गुणाः स्युर्द्वादशोत्तरे ॥—यशस्ति० आ० ८; सागार०, अ० ४

१२—पूजन-विधान

देवपूजनके विषयमें कुछ और स्पष्टीकरणकी आवश्यकता है, क्योंकि सर्वसाधारण इसे प्रतिदिन करते हुए भी उसके वास्तविक रहस्यसे अनभिज्ञ हैं, यही कारण है कि वे यद्वा-तद्वा रूपसे करते हुए सर्वत्र देखे जाते हैं।

यद्यपि इज्याओंका विस्तृत वर्णन सर्व प्रथम आचार्य जिनसेनने किया है, तथापि उन्होंने उसकी कोई व्यवस्थित प्ररूपणा नहीं की है। जहाँ तक मेरा अध्ययन है, पूजनका व्यवस्थित एवं विस्तृत निरूपण सर्व-प्रथम आचार्य सोमदेवने ही किया है।

पूजनका उपक्रम—

देवपूजा करनेके लिए उद्यत व्यक्ति सर्व प्रथम अन्तःशुद्धि और बहिःशुद्धिको करे। चित्तकी चंचलता, मनकी कुटिलता या हृदयकी अपवित्रता दूर करनेको अन्तःशुद्धि कहते हैं। दन्तधावन आदि करके निर्मल एवं प्रासुक जलसे स्नान कर धुले स्वच्छ शुद्ध वस्त्र-धारण करनेको बहिःशुद्धि कहते हैं[1]।

पूजनका अर्थ और भेद—

जिनेन्द्र देव, गुरु, शास्त्र, रत्नत्रय धर्म आदिकी आराधना, उपासना या अर्चा करनेको पूजन कहते हैं। आ० वसुनन्दिने पूजनके छह भेद गिनाकर उनका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थमें किया है। (देखो गाथा नं० ३८१ से ४९३ तक) छह भेदोंमें एक स्थापना पूजा भी है। साक्षात् जिनेन्द्रदेव या आचार्यादि गुरुजनोंके अभावमें उनकी स्थापना करके जो पूजन की जाती है उसे स्थापना पूजा कहते हैं। यह स्थापना दो प्रकारसे की जाती है, तदाकार रूपसे और अतदाकार रूपसे। जिनेन्द्रका जैसा शान्त वीतराग स्वरूप परमागममें बताया गया है, तदनुसार पाषाण, धातु आदि की मूर्ति बनाकर प्रतिष्ठा-विधिसे उसमें अर्हन्तदेवकी कल्पना करनेको तदाकार स्थापना कहते हैं। इस प्रकारसे स्थापित मूर्तिको लक्ष्य करके, या केन्द्र-बिन्दु बनाकर जो पूजा की जाती है, उसे तदाकार स्थापना पूजन कहते हैं। इस प्रकारकी पूजनके लिए आचार्य सोमदेवने प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधापन, पूजा और पूजा-फल इन छह कर्तव्योंका करना आवश्यक बताया है। यथा—

प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना सन्निधापनम्।
पूजा पूजाफलं चेति षड्विधं देवसेवनम्॥—यश० आ० ८

१—**अन्तःशुद्धिं बहिःशुद्धिं विदध्याद्देवतार्चनम्।**
आद्या दौश्चित्यनिर्मोक्षादन्या स्नानाद्यथाविधिः॥
आप्लुतः संप्लुतः स्वान्तः *शुचिवासो विभूषितः।*
मौन-संयमसम्पन्नः **कुर्याद्देवार्चनाविधिम्॥**
दन्तधावनशुद्धास्यो मुखवासोचिताननः।
असंजातान्यसंसर्गः सुधीर्देवानुपाचरेत्॥—यशस्ति० आ० ८

टिप्पणी—कितने ही लोग बिना दातुन किये ही पूजन करते हैं, उन्हें 'दन्तधावनशुद्धास्यः' पद पर ध्यान देना चाहिए, जिसमें बताया गया है कि मुखको दातुनसे शुद्ध करके भगवान्‌की पूजा करे। इस सम्बन्धमें इसी श्लोकके द्वारा एक और पुरानी प्रथा पर प्रकाश पड़ता है, वह यह कि मुखपर वस्त्र बाँधकर भगवान्‌की पूजा करे। पुराने लोग दुपट्टेसे मुखको बाँधकर पूजन करते रहे हैं। बुन्देलखंडके कई स्थानोंमें यह प्रथा आज भी प्रचलित है। मूर्तिपूजक श्वेताम्बरोंमें भी मुख बाँधकर ही पूजा की जाती है। सोमदेवका 'मुखवासोचिताननः' पद हमें स्थानकवासी साधुओंकी मुँहपत्तीकी याद दिलाता है।

पूजनके समय जिनेन्द्र-प्रतिमाके अभिषेककी तैयारी करनेको **प्रस्तावना**[1] कहते हैं। जिस स्थानपर अर्हद्बिम्बको स्थापित कर अभिषेक करना है, उस स्थानकी शुद्धि करके जलादिकसे भरे हुए कलशोंको चारों ओर कोणोंमें स्थापन करना **पुराकर्म**[2] कहलाता है। इन कलशोंके मध्यवर्ती स्थानमें रखे हुए सिंहासन पर जिनबिम्बके स्थापन करनेको **स्थापना**[3] कहते हैं। 'ये वही जिनेन्द्र हैं, यह वही सुमेरुगिरि है, यह वही सिंहासन है, यह वही साक्षात् क्षीरसागरका जल कलशोंमें भरा हुआ है, और मैं साक्षात् इन्द्र बनकर भगवान्‌का अभिषेक कर रहा हूँ', इस प्रकारकी कल्पना करके प्रतिमाके समीपस्थ होनेको **सन्निधापन**[4] कहते हैं। अर्हत्प्रतिमाकी आरती उतारना, जलादिकसे अभिषेक करना, अष्टद्रव्यसे अर्चा करना, स्तोत्र पढ़ना, चँवर ढोरना, गीत, नृत्य आदिसे भगवद्-भक्ति करना यह **पूजा**[5] नामका पाँचवाँ कर्तव्य है। जिनेन्द्र-बिम्बके पास स्थित होकर इष्ट प्रार्थना करना कि हे देव, सदा तेरे चरणोंमें मेरी भक्ति बनी रहे, सर्व प्राणियोंपर मैत्री भाव रहे, शास्त्रोंका अभ्यास हो, गुणी जनोंमें प्रमोद भाव हो, परोपकारमें मनोवृत्ति रहे, समाधिमरण हो, मेरे कर्मोंका क्षय और दुःखोंका अन्त हो, इत्यादि प्रकारसे इष्ट प्रार्थना करनेको **पूजाफल**[6] कहा गया है।

उक्त विवेचनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि आह्वानन, स्थापन और सन्निधीकरणका आर्षमार्ग यह था, पर उस मार्गके भूल जानेसे लोग आज-कल यद्वा-तद्वा प्रवृत्ति करते हुए दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

तदाकार स्थापनाके अभावमें अतदाकार स्थापना की जाती है। अतदाकार स्थापनामें प्रस्तावना, पुरा-

---

१ यः श्रीजन्मपयोनिधिर्मनसि च ध्यायन्ति यं योगिनो
तेनेदं भुवनं सनाथममरा यस्मै नमस्कुर्वते।
यस्मात्प्रादुरभूच्छ्रुतिः सुकृतिनो यस्य प्रसादाज्जना
यस्मिन्नेष भवाश्रयो व्यतिकरस्तस्यारंभे स्नापनाम् ॥
(इति प्रस्तावना)

२. पाथः पूर्णान् कुम्भान् कोणेषु सुपल्लवप्रसूनार्चान्।
दुग्धाब्धीनिव विदधे प्रवालमुक्तोल्वणांश्चतुरः ॥
(इति पुराकर्म)

३. तीर्थोदकैर्मणिसुवर्णघटोपनीतैः पीठे पवित्रवपुषि प्रतिकल्पितार्थे।
लक्ष्मीश्रुतागमनबीजविदर्भगर्भे संस्थापयामि भुवनाधिपतिं जिनेन्द्रम् ॥
(इति स्थापना)

४. सोऽयं जिनः सुरगिरिर्ननु पीठमेतदेतानि दुग्धजलधेः सलिलानि साक्षात्।
इन्द्रस्त्वहं तव सवप्रतिकर्मयोगात्पूर्णा ततः कथमियं न महोत्सवश्रीः ॥
(इति सन्निधापनम्)

५. अम्भश्चन्दनतन्दुलोद्गमहविर्दीपैः सधूपैः फलै-
रर्चित्वा त्रिजगद्गुरुं जिनपतिं स्नानोत्सवानन्तरम्।
तं स्तौमि प्रजपामि चेतसि दधे कुर्वे श्रुताराधनम्,
त्रैलोक्यप्रभवं च तन्महमहं कालत्रये श्रद्दधे ॥
(इति पूजा)

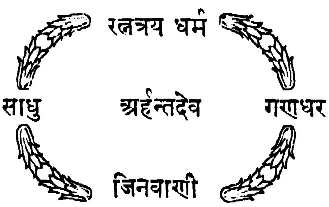
६. प्रातर्विधिस्तव पदाम्बुजपूजनेन मध्याह्नसन्निधिरयं मुनिमाननेन।
सायंतनोऽपि समयो मम देव यायान्नित्यं त्वदाचरणकीर्तनकामितेन ॥
धर्मेषु धर्मनिरतात्मसु धर्महेतोर्धर्माद्वाप्तमहिमास्तु नृपोऽनुकूलः।
नित्यं जिनेन्द्रचरणार्चनपुण्यधन्याः कामं प्रजाश्च परमां श्रियमाप्नुवन्तु ॥
(इतिपूजाफलम्)—यशस्ति०, आ० ८

कर्म आदि नहीं किये जाते; क्योंकि जब प्रतिमा ही नहीं है, तो अभिषेक आदि किसका किया जायगा ? अतः पवित्र पुष्प, पल्लव, फलक, भूर्जपत्र, सिकता, शिलातल, क्षिति, व्योम या हृदयमें अर्हन्त देवकी अतदाकार स्थापना करना चाहिए। वह अतदाकार स्थापना किस प्रकार करनी चाहिए, इसका वर्णन आचार्य सोमदेवने इस प्रकार किया है :—

अर्हन्न तनुमध्ये दक्षिणतो गणधरस्तथा पश्चात् ।
श्रुतगीः साधुस्तदनु च पुरोऽपि दृगवगमवृत्तानि ॥
भूर्जे, फलके सिचये शिलातले सैकते क्षितौ व्योम्नि ।
हृदये चेति स्थाप्याः समयसमाचारवेदिभिर्नित्यम् ॥

—यशस्ति०, आ० ८

अर्थात्—भूर्जपत्र आदि पवित्र बाह्य वस्तुके या हृदयके मध्य भागमें अर्हन्तको, उसके दक्षिणभागमें गणधरको, पश्चिम भागमें जिनवाणीको, उत्तरमें साधुको और पूर्वमें रत्नत्रयरूप धर्मको स्थापित करना चाहिए। यह रचना इस प्रकार होगी :—



इसके पश्चात् भावात्मक अष्टद्रव्यके द्वारा क्रमशः देव, शास्त्र, गुरु और रत्नत्रय धर्मका पूजन करे। तथा दर्शनभक्ति, ज्ञानभक्ति, चारित्रभक्ति, पंचगुरुभक्ति, अर्हद्भक्ति, सिद्धभक्ति, आचार्यभक्ति और शान्तिभक्ति करे। आचार्य सोमदेवने इन भक्तियोंके स्वतंत्र पाठ दिये हैं। शान्तिभक्तिका पाठ इस प्रकार है :—

भवदुःखानलशान्तिर्धर्मामृतवर्षजनितजनशान्तिः ।
शिवशर्मास्रवशान्तिः शान्तिकरः स्ताज्जिनः शान्तिः ॥

यह पाठ हमें वर्तमानमें प्रचलित शान्ति पाठकी याद दिला रहा है।

उपर्युक्त तदाकार और अतदाकार पूजनके निरूपणका गंभीरतापूर्वक मनन करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि वर्तमानमें दोनों प्रकारकी पूजन-पद्धतियोंकी खिचड़ी पक रही है, लोग यथार्थ मार्गको बिलकुल भूल गये हैं।

निष्कर्ष—तदाकार पूजन द्रव्यात्मक और अतदाकार पूजन भावात्मक है। गृहस्थ सुविधानुसार दोनों कर सकता है। पर आ० वसुनन्दि इस हुंडावसर्पिणीकालमें अतदाकार स्थापनाका निषेध करते हैं। वे कहते हैं कि लोग यों ही कुलिंगियोंके यद्वा-तद्वा उपदेशसे मोहित हो रहे हैं, फिर यदि ऐसी दशामें अर्हन्मतानुयायी भी जिस किसी वस्तुमें अपने इष्ट देवकी स्थापना कर उसकी पूजा करने लगेंगे, तो साधारण लोगोंसे विवेकी लोगोंमें कोई भेद न रह सकेगा। तथा सर्वसाधारणमें नाना प्रकारके सन्देह भी उत्पन्न होंगे[1]।

यद्यपि आ० वसुनन्दिकी अतदाकार स्थापना न करनेके विषयमें तर्क या दलील है, तो युक्ति-संगत, पर हुंडावसर्पिणीका उल्लेख किस आधारपर कर दिया, यह कुछ समझमें नहीं आया ? खासकर उस दशामें, जब कि उनके पूर्ववर्त्ती आ० सोमदेव बहुत विस्तारके साथ उसका प्रतिपादन कर रहे हैं। फिर एक बात और विचारणीय है कि क्या पंचम कालका ही नाम हुंडावसर्पिणी है, या प्रारंभके चार कालोंका नाम भी है। यदि उनका भी नाम है, तो क्या चतुर्थकालमें भी अतदाकार स्थापना नहीं की जाती थी ? यह एक प्रश्न है, जिसपर कि विद्वानों द्वारा विचार किया जाना आवश्यक है।

---

१ देखो प्रस्तुत ग्रन्थकी गाथा नं० ३८५

१३–वसुनन्दि पर प्रभाव

प्रस्तुत श्रावकाचारके अन्तःपरीक्षण करनेपर विदित होता है कि वसुनन्दिपर जिन आचार्योंका प्रभाव है, उनमें सबसे अधिक आ० कुन्दकुन्द, स्वामिकार्त्तिकेय, आचार्य यतिवृषभ और देवसेनका है। इन आचार्योंके प्रभावोंका विवरण इस प्रकार है:—

१—आचार्य कुन्दकुन्द और स्वामिकार्त्तिकेयके समान ही वसुनन्दिने श्रावक-धर्मका वर्णन ग्यारह प्रतिमाओंको आधार बनाकर किया है।

२—उक्त दोनों आचार्योंके समान ही आठ मूलगुणोंका वर्णन नहीं किया है।

३—तीनों आचार्योंके समान ही अतीचारोंका वर्णन नहीं किया है।

४—आचार्य देवसेन द्वारा रचित भावसंग्रहके, पूजा, दान और उनके भेद, फलादिके समस्त वर्णनको आधार बनाकर वसुनन्दिने अपने उक्त प्रकरणोंका निर्माण किया है।*

५—वसु० श्रावकाचारके प्रारम्भमें जो जीवादि सात तत्त्वों, सम्यक्त्वके आठ अंगों और उनमें प्रसिद्धि-प्राप्त पुरुषोंका वर्णन है, वह ज्योंका त्यों भाव संग्रहके इसी प्रकरणसे मिलता है, बल्कि वसु० श्रावकाचारमें ५१ से ५६ तककी पूरी ६ गाथाएँ तो भाव-संग्रहसे उठाकर ज्यों की त्यों रखी गई हैं।

६—रात्रि-भोजन सम्बन्धी वर्णनपर आचार्य रविषेण जिनसेन, सोमदेव, देवसेन और अमितगतिका प्रभाव है।

७—सप्तव्यसनोंके वर्णनपर अन्य अनेक आचार्योंके वर्णनके अतिरिक्त सबसे अधिक प्रभाव अमितगतिका है।

८—नरकके दुःखोंके वर्णनपर आचार्य यतिवृषभकी तिलोयपण्णत्तीका अधिक प्रभाव है। शेष गतियों के दुःख वर्णनपर स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रभाव है।

९—ग्रन्थके अन्तमें जो क्षपक-श्रेणी और तेरहवें चौदहवें गुणस्थानका वर्णन है, उसपर सिद्धान्त ग्रन्थ षट्खंडागम और कसायपाहुडका प्रभाव है, जो कि वसुनन्दिके सिद्धान्तचक्रवर्तित्वको सूचित करता है।

१०—इसी प्रकरणके योग-निरोध सम्बन्धी वर्णन पर आचार्य यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोंका प्रभाव स्पष्ट है।

११—इसके अतिरिक्त ग्यारह प्रतिमाओंके स्वरूपका वर्णन करनेवाली २०५, २०७, २७४, २८०, २९५-३०१ नम्बरवाली ग्यारह गाथाएँ तो ज्यों की त्यों श्रावकप्रतिक्रमण सूत्रसे उठाकर रखी गई हैं तथा इसीके अनुसार ही शिक्षाव्रतोंका वर्णन किया गया है।

* टिप्पणी—आचार्य्य वसुनन्दिने भावसंग्रहका अपने ग्रन्थमें कितना और कैसा उपयोग किया है, यह नीचे दी गई तालिकासे ज्ञात कीजिये:—

(१) भावसंग्रहः—२०३	२०४	२०५	२०६–२१२	३१९–३२०	३२४	३२१–३२३
वसु० श्रा०—१६	१७	२०	२१–२२	३९–४०	४१	४२

(२) भावसंग्रह—३४४–३४५	३४६	३४८	४९४–४९८	५२७–५२८	५३२
वसु० श्रा०—४३–४४	४५	४७	२२०–२२४	२२५–२३३	२४२

(३) भावसंग्रह—४९९–५०१	५३३	५३६	५८७–५९१	५९३	५९६–५९७
वसु० श्रा०—२४५–२४७	२४८	२६१	२४९–२५७	२६४	२६७–२६९

(४) भावसंग्रह—४२८–४४५	४७०–४८२	४८३–४८४	४१०	४०८–४११
वसु० श्रा०—४५७–४७६	४८३–४९३	५१०–५११	५१३	४९५–४०७

(५) भावसंग्रह—४१२–४१९	४३०–४२२	६७७	६६४
वसु० श्रा०—४९८–५०५	५०९–५१०	५१८–५१९	५३५

१४—वसुनन्दि का प्रभाव

वसुनन्दि श्रावकाचारका प्रभाव हीनाधिक मात्रामें सभी परवर्त्ती श्रावकाचारोंपर है। वसुनन्दिसे लगभग १५० वर्ष पीछे हुए पं० आशाधरजीने तो आचार्य वसुनन्दिके मतको श्रद्धापूर्ण शब्दोंमें व्यक्त किया है। यथा:—

'इति वसुनन्दिसैद्धान्तिकमते'। सागार० अ० ३, श्लो० १६ की टीका।

'*इति वसुनन्दि सैद्धान्तिकमतेन*—**दर्शनप्रतिमायां प्रतिपन्नस्तस्येदं** *तन्मतेनैव* **व्रतप्रतिमां बिभ्रतो ब्रह्माणुव्रतं स्यात्।'—सागार० अ० ४ श्लो० ५२ की टीका**

उपर्युक्त उल्लेखोंमें प्रयुक्त सैद्धान्तिक पदसे उनका महत्ता स्पष्ट है।

पं० आशाधरजीने ग्यारहवीं प्रतिमाका जो वर्णन किया है उसपर वसुनन्दिके प्रस्तुत उपासकाध्ययनका स्पष्ट प्रभाव है। पाठक प्रस्तुत ग्रन्थकी ३०१ से ३१३ तककी गाथाओंका निम्न श्लोकोंके साथ मिलान करें:—

स द्वेधा प्रथमः श्मश्रुमूर्धजानपनाययेत्।
सितकौपीनसंव्यानः कर्त्तर्या वा क्षुरेण वा ॥३८॥
स्थानादिषु प्रतिलिखेत् मृदूपकरणेन सः।
कुर्यादेव चतुष्पर्व्यामुपवासं चतुर्विधम् ॥३९॥
स्वयं समुपविष्टोऽद्यात्पाणिपात्रेऽथ भाजने।
स श्रावकगृहं गत्वा पात्रपाणिस्तदङ्गणे ॥४०॥
स्थित्वा भिक्षां धर्मलाभं भणित्वा प्रार्थयेत् वा।
मौनेन दर्शयित्वाऽङ्गं लाभालाभे समोऽचिरात् ॥४१॥
निर्गत्यान्यद्‌गृहं गच्छेद्भिक्षोद्युक्तस्तु केनचित्।
भोजनायार्थितोऽद्यात्तद् भुक्त्वा यद्भिक्षितं मनाक् ॥४२॥
प्रार्थयेतान्यथा भिक्षां यावत्स्वोदरपूरणीम्।
लभेत प्रासु यत्राम्भस्तत्र संशोध्य तां चरेत् ॥४३॥
आकांक्षन् संयमं भिक्षापात्रप्रक्षालनादिषु।
स्वयं यतेत चादर्पः परथाऽसंयमो महान् ॥४४॥
ततो गत्वा गुरूपान्तं प्रत्याख्यानं चतुर्विधम्।
गृह्णीयाद्विधिवत्सर्वं गुरोश्चालोचयेत्पुरः ॥४५॥
यस्त्वेकभिक्षानियमो गत्वाद्यादनुमुन्यसौ।
भुक्त्यभावे पुनः कुर्यादुपवासमवश्यकम् ॥४६॥
तद्वद् द्वितीयः किन्त्वार्यसंज्ञो लुञ्चत्यसौ कचान्।
कौपीनमात्रयुग्धत्ते यतिवत्प्रतिलेखनम् ॥४७॥
स्वपाणिपात्र एवात्ति संशोध्यान्येन योजितम्।
इच्छाकारं समाचारं मिथः सर्वे तु कुर्वते ॥४८॥
श्रावको वीरचार्याहः प्रतिमातापनादिषु।
स्यान्नाधिकारी सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि च ॥४९॥—सागारधर्मा० अ० ७

पं० आशाधरजी और उनके पीछे होने वाले सभी श्रावकाचार-रचयिताओंने यथावसर वसुनन्दिके उपासकाध्ययनका अनुसरण किया है। गुणभूषणश्रावकाचारके रचयिताने तो प्रस्तुत ग्रन्थकी बहुभाग गाथाओंका संस्कृत रूपान्तर करके अपने ग्रन्थकी रचना की है, यह बात दोनों ग्रन्थोंके मिलान करनेपर सहज ही में पाठकके हृदयमें अंकित हो जाती है।

१६-श्रावक धर्म का क्रमिक विकास

आचार्य कुन्दकुन्द

दिगम्बर परम्परामें भगवद् भूतबलि, पुष्पदन्त और गुणधराचार्यके पश्चात् शास्त्र-रचयिताओंमें सर्व प्रथम आचार्य कुन्दकुन्द हैं। इन्होंने अनेकों पाहुडोंकी रचना की है, जिनमें एक चारित्र-पाहुड भी है। इसमें उन्होंने अत्यन्त संक्षेपसे श्रावकधर्मका वर्णन केवल छह गाथाओंमें किया है। एक गाथामें संयमाचरणके दो भेद करके बताया कि सागार संयमाचरण गृहस्थोंके होता है। दूसरी गाथामें ग्यारह प्रतिमाओंके नाम कहे। तीसरी गाथामें सागार संयमाचरणको पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत रूप कहा है। पुनः तीन गाथाओंमें उनके नाम गिनाये गये हैं[1]। इतने संक्षिप्त वर्णनसे केवल कुन्दकुन्द-स्वीकृत अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंके नामोंका ही पता चलता है, और कुछ विशेष ज्ञात नहीं होता। इन्होंने सल्लेखनाको चौथा शिक्षाव्रत माना है और देशावकाशिक व्रतको न गुणव्रतोंमें स्थान दिया है और न शिक्षाव्रतोंमें। इनके मतसे दिक्परिमाण, अनर्थदंड-वर्जन और भोगोपभोग-परिमाण ये तीन गुणव्रत हैं, तथा सामायिक प्रोषध, अतिथि-पूजा और सल्लेखना ये चार शिक्षा व्रत हैं। इनके इस वर्णनमें यह बात विचारणीय है कि सल्लेखनाको चौथा शिक्षाव्रत किस दृष्टिसे माना है, जब कि वह मरणके समय ही किया जानेवाला कर्त्तव्य है? और क्या इस चौथे शिक्षा व्रतकी पूर्त्तिके बिना ही श्रावक तीसरी आदि प्रतिमाओंका धारी हो सकता है?

स्वामी कार्त्तिकेय

आ० कुन्दकुन्दके पश्चात् मेरे विचारसे उमास्वाति और समन्तभद्रसे भी पूर्व स्वामी कार्त्तिकेय हुए हैं। उन्होंने अनुप्रेक्षा नामसे प्रसिद्ध अपने ग्रन्थमें धर्म भावनाके भीतर श्रावकधर्मका विस्तृत वर्णन किया है। इनके प्रतिपादनकी शैली स्वतंत्र है। इन्होंने जिनेन्द्र-उपदिष्ट धर्मके दो भेद बताकर संगासक्तों—परिग्रह धारी गृहस्थोंके धर्मके बारह भेद बताये हैं। यथा—१ सम्यग्दर्शनयुक्त, २ मद्यादि स्थूल-दोषरहित, ३ व्रतधारी, ४ सामायिक, ५ पर्वव्रती, ६ प्रासुक-आहारी, ७ रात्रिभोजनविरत, ८ मैथुनत्यागी, ९ आरम्भत्यागी, १० संगत्यागी,

---

१ दुविहं संजम चरणं सायारं तह हवे णिरायारं।
सायारं सग्गंथे परिग्गहारहिय खलु णिरायारं ॥२०॥
दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य।
बंभारंभ परिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य ॥२१॥
पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।
सिक्खावय चत्तारि संजमचरणं च सायारं ॥२२॥
थूले तसकायवहे थूले मोसे तितिक्ख थूले य।
परिहारो परपिम्मे परिग्गहारंभपरिमाणं ॥२३॥
दिसि-विदिसिमाण पढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं विदियं।
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥२४॥
सामाइयं च पढमं बिदियं च तहेव पोसहं भणियं।
तइयं अतिहिपुज्जं चउत्थ संलेहणा अंते ॥२५॥—चारित्रपाहुड

११ कार्यानुमोदविरत और १२ उद्दिष्टाहारविरत[1]। इनमें प्रथम नामके अतिरिक्त शेष नाम ग्यारह प्रतिमाओंके हैं। यतः श्रावकको व्रत-धारण करनेके पूर्व सम्यग्दर्शनका धारण करना अनिवार्य है, अतः सर्वप्रथम एक उसे भी गिनाकर उन्होंने श्रावक-धर्मके १२ भेद बतलाये हैं और उनका वर्णन पूरी ८५ गाथाओंमें किया है। जिनमेंसे २० गाथाओंमें तो सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति, उसके भेद, उनका स्वरूप, सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिकी मनोवृत्ति और सम्यक्त्वका माहात्म्य बहुत सुन्दर ढंगसे वर्णन किया है, जैसा कि अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। तत्पश्चात् दो गाथाओं द्वारा दार्शनिक श्रावकका स्वरूप कहा है, जिसमें बताया गया है कि जो त्रस-समन्वित या त्रस-घातसे उत्पन्न मांस, मद्य आदि निंद्य पदार्थोंका सेवन नहीं करता, तथा दृढ़चित्त, वैराग्य-भावना-युक्त और निदान-रहित होकर एक भी व्रतको धारण करता है, वह दार्शनिक श्रावक है। तदनन्तर उन्होंने व्रतिक श्रावकके १२ व्रतोंका बड़ा हृदयग्राही, तलस्पर्शी और स्वतंत्र वर्णन किया है, जिसका आनन्द उनके ग्रन्थका अध्ययन करके ही लिया जा सकता है। इन्होंने कुन्दकुन्द-सम्मत तीनों गुणव्रतोंको तो माना है, परन्तु शिक्षाव्रतों में कुन्दकुन्द-स्वीकृत सल्लेखना को न मानकर उसके स्थानपर देशावकाशिकको माना है। इन्होंने ही सर्वप्रथम अनर्थदंडके पाँच भेद किये हैं। स्वामिकार्त्तिकेयने चारों शिक्षाव्रतों का विस्तारके साथ विवेचन किया है। सामयिक शिक्षाव्रतके स्वरूपमें आसन, लय, काल आदिका वर्णन द्रष्टव्य है। इन्होंने प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतमें उपवास न कर सकनेवालेके लिए एकभक्त, निर्विकृति आदिके करनेका विधान किया है। अतिथि-संविभाग शिक्षाव्रतमें यद्यपि चारों दानोंका निर्देश किया है, पर आहार दानपर खास जोर देकर कहा है कि एक भोजन दानके देने पर शेष तीन स्वतः ही दे दिये जाते हैं[2]। चौथे देशावकाशिक शिक्षाव्रत में दिशाओंका संकोच और इन्द्रिय-विषयोंका संवरण प्रतिदिन आवश्यक बताया है। इसके पश्चात् सल्लेखना के यथावसर करनेकी सूचना की गई है। सामायिक प्रतिमाके स्वरूपमें कायोत्सर्ग, द्वादश आवर्त्त, दो नमन और चार प्रणाम करनेका विधान किया है। प्रोषध प्रतिमामें सोलह पहरके उपवासका विधान किया है। सचित्तत्यागप्रतिमाधारीके लिए सर्व प्रकारके सचित्त पदार्थोंके खानेका निषेध किया है और साथ ही यह भी आदेश दिया है कि जो स्वयं सचित्त का त्यागी है उसे सचित्त वस्तु अन्यको खानेके लिए देना योग्य नहीं है; क्योंकि खाने और खिलानेमें कोई भेद नहीं है[3]। रात्रि-भोजन-त्याग प्रतिमाधारीके लिए कहा है जो चतुर्विध आहारको स्वयं न खानेके समान अन्यको भी नहीं खिलाता है वही निशि भोजन विरत है[4]। ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारीके लिए देवी, मनुष्यनी, तिर्यंचनी और चित्रगत सभी प्रकारकी स्त्रियोंका मन, वचन, कायसे अभिलाषाके त्यागका विधान किया है। आरम्भविरत प्रतिमाधारीके लिए कृत, कारित और अनुमोदनासे आरम्भका त्याग आवश्यक बताया है[5]। परिग्रह-त्याग प्रतिमामें बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहके त्यागनेका विधान किया है। अनुमतिविरतके लिए

---

१ तेणुवइट्ठो धम्मो संगासत्ताण तह असंगाणं।
पढमो बारहभेओ दसभेओ भासिओ बिदिओ ॥३०४॥
सम्मद्दंसणसुद्धो रहिओ मज्जाइथूलदोसेहिं।
वयधारी सामइओ पव्ववई पासुआहारी ॥३०५॥
राईभोयणविरओ मेहुण-सारंभ-संगचत्तो य।
कज्जाणुमोयविरओ उद्दिट्ठाहारविरओ य ॥३०६॥

२ भोयणदाणे दिण्णे तिण्णि वि दाणाणि होंति दिण्णाणि ॥३६३॥

३ जो णेय भक्खेदि सयं तस्स ण अण्णस्स जुज्जदे दाउं।
भुत्तस्स भोजिदस्स हि णत्थि विसेसो तदो को वि ॥३८०॥

४ जो चउविहं पि भोज्जं रयणीए णेव भुंजदे णाणी।
ण य भुंजावइ अण्णं णिसिविरओ हवे भोज्जो ॥३८२॥

५ जो आरंभं ण कुणदि अण्णं कारयदि णेय अणुमण्णो।
हिंसासंतट्ठमणो चत्तारंभो हवे सो हि ॥३८५॥—स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा

गृहस्थीके किसी भी कार्यमें अनुमतिके देनेका निषेध किया है। उद्दिष्टाहारविरतके लिए याचना-रहित और नवकोटि-विशुद्ध योग्य भोज्यके लेनेका विधान किया गया है। स्वामिकार्त्तिकेयने ग्यारहवीं प्रतिमाके भेदोंका कोई उल्लेख नहीं किया है जिससे पता चलता है कि उनके समय तक इस प्रतिमाके कोई भेद नहीं हुए थे। इस प्रकार दि० परम्परामें सर्वप्रथम हम स्वामिकार्त्तिकेयको श्रावक धर्मका व्यवस्थित प्ररूपण करनेवाला पाते हैं।

आचार्य उमास्वाति

स्वामिकार्त्तिकेयके पश्चात् श्रावक-धर्मका वर्णन उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रमें दृष्टिगोचर होता है। इन्होंने तत्त्वार्थसूत्रके सातवें अध्यायमें व्रतीको सबसे पहले माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्योंसे रहित होना आवश्यक बतलाया, जब कि स्वामिकार्त्तिकेयने दार्शनिक श्रावकको निदान-रहित होना जरूरी कहा था। इसके पश्चात् इन्होंने व्रतीके आगारी और अनगार भेद करके अणुव्रतीको आगारी बताया। पुनः अहिंसादि व्रतोंकी पाँच-पाँच भावनाओंका वर्णन किया और प्रत्येक व्रतके पाँच-पाँच अतीचार बताये। इसके पूर्व न कुन्दकुन्दने अतीचारोंकी कोई सूचना दी है और न स्वामिकार्त्तिकेयने ही उनका कोई वर्णन किया है। तत्त्वार्थ-सूत्रकारने अतीचारोंका यह वर्णन कहाँसे किया, यह एक विचारणीय प्रश्न है। अतीचारोंका विस्तृत वर्णन करने पर भी कुन्द-कुन्द और कार्त्तिकेयके समान उमास्वातिने भी आठ मूल गुणोंका कोई वर्णन नहीं किया है, जिससे पता चलता है कि इनके समय तक मूल गुणोंकी कोई आवश्यकता अनुभव नहीं की गई थी। तत्त्वार्थ-सूत्रमें ग्यारह प्रतिमाओंका भी कोई उल्लेख नहीं है, यह बात उस दशामें विशेष चिन्ताका विषय हो जाती है, जब हम उनके द्वारा व्रतोंकी भावनाओंका और अतीचारोंका विस्तृत वर्णन किया गया पाते हैं। इन्होंने कुन्द-कुन्द और कार्त्तिकेय-प्रतिपादित गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंके नामोंमें भी परिवर्तन किया है। इनके मतानुसार दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदंड-विरति ये तीन गुणव्रत और सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग-परिभोगपरिमाण, अतिथि संविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं। स्वामिकार्त्तिकेय-प्रतिपादित देशावकाशिकको इन्होंने गुणव्रतमें और भोगोपभोग-परिमाणको शिक्षाव्रतमें परिगणित किया है। सूत्रकारने मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाओंका भी वर्णन किया है। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रमें अहिंसादि व्रतोंकी भावनाओं, अतीचारों और मैत्र्यादि भावनाओंके रूपमें तीन विधानात्मक विशेषताओंका तथा अष्टमूलगुण और ग्यारह प्रतिमाओंके न वर्णन करने रूप दो अविधानात्मक विशेषताओंका दर्शन होता है।

स्वामी समन्तभद्र

तत्त्वार्थसूत्रके पश्चात् श्रावकाचारपर स्वतंत्र ग्रन्थ लिखनेवाले स्वामी समन्तभद्रपर हमारी दृष्टि जाती है, जिन्होंने रत्नकरण्डक रचकर श्रावकधर्म-पिपासु एवं जिज्ञासु जनोंके लिए सचमुच रत्नोंका करण्डक (पिटारा) ही उपस्थित कर दिया है। इतना सुन्दर और परिष्कृत विवेचन उनके नामके ही अनुरूप है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचारपर जब हम सूक्ष्म दृष्टि डालते हैं तब यह कहनेमें कोई सन्देह नहीं रहता कि वे अपनी रचनाके लिए कमसे कम चार ग्रन्थोंके आभारी तो हैं ही। श्रावकोंके बारह व्रतोंका, अनर्थदंडके पाँच भेदोंका और प्रतिमाओंका वर्णन असंदिग्ध रूपसे कार्त्तिकेयानुप्रेक्षाका आभारी है। अतीचारोंके वर्णनके लिए तत्त्वार्थसूत्रका सातवाँ अध्याय आधार रहा है। सम्यग्दर्शनकी इतनी विशद महिमाका वर्णन दर्शन-पाहुड, कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा और षट्खंडागमका आभारी है। समाधिमरण तथा मोक्षका विशद वर्णन निःसन्देह भगवती आराधनाका आभारी है। (हालांकि यह कहा जाता है कि समन्तभद्रसे प्रबोधको प्राप्त शिवकोटि आचार्य ने भगवती आराधनाकी रचना की है। पर विद्वानोंमें इस विषयमें मतभेद है और नवीन शोधोंके अनुसार भगवती आराधनाके रचयिता शिवार्य समन्तभद्रसे बहुत पहले सिद्ध होते हैं।) इतना सब कुछ होनेपर भी रत्नकरण्डकमें कुछ ऐसा वैशिष्ट्य है जो अपनी समता नहीं रखता। धर्मकी परिभाषा, सत्यार्थ देव, शास्त्र,

गुरुका स्वरूप, आठ अंगों और तीन मूढ़ताओंके लक्षण, मदोंके निराकरणका उपदेश, सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्रका लक्षण, अनुयोगोंका स्वरूप, सयुक्तिक चारित्रकी आवश्यकता और श्रावकके बारह व्रतों तथा ग्यारह प्रतिमाओंका इतना परिमार्जित और सुन्दर वर्णन अन्यत्र देखनेको नहीं मिलता।

श्रावकोंके आठ मूलगुणोंका सर्वप्रथम वर्णन हमें रत्नकरण्डकमें ही मिलता है। श्वे० परम्पराके अनुसार पाँच अणुव्रत मूल गुण रूप और सात शीलव्रत उत्तर गुण रूप हैं और इस प्रकार श्रावकोंके मूल और उत्तर गुणोंकी सम्मिलित संख्या १२ है। पर दि० परम्परामें श्रावकोंके मूलगुण ८ और उत्तरगुण १२ माने जाते हैं। स्वामिसमन्तभद्रने पाँच स्थूल पापोंके और मद्य, मांस, मधुके परित्यागको अष्टमूलगुण कहा है[1], पर श्रावकके उत्तरगुणोंकी संख्याका कोई उल्लेख नहीं किया है। हाँ, परवर्त्ती सभी आचार्योंने उत्तर-गुणों की संख्या १२ ही बताई है[2]।

इसके अतिरिक्त समन्तभद्रने अपने सामने उपस्थित आगम साहित्यका अवगाहन कर और उनके तत्त्वों को अपनी परीक्षा-प्रधान दृष्टिसे कसकर बुद्धि-ग्राह्य ही वर्णन किया है। उदाहरणार्थ—तत्त्वार्थसूत्रके सन्मुख होते हुए भी उन्होंने देशावकाशिकको गुणव्रत न मानकर शिक्षाव्रत माना और भोगोपभोग परिमाणको चारित्रपाहुड कार्त्तिकेयानुप्रेक्षाके समान गुणव्रत ही माना। उनकी दृष्टि इस बातपर अटकी कि शिक्षाव्रत तो अल्पकालिक साधना रूप होते हैं, पर भोगोपभोगका परिमाण तो यमरूपसे यावज्जीवनके लिए भी होता है फिर उसे शिक्षा-व्रतोंमें कैसे गिना जाय! इसके साथ ही दूसरा संशोधन देशावकाशिकको स्वामिकार्त्तिकेयके समान चौथा शिक्षा-व्रत न मानकर प्रथम माननेके रूपमें किया। उनकी तार्किक दृष्टिने उन्हें बताया कि सामायिक और प्रोषधो-पवासके पूर्व ही देशाविकाशिकका स्थान होना चाहिए क्योंकि उन दोनोंकी अपेक्षा इसके कालकी मर्यादा अधिक है। इसके सिवाय उन्होंने आ० कुन्दकुन्दके द्वारा प्रतिपादित सल्लेखनाको शिक्षा व्रत रूपसे नहीं माना। उनकी दार्शनिक दृष्टिको यह जँचा ही नहीं कि मरणके समय की जानेवाली सल्लेखना जीवन भर अभ्यास किये जानेवाले शिक्षाव्रतोंमें कैसे स्थान पा सकती है? अतः उन्होंने उसके स्थानपर वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रतको कहा। सूत्रकारने अतिथि-संविभाग नामक चौथा शिक्षाव्रत कहा है, पर उन्हें यह नाम भी कुछ संकुचित या अव्यापक जँचा, क्योंकि इस व्रतके भीतर वे जितने कार्योंका समावेश करना चाहते थे, वे सब अतिथि-संविभाग नामके भीतर नहीं आ सकते थे। उक्त संशोधनोंके अतिरिक्त अतीचारोंके विषयमें भी उन्होंने कई संशोधन किये। तत्त्वार्थसूत्रगत परिग्रहपरिमाणव्रतके पाँचों अतीचार तो एक 'अतिक्रमण' नाममें ही आ जाते हैं, फिर उनके पंचरूपताकी क्या सार्थकता रह जाती है, अतः उन्होंने उसके स्वतंत्र ही पाँच अतीचारोंका प्रतिपादन किया[3]। इसी प्रकार तत्त्वार्थसूत्रगत भोगोपभोग-परिमाणके अतीचार भी उन्हें अव्यापक प्रतीत हुए, क्योंकि वे केवल भोगपर ही घटित होते हैं, अतः इस व्रतके भी स्वतंत्र अतीचारोंका निर्माण किया[4]। और यह दिखा दिया कि वे गतानुगतिक या आज्ञाप्रधानी न होकर परीक्षाप्रधानी हैं। इसी प्रकार एक संशोधन उन्होंने ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतीचारोंमें भी किया। उन्हें इत्वरिकापरिगृहीतागमन और इत्वरिकाअपरिगृहीतागमनमें कोई खास भेद दृष्टि-

---

१ मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥६६॥—रत्नक०

२ अणुव्रतानि पंचैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि गुणाः स्युर्द्वादशोत्तरे ॥—यशस्तिलक० आ० ७.

३ अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि।
परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पंच लक्ष्यन्ते ॥६२॥—रत्नक०

४ विषयविषतोऽनुपेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवौ।
भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमाः पंच कथ्यन्ते ॥९०॥—रत्नक०

गोचर नहीं हुआ, क्योंकि स्वदारसन्तोषीके लिए तो दोनों ही परस्त्रियाँ हैं। अतः उन्होंने उन दोनोंके स्थानपर एक इत्वरिकागमनको रखकर 'विटत्व' नामक एक और अतीचारकी स्वतंत्र कल्पना की, जो कि ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतीचार होनेके सर्वथा उपयुक्त है।

श्रावकधर्मके प्रतिपादन करनेवाले आदिके दोनों ही प्रकारोंको हम रत्नकरण्डकमें अपनाया हुआ देखते हैं, तथापि ग्यारह प्रतिमाओंका ग्रन्थके सबसे अन्तमें वर्णन करना यह बतलाता है कि उनका झुकाव प्रथम प्रकारकी अपेक्षा दूसरे प्रतिपादन-प्रकारकी ओर अधिक रहा है।

अर्हत्पूजनको वैयावृत्त्यके अन्तर्गत वर्णन करना रत्नकरण्डककी सबसे बड़ी विशेषता है। इसके पूर्व पूजनको श्रावक-व्रतोंमें किसीने नहीं कहा है। सम्यक्त्वके आठ अंगोंमें, पाँच अणुव्रतोंमें, पाँच पापोंमें और चारों दानोंके देनेवालोंमें प्रसिद्धिको प्राप्त करनेवालोंके नामोंका उल्लेख रत्नकरण्डककी एक खास विशेषता है, जो कि इसके पूर्वतक किसी ग्रन्थमें दृष्टिगोचर नहीं होती। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी समन्तभद्रने श्रावक-धर्मको पर्याप्त पल्लवित और विकसित किया और उसे एक व्यवस्थित रूप देकर भविष्यकी पीढ़ीके लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया।

आचार्य जिनसेन

स्वामिसमन्तभद्रके पश्चात् श्रावकाचारका विस्तृत वर्णन जिनसेनाचार्यके महापुराणमें मिलता है। जिनसेनने ही ब्राह्मणोंकी उत्पत्तिका आश्रय लेकर दीक्षान्वय आदि क्रियाओंका बहुत विस्तृत वर्णन किया है और उन्होंने ही सर्वप्रथम पक्ष, चर्या और साधनरूपसे श्रावकधर्मका प्रतिपादन किया है, जिसे कि परवर्ती प्रायः सभी श्रावकाचार-रचयिताओंने अपनाया है। आ० जिनसेनने इन नाना प्रकारकी क्रियाओंका और उनके मंत्रादिकोंका वर्णन कहाँसे किया, इस बातको जाननेके लिए हमारे पास कोई साधन नहीं हैं। हाँ, स्वयं उन्हींके उल्लेखोंसे यह अवश्य ज्ञात होता है कि उनके सामने कोई उपासकसूत्र या इसी नामका कोई ग्रन्थ अवश्य था, जिसका एकाधिक बार उल्लेख उन्होंने आदिपुराणके ४०वें पर्वमें किया है। संभव है, उसीके आधारपर उन्होंने पक्ष, चर्या, साधनरूपसे श्रावकधर्मके प्रतिपादन करनेवाले तीसरे प्रकारको अपनाया हो। इन्होंने बारह व्रतोंके नाम आदिमें तो कोई परिवर्त्तन नहीं किया है, पर आठ मूलगुणोंमें मधुके स्थानपर द्यूतका त्याग आवश्यक बताया है। इस द्यूतको यदि शेष व्यसनोंका उपलक्षण मानें, तो यह अर्थ निकलता है कि पाक्षिक श्रावकको कमसे कम सात व्यसनोंका त्याग और आठ मूलगुणोंका धारण करना अत्यन्त आवश्यक है। संभवतः इसी तर्कके बलपर पं० आशाधरजी आदिने पाक्षिक श्रावकके उक्त कर्त्तव्य बताये हैं। जिनसेनके पूर्व हम किसी आचार्यको व्यसनोंके त्यागका उल्लेख करते नहीं पाते, इससे पता चलता है कि समन्तभद्रके पश्चात् और जिनसेनके पूर्व लोगोंमें सप्तव्यसनोंकी प्रवृत्ति बहुत जोर पकड़ गई थी, और इसलिए उन्हें उसका निषेध यथास्थान करना पड़ा। आ० जिनसेनने पूजाको चौथे शिक्षाव्रतके भीतर न मानकर गृहस्थका एक स्वतंत्र कर्त्तव्य माना और उसके नित्यमह, आष्टाह्निकमह, चतुर्मुखमह, महामह आदि भेद करके उसके विभिन्न काल और अधिकारी घोषित किये। जिनचैत्य, जिनचैत्यालय आदिके निर्माणपर भी जिनसेनने ही सर्वप्रथम जोर दिया है। हालाँकि, रविषेणाचार्य आदिकने अपने पद्मपुराण आदि ग्रन्थोंमें पूजन-अभिषेक आदिका यथास्थान वर्णन किया है, पर उनका व्यवस्थित रूप हमें सर्वप्रथम आदिपुराणमें ही दृष्टिगोचर होता है। वर्तमानमें उपलब्ध गर्भाधानादि यावन्मात्र संस्कारों और क्रियाकांडोंके प्रतिष्ठापक जिनसेन ही माने जाते हैं पर वे स्वयं अविद्धकर्णा थे अर्थात् उनका कर्णवेधन संस्कार नहीं हुआ था, यह जयधवलाकी प्रशस्तिसे स्पष्ट है।

आचार्य सोमदेव

आ० सोमदेवने अपने प्रसिद्ध और महान् ग्रन्थ यशस्तिलकके छठे, सातवें और आठवें आश्वासमें श्रावकधर्मका बहुत विस्तारसे वर्णन किया है और इसलिए उन्होंने स्वयं ही उन आश्वासोंका नाम 'उपासका-

ध्ययन' रखा है। सोमदेवने समन्तभद्रके रत्नकरण्डकको आधार बनाकर अपने उपासकाध्ययनका निर्माण किया है, ऐसा प्रत्येक अभ्यासीको प्रतीत हुए विना न रहेगा।

छठे आश्वासमें उन्होंने समस्त मतोंकी चर्चा करके तत्तन्मतों द्वारा स्वीकृत मोक्षका स्वरूप बतलाकर और उनका निरसन कर जैनाभिमत मोक्षका स्वरूप प्रतिष्ठित किया कि जहाँपर 'आत्यन्तिक आनन्द, ज्ञान, ऐश्वर्य, वीर्य और परम सूक्ष्मता है, वही मोक्ष है'[1] और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक ही उसका मार्ग है। पुनः आप्तके स्वरूपकी विस्तारके साथ मीमांसा करके आगम-वर्णित पदार्थोंकी परीक्षा की और मूढ़ताओंका उन्मथन करके सम्यक्त्वके आठ अंगोंका एक नवीन शैलीसे विस्तृत वर्णन किया और साथ ही प्रत्येक अंगमें प्रसिद्धि पानेवाले व्यक्तियोंका चरित्र-चित्रण किया। इसी आश्वासके अन्तमें उन्होंने सम्यक्त्वके विभिन्न भेदों और दोषोंका वर्णन कर सम्यक्त्वकी महत्ता बतलाकर रत्नत्रयकी आवश्यकता बतलाई और उसका फल बतलाया कि सम्यक्त्वसे सुगति, ज्ञानसे कीर्ति, चारित्रसे पूजा और तीनोंसे मुक्ति प्राप्त होती है[2]।

सातवें आश्वासमें मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बरफलोंके त्यागको अष्टमूल गुण बताया[3]। जहाँ-तक मैं समझता हूँ, स्वामि-प्रतिपादित और जिनसेन-अनुमोदित पंच अणुव्रतोंके स्थानपर पंच-उदुम्बर-परित्यागका उपदेश देवसेन और सोमदेवने ही किया है, जिसे कि परवर्त्ती सभी विद्वानोंने माना है। सोमदेवने आठ मूलगुणोंका प्रतिपादन करते हुए 'उक्ता मूलगुणाः श्रुते' ऐसा जो कथन किया है, उससे यह अवश्य ज्ञात होता है कि उनके सामने कोई ऐसा शास्त्राधार अवश्य रहा है, जिसमें कि पाँच उदुम्बर-त्यागको मूलगुणोंमें परिगणित किया गया है। जिनसेन और सोमदेवके मध्य यद्यपि अधिक समयका अन्तर नहीं है, तथापि जिनसेनने मूलगुणोंमें पाँच अणुव्रतोंको और सोमदेवने पाँच उदुंबर फलोंके त्यागको कहा है, दोनोंका यह कथन रहस्यसे रिक्त नहीं है और ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय मूलगुणोंके विषयमें स्पष्टतः दो परम्पराएँ चल रही थीं, जिनमेंसे एकका समर्थन जिनसेन और दूसरेका समर्थन सोमदेवने किया है। इतनेपर भी आश्चर्य इस बातका है कि दोनों ही अपने-अपने कथनकी पुष्टिमें श्रुतपठित-उपासकाध्ययन[4] या उपासक सूत्रका[5] आश्रय लेते हैं, जिससे यह निश्चय होता है कि दोनोंके सामने उपस्थित उपासकाध्ययन या उपासक सूत्र सर्वथा भिन्न ग्रन्थ रहे हैं। दुःख है कि आज वे दोनों ही उपलब्ध नहीं हैं और उनके नाम शेष रह गये हैं।

मद्य, मांसादिकके सेवनमें महापापको बतलाते हुए आ० सोमदेवने उनके परित्यागपर ज़ोर दिया और बताया कि 'मांस-भक्षियोंमें दया नहीं होती, मद्य-पान करनेवालोंमें सत्य नहीं होता, तथा मधु और उदुम्बर-फल-सेवियोंमें नृशंसता-क्रूरताका अभाव नहीं होता[6]। इस प्रकरणमें मांस न खानेके लिए जिन युक्तियोंका प्रयोग सोमदेवने किया है, परवर्त्ती समस्त ग्रन्थकारोंने उनका भरपूर उपयोग किया है।

---

१ आनन्दो ज्ञानमैश्वर्यं वीर्यं परमसूक्ष्मता।
एतदात्यन्तिकं यत्र स मोक्षः परिकीर्त्तितः॥—यश० आ० ६.

२ सम्यक्त्वात्सुगतिः प्रोक्ता ज्ञानात्कीर्त्तिरुदाहृता।
वृत्तात्पूजामवाप्नोति त्रयाच्च लभते शिवम्॥—यश० आ० ६.

३ मद्यमांसमधुत्यागैः सहोदुम्बरपञ्चकैः।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणा श्रुते॥—यश० आ० ७.

४ इयता ग्रन्थेन मया प्रोक्तं चरितं यशोधरनृपस्य।
इत उत्तरं तु वक्ष्ये श्रुतपठितमुपासकाध्ययनम्॥—यश० आ० ५

५ गुणेष्वेव विशेषोऽन्यो यो वाच्यो बहुविस्तरः।
स उपासकसिद्धान्तादधिगम्यः प्रपञ्चतः॥२१३॥—आदिपु० पर्व ४०

६ मांसादिषु दया नास्ति, न सत्यं मद्यपायिषु।
अनृशंस्यं न मर्त्येषु मधूदुम्बरसेविषु॥—यश० आ० ७

आठ मूलगुणोंके पश्चात् श्रावकोंके बारह उत्तर गुणोंका वर्णन किया गया है। श्रावकोंके उत्तर गुणोंकी संख्याका ऐसा स्पष्ट उल्लेख इनके पूर्ववर्ती ग्रन्थोंमें देखनेमें नहीं आया। सोमदेवने पाँच अणुव्रतोंका वर्णन कर पाँचों पापोंमें प्रसिद्ध होनेवाले पुरुषोंके चरित्रोंका चित्रण किया और अहिंसाव्रतके रक्षार्थ रात्रिभोजनके परिहारका, भोजनके अन्तरायोंका, और अभक्ष्य वस्तुओंके सेवनके परित्यागका वर्णन किया। पुनः मैत्री, प्रमोद आदि भावनाओंका वर्णन कर पुण्य-पापका प्रधान कारण परिणामोंको बतलाते हुए मन-वचन-काय सम्बन्धी अशुभ क्रियाओंके परित्यागका उपदेश दिया। इसी प्रकरणमें उन्होंने यज्ञोंमें पशुबलिकी प्रवृत्ति कबसे कैसे प्रचलित हुई इसका भी सविस्तर वर्णन किया। अन्तमें प्रत्येक व्रतके लौकिक लाभोंको बताया, जो कि उनकी लोकसंग्राहक मनोवृत्तिका ज्वलंत उदाहरण है। इसी आश्वासमें दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रतरूप तीनों गुणव्रतोंका वर्णन किया है, जो कि अत्यन्त संक्षिप्त होते हुए भी अपने आपमें पूर्ण और अपूर्व हैं।

आठवें आश्वासमें शिक्षाव्रतों का वर्णन किया गया है, जिसमें से बहु भाग स्थान सामयिक-शिक्षाव्रत के वर्णन ने लिया है। सोमदेव ने आप्तसेवा या देवपूजा को सामायिक कहा है[1]। अतएव उन्होंने इस प्रकरण में स्नपन(अभिषेक) पूजन, स्तोत्र, जप, ध्यान और श्रुतस्तव इन छह कर्त्तव्योंका करना आवश्यक बताकर उनका खूब विस्तारसे वर्णन किया है[2], जो कि अन्यत्र देखनेको नहीं मिलेगा। यहाँ यह एक विचारणीय बात है कि जब स्वामी समन्तभद्रने देवपूजाको वैयावृत्त्य नामक चतुर्थ शिक्षाव्रतके अन्तर्गत कहा है, तब सोमदेवसूरिने उसे सामायिक शिक्षाव्रतके अन्तर्गत करके एक नवीन दिशा विचारकोंके सामने प्रस्तुत की है। आ० जिनसेनने इज्याओंके अनेक भेद करके उनका विस्तृत वर्णन किया है, पर जहाँ तक मैं समझता हूँ उन्होंने देवपूजाको किसी शिक्षाव्रतके अन्तर्गत न करके एक स्वतन्त्र कर्त्तव्यके रूपसे उसका प्रतिपादन किया है। देवपूजाको वैयावृत्यके भीतर कहनेकी आ० समन्तभद्रकी दृष्टि स्पष्ट है, वे उसे देव-वैयावृत्य मानकर तदनुसार उसका प्रतिपादन कर रहे हैं। पर सोमदेवसूरिने सामायिक शिक्षाव्रतके भीतर देवपूजाका वर्णन क्यों किया, इस प्रश्नके तलमें जब हम प्रवेश करते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य मतावलम्बियोंमें प्रचलित त्रिसन्ध्या-पूजनका समन्वय करनेके लिए मानों उन्होंने ऐसा किया है; क्योंकि सामायिकके त्रिकाल करनेका विधान सदासे प्रचलित रहा है। आ० समन्तभद्रने सामायिक प्रतिमाके वर्णनमें 'त्रिसन्ध्यमभिवन्दी' पद दिया है, ऐसा प्रतीत होता है कि सोमदेवसूरिने उसे ही पल्लवित करके भावपूजनकी प्रधानतासे गृहस्थके नित्य-नियम में प्रचलित षडावश्यकोंके अन्तर्गत माने जानेवाले सामायिक और वन्दना नामके दो आवश्यकोंको एक मान करके ऐसा वर्णन किया है।

पूजनके विषयमें दो विधियाँ सर्वसाधारणमें सदासे प्रचलित रही हैं—एक तदाकार मूर्त्तिपूजा और दूसरी अतदाकार सांकल्पिक पूजा। प्रथम प्रकारमें स्नपन और अष्टद्रव्यसे अर्चन प्रधान है, तब द्वितीय प्रकारमें अपने आराध्य देवकी आराधना-उपासना या भावपूजा प्रधान है। तीनों संध्याएँ सामायिकका काल मानी गई हैं, उस समय गृहस्थ गृहकार्योंसे निर्द्वन्द्व होकर अपने उपास्य देवकी उपासना करे, यही उसका सामायिक शिक्षाव्रत है। आ० सोमदेव त्रैकालिक सामायिककी भावना करते हुए कहते हैं :—

प्रातर्विधिस्तव पदाम्बुजपूजनेन मध्याह्नसन्निधिरयं मुनिमाननेन।
सायंतनोऽपि समयो मम देव यायान्नित्यं त्वदाचरणकीर्त्तनकामितेन॥

अर्थात्—हे देव, मेरा प्रातःकालका समय तेरे चरणारविन्दके पूजनके द्वारा, मध्याह्नकाल मुनिजनोंके सम्मानके द्वारा और सायंतन समय तेरे आचरणके कीर्त्तन द्वारा व्यतीत होवे।

---

१ **आप्तसेवोपदेशः स्यात्समयः समयार्थिनाम्।**
नियुक्तं तत्र यत्कर्म तत्सामायिकमूचिरे॥—यश० आ० ८

२ **स्नपनं पूजनं स्तोत्रं जपो ध्यानं श्रुतस्तवः।**
षोढा क्रियोदिता सद्भिर्देवसेवासु गेहिनाम्॥—यश० आ० ८

आ० सोमदेवके इस कथनसे एक और नवीन बातपर प्रकाश पड़ता है, वह यह कि वे प्रातःकालके मौनपूर्वक पूजनको, मध्याह्नमें भक्तिपूर्वक दिये गये मुनि-दानको और शामको की गई तत्त्वचर्चा, स्तोत्र पाठ या धर्मोपदेश आदिको ही गृहस्थकी त्रैकालिक सामायिक मान रहे हैं।

इसी प्रकरणमें स्तवन, नाम-जपन और ध्यान-विधिका भी विस्तारसे वर्णन किया गया है। प्रोषधोपवास और भोगोपभोग-परिमाणका संक्षेपसे वर्णन कर अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रतका यथाविधि, यथादेश, यथाआगम, यथापात्र और यथाकालके आश्रयसे विस्तृत वर्णन किया है। अन्तमें दाताके सप्तगुण और नवधा भक्तिकी चर्चा करते हुए कहा है कि भोजनमात्रके देनेमें तपस्वियोंकी क्या परीक्षा करना ? यही एक बड़ा आश्चर्य है कि आज इस कलिकालमें—जब कि लोगोंके चित्त अत्यन्त चंचल हैं, और देह अन्नका कीट बना हुआ है, तब हमें जिनरूपधारी मनुष्योंके दर्शन हो रहे हैं। अतः उनमें प्रतिमाओंमें अर्हन्तकी स्थापनाके समान पूर्व मुनियोंकी स्थापना करके उन्हें पूजना और भक्तिपूर्वक आहार देना चाहिए[1]। साधुओंकी वैयावृत्त्य करनेपर भी अधिक जोर दिया गया है।

अन्तमें उन्होंने श्रावकोंकी ग्यारह प्रतिमाओंके नाममात्र दो श्लोकोंमें गिनाये हैं, इसके अतिरिक्त उनके ऊपर अन्य कोई विवेचन नहीं किया है। वे श्लोक इस प्रकार हैं:—

मूलव्रतं व्रतान्यर्चा पर्वकर्माकृषिक्रियाः।
दिवा नवविधं ब्रह्म सचित्तस्य विवर्जनम् ॥
परिग्रहपरित्यागो भुक्तिमात्रानुमान्यता।
तद्धानौ च वदन्त्येतान्येकादश यथाक्रमम् ॥

अर्थात्—१ मूलव्रत, २ उत्तरव्रत, ३ अर्चा या सामायिक, ४ पर्वकर्म या प्रोषध, ५ अकृषिक्रिया या पापारम्भत्याग, ६ दिवा ब्रह्मचर्य, ७ नवधा ब्रह्मचर्य, ८ सचित्तत्याग, ९ परिग्रहत्याग, १० भुक्तिमात्रानुमान्यता या शेषानुमति त्याग, ११ भुक्ति अनुमतिहानि या उद्दिष्ट भोजनत्याग ये यथाक्रमसे ग्यारह श्रावक-पद माने गये हैं।

दि० परम्पराकी प्रचलित परम्पराके अनुसार सचित्तत्यागको पाँचवीं और कृषि आदि आरम्भके त्यागको आठवीं प्रतिमा माना गया है, पर सोमदेवके तर्कप्रधान एवं बहुश्रुत चित्तको यह बात नहीं जँची कि कोई व्यक्ति सचित्त भोजन और स्त्रीका परित्यागी होनेके पश्चात् भी कृषि आदि पापारम्भवाली क्रियाओंको कर सकता है ? अतः उन्होंने आरम्भ त्यागके स्थानपर सचित्त त्याग और सचित्त त्यागके स्थानपर आरम्भ-त्याग प्रतिमाको गिनाया। श्वे० आचार्य हरिभद्रने भी सचित्तत्यागको आठवीं प्रतिमा माना है। सोमदेवके पूर्ववर्ती या परवर्ती किसी भी दि० आचार्यके द्वारा उनके इस मतकी पुष्टि नहीं दिखाई देती। इसके पश्चात् प्रतिमाओंके विषयमें एक और श्लोक दिया है जो कि इस प्रकार है :—

अवधिव्रतमारोहेत्पूर्व-पूर्वव्रतस्थितः।
सर्वत्रापि समाः प्रोक्ता ज्ञानदर्शनभावनाः ॥—यशस्ति० आ० ८

अर्थात्—पूर्व पूर्व प्रतिमारूप व्रतमें स्थित होकर अवधि व्रतपर आरोहण करे। ज्ञान और दर्शनकी भावनाएँ तो सभी प्रतिमाओंमें समान कही हैं।

इस पद्यमें दिया गया 'अवधिव्रत' पद खास तौरसे विचारणीय है। क्या सोमदेव इस पदके द्वारा श्वेताम्बर-परम्पराके समान प्रतिमाओंके नियत-कालरूप अवधिका उल्लेख कर रहे हैं, अथवा अन्य कोई अर्थ उन्हें अभिप्रेत है ?

---

१ **भुक्तिमात्रप्रदाने हि का परीक्षा तपस्विनाम्। ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्धयति।**
काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके। एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः ॥
यथा पूज्यं जिनेन्द्राणां रूपं लेपादिनिर्मितम्। तथा पूर्वमुनिच्छाया पूज्याः संप्रति संयताः ॥
—यशस्ति०, आ० ८

अन्तमें उपासकाध्ययनका उपसंहार करते हुए प्रकीर्णक प्रकरण द्वारा अनेक अनुक्त या दुरुक्त बातोंका भी स्पष्टीकरण किया गया है। सोमदेवके इस समुच्चय उपासकाध्ययनको देखते हुए निःसन्देह कहा जा सकता है कि यह सचमुचमें उपासकाध्ययन है और इसमें उपासकोंका कोई कर्त्तव्य कहनेसे नहीं छोड़ा गया है। केवल श्रावक-प्रतिमाओंका इतना संक्षिप्त वर्णन क्यों किया, यह बात अवश्य चित्तको खटकती है।

आचार्य देवसेन

आ० देवसेनने अपने भावसंग्रह नामक ग्रन्थमें पाँचवें गुणस्थानका वर्णन करते हुए श्रावक-धर्मका विस्तृत विवेचन किया है। इन्होंने भी सोमदेवके समान ही पाँच उदुम्बर और मद्य, मांस, मधुके त्यागको आठ मूलगुण माना है[1]। पर गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंके नाम कुन्दकुन्दके समान ही बतलाये हैं[2]।

यद्यपि आ० देवसेनने पूरी २५० गाथाओंमें पाँचवें गुणस्थानका वर्णन किया है, पर अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतका वर्णन एक-एक ही गाथामें कर दिया है; वह भी आ० कुंदकुंदके समान केवल नामोंको ही गिनाकर। ऐसा प्रतीत होता है मानो इन्हें बारह व्रतोंका अधिक वर्णन करना अभीष्ट नहीं था। ऐसा करनेका कारण यह प्रतीत होता है कि अन्य आचार्योंने उनपर पर्याप्त लिखा है, अतः उन्होंने उनपर कुछ और लिखना व्यर्थ समझा। इन्होंने ग्यारह प्रतिमाओंका वर्णन करना तो दूर रहा, उनका नामोल्लेख तक भी नहीं किया है, न सप्त व्यसनों, बारह व्रतोंके अतीचारोंका ही कोई वर्णन किया है। संभवतः अपने ग्रन्थ 'भावसंग्रह' इस नामके अनुरूप उन्हें केवल भावोंका ही वर्णन करना अभीष्ट रहा हो, यही कारण है कि उन्होंने गृहस्थोंके पुण्य, पाप और धर्मध्यानरूप भावोंका खूब विस्तारसे विचार किया है। इस प्रकरणमें उन्होंने यह बताया है कि गृहस्थके निरालंब ध्यान संभव नहीं, अतः उसे सालंब ध्यान करना चाहिये[3]। सालंब ध्यान भी गृहस्थके सर्वदा संभव नहीं हैं, अतः उसे पुण्य-वर्धक कार्य, पूजा, व्रत-विधान उपवास और शीलका पालन करना चाहिए, तथा चारों प्रकारका दान देते रहना चाहिए[4]। अपने इस वर्णनमें उन्होंने देवपूजापर खास जोर दिया है और लिखा है कि सम्यग्दृष्टिका पुण्य मोक्षका कारण होता है, अतः उसे यत्नके साथ पुण्यका उपार्जन करना चाहिए[5]। पूजाके अभिषेकपूर्वक करनेका विधान किया है।

१ महुमज्जमंसविरई चाओ पुण उंबराण पंचण्हं।
अट्ठेदे मूलगुणा हवंति फुडु देसविरयम्मि ॥३५६॥—भावसंग्रह

२ देखो—भावसं० गा० नं० ३५४-३५५,

३ जो भणइ को वि एवं अत्थि गिहत्थाण णिच्चलं झाणं।
सुद्धं च णिरालंबं ण मुणइ सो आयमो जइणो ॥३८२॥
तम्हा सो सालंबं झायउ झाणं पि गिहवई णिच्चं।
पंचपरमेट्ठिरूवं अहवा मंतक्खरं तेसिं ॥३८८॥

४ इय णाऊण विसेसं पुण्णं आयरइ कारणं तस्स।
पावहणं जाम सयलं संजमयं अप्पमत्तं च ॥४८७॥
भावइ अणुव्वयाइं पालइ सीलं च कुणइ उपवासं।
पव्वे पव्वे णियमं दिज्जइ अणवरइ दाणाइं ॥४८८॥

५ तम्हा सम्मादिट्ठी पुण्णं मोक्खस्स कारणं हवइ।
इय णाऊण गिहत्थो पुण्णं चायरउ जत्तेण ॥४२४॥
पुण्णस्स कारणं फुडु पढमं ता हवइ देवपूया य।
कायव्वा भत्तीए सावयवग्गेण परमाए ॥४२५॥—भावसंग्रह

इस प्रकरणमें उन्होंने सिद्धचक्रयंत्र आदि पूजा-विधानका, चारों दानोंका, उनकी विधि, द्रव्य, दाता और पात्रकी विशेषताका, तथा दानके फलका विस्तारसे वर्णन किया है। और अन्तमें पुण्यका फल बताते हुए लिखा है कि पुण्यसे ही विशाल कुल प्राप्त होता है, पुण्यसेही त्रैलोक्यमें कीर्त्ति फैलती है, पुण्यसे ही अतुलरूप, सौभाग्य यौवन और तेज प्राप्त होता हैं, अतः गृहस्थ जब तक घरको और घर-सम्बन्धी पापोंको नहीं छोड़ता है, तब तक उसे पुण्यके कारणोंको भी नहीं छोड़ना चाहिए,[1] अर्थात् सदा पुण्यका संचय करते रहना चाहिए।

यदि एक शब्दमें कहा जाय तो आ० देवसेनके मतानुसार पुण्यका उपार्जन करना ही श्रावकका धर्म है। और आ० कुन्दकुन्दके समान पूजा और दान ही श्रावकका मुख्य कर्त्तव्य है।

आचार्य अमितगति

आ० सोमदेवके पश्चात् संस्कृत साहित्यके प्रकाण्ड विद्वान् आ० अमितगति हुए हैं। इन्होंने विभिन्न विषयोंपर अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है। श्रावकधर्मपर भी एक स्वतंत्र उपासकाध्ययन बनाया है, 'जो अमितगतिश्रावकाचार' नामसे प्रसिद्ध है। इसमें १४ परिच्छेदोंके द्वारा श्रावकधर्मका बहुत विस्तारके साथ वर्णन किया है। संक्षेपमें यदि कहा जाय, तो अपने पूर्ववर्त्ती समन्तभद्रके रत्नकरण्डक, उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका सप्तम अध्याय, जिनसेनका महापुराण, सोमदेवका उपासकाध्ययन और देवसेनका भावसंग्रह सामने रखकर अपनी स्वतंत्र सरणिद्वारा श्रावकधर्मका प्रतिपादन किया है और उसमें यथास्थान अनेक विषयोंका समावेश करके उसे पल्लवित एवं परिवर्धित किया है।

आ० अमितगतिने अपने इस ग्रन्थके प्रथम परिच्छेदमें धर्मका माहात्म्य, द्वितीय परिच्छेदमें मिथ्यात्वकी अहितकारिता और सम्यक्त्वकी हितकारिता, तीसरेमें सप्ततत्त्व, चौथेमें आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि और ईश्वर सृष्टिकर्तृत्वका खंडन किया है। अन्तिम तीन परिच्छेदोंमें क्रमशः शील, द्वादश तप और बारह भावनाओंका वर्णन किया है। मध्यवर्ती परिच्छेदोंमें रात्रिभोजन, अनर्थदंड, अभक्ष्य-भोजन, तीन शल्य, दान, पूजा और सामायिकादि षडावश्यकोंका विस्तारके साथ वर्णन किया है। पर हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि श्रावकधर्मके आधारभूत बारह व्रतोंका वर्णन एक ही परिच्छेद में समाप्त कर दिया गया है। और श्रावकधर्मके प्राणभूत ग्यारह प्रतिमाओंके वर्णनको तो एक स्वतन्त्र परिच्छेदकी भी आवश्यकता नहीं समझी गई है, मात्र ११ श्लोकोंमें बहुत ही साधारण ढंगसे प्रतिमाओंका स्वरूप कहा गया है। स्वामी समन्तभद्रने भी एक-एक श्लोकके द्वारा ही एक-एक प्रतिमाका वर्णन किया है, पर वह सूत्रात्मक होते हुए भी बहुत स्पष्ट और विस्तृत है। प्रतिमाओंके संक्षिप्त विवेचनका आरोप सोमदेव सूरिपर भी लागू है। इन श्रावकाचार-रचयिताओंको ग्यारह प्रतिमाओंका वर्णन करना क्या रुचिकर नहीं था या अन्य कोई कारण है, कुछ समझमें नहीं आता?

आ० अमितगतिसे सप्तव्यसनोंका वर्णन यद्यपि ४६ श्लोकोंमें किया है, पर वह बहुत पीछे। यहाँ तक कि १२ व्रत, समाधिमरण और ११ प्रतिमाओंका वर्णन कर देनेके पश्चात् स्फुट विषयोंका वर्णन करते हुए। क्या अमितगति वसुनन्दिके समान सप्त व्यसनोंके त्यागको श्रावकका आदि कर्त्तव्य नहीं मानते थे? यह एक प्रश्न है, जिसके अन्तस्तलमें बहुत कुछ रहस्य निहित प्रतीत होता है। विद्वानोंको इस ओर गंभीर एवं सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेकी आवश्यकता है।

१ पुण्णेण कुलं विउलं कित्ती पुण्णेण भमइ तइलोए।
पुण्णेण रूवमतुलं सोहग्गं जोवणं तेयं ॥५८६॥
जाम ण छंडइ गेहं ताम ण परिहरइ इंतयं पावं।
पावं अपरिहरंतो हेओ पुण्णस्स मा चयउ ॥३९३॥

—भावसंग्रह

आ० अमितगतिने गुणव्रत तथा शिक्षा-व्रतोंके नामोंमें उमास्वातिका और स्वरूप वर्णनमें सोमदेवका अनुसरण किया है। पूजनके वर्णनमें देवसेनका अनुसरण करते हुए भी अनेक ज्ञातव्य बातें कहीं हैं। निदानके प्रशस्त अप्रशस्त भेद, उपवासकी विविधता, आवश्यकोंमें स्थान, आसन, मुद्रा, काल आदिका वर्णन अमितगतिके उपासकाध्ययनकी विशेषता है। यदि एक शब्दमें कहा जाय, तो अपने पूर्ववर्ती उपासकाचारोंका संग्रह और उनमें कहनेसे रह गये विषयोंका प्रतिपादन करना ही अमितगतिका लक्ष्य रहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र

आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंके अमर टीकाकार अमृतचन्द्राचार्यने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामके एक स्वतंत्र ग्रन्थकी रचना की है। इसमें उन्होंने बताया है कि जब यह चिदात्मा पुरुष अचल चैतन्यको प्राप्त कर लेता है तब वह परम पुरुषार्थ रूप मोक्षकी सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। इस मुक्तिकी प्राप्तिका उपाय बताते हुए सर्वप्रथम सम्यग्दर्शनका बहुत सुन्दर विवेचन किया। पुनः सम्यग्ज्ञानकी आराधनाका उपदेश दिया। तदनन्तर सम्यक्-चारित्रकी व्याख्या करते हुए हिंसादि पापोंकी एक देश विरतिमें निरत उपासकका वर्णन किया है। इस प्रकरणमें अहिंसाका जो अपूर्व वर्णन किया गया है, वह इसके पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थमें दृष्टिगोचर नहीं होता। सर्व पापोंकी मूल हिंसा है, अतः उसीके अन्तर्गत सर्व पापोंको घटाया गया है और बताया गया है कि किस प्रकार एक हिंसा करे और अनेक हिंसाके फलको प्राप्त हों, अनेक हिंसा करें और एक हिंसाका फल भोगे। किसीकी अल्प हिंसा महाफलको और किसीकी महाहिंसा अल्प फलको देती है। इस प्रकार नाना विकल्पोंके द्वारा हिंसा-अहिंसाका विवेचन उपलब्ध जैनवाङ्मयमें अपनी समता नहीं रखता। इन्होंने हिंसा त्यागनेके इच्छुक पुरुषोंको सर्व प्रथम पाँच उदुम्बर और तीन मकारका परित्याग आवश्यक बताया[1] और प्रबल युक्तियोंसे इनका सेवन करनेवालोंको महाहिंसक बताया। अन्तमें आपने यह भी कहा कि इन आठ दुस्तर पापोंका परित्याग करने पर ही मनुष्य जैनधर्म-धारण करनेका पात्र हो सकता है[2]। धर्म, देवता या अतिथिके निमित्त की गई हिंसा हिंसा नहीं, इस मान्यताका प्रबल युक्तियोंसे अमृतचन्द्रने खंडन किया है। पुनः तत्त्वार्थ-सूत्रके अनुसार शेष अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंका सातिचार वर्णन किया है। अन्तमें तप, भावना और परीषहादिकका वर्णन कर ग्रन्थ पूर्ण किया है।

आचार्य वसुनन्दि

आ० वसुनन्दिने अपने उपासकाध्ययनमें किन-किन नवीन बातों पर प्रकाश डाला है, यह पहले 'वसुनन्दि श्रावकाचारकी विशेषताएँ, शीर्षकमें विस्तारसे बताया जा चुका है। यहाँ संक्षेपमें इतना जान लेना चाहिए कि इन्होंने ग्यारह प्रतिमाओंको आधार बनाकर श्रावकधर्मका प्रतिपादन किया है उसमें सर्व प्रथम दार्शनिक श्रावकको सप्तव्यसनका त्याग आवश्यक बताया। व्यसनोंके फलका विस्तारसे वर्णन किया। बारह व्रतोंका और ग्यारह प्रतिमाओंका वर्णन प्राचीन परम्पराके अनुसार किया, जिन पूजा, जिन-बिम्ब-प्रतिष्ठाका निरूपण किया। व्रतोंका विधान किया और दानका पाँच अधिकारों द्वारा विस्तृत विवेचन किया। संक्षेपमें अपने समयके लिए आवश्यक सभी तत्त्वोंका समावेश अपने प्रस्तुत ग्रन्थमें किया है।

पण्डित-प्रवर आशाधर

अपने पूर्ववर्ती समस्त दि० श्वे० श्रावकाचाररूप समुद्रका मथन कर आपने 'सागारधर्मामृत' रचा है। किसी भी आचार्य द्वारा वर्णित कोई भी श्रावकका कर्तव्य इनके वर्णनसे छूटने नहीं पाया है। आपने श्रावक-

१ मद्यं मांसं क्षौद्रं पंचोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६१॥

२ अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥७४॥ —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

धर्मके प्रतिपादन करनेवाले तीनों प्रकारोंका एक साथ वर्णन करते हुए उनके निर्वाहका सफल प्रयास किया है, अतः आपके सागारधर्मामृतमें यथास्थान सभी तत्त्व समाविष्ट हैं। आपने सोमदेवके उपासकाध्ययन, नीतिवाक्यामृत और हरिभद्रसूरिकी श्रावकधर्म-प्रज्ञप्तिका भरपूर उपयोग किया है। अतीचारोंकी समस्त व्याख्याके लिए आप श्वे० आचार्योंके आभारी हैं। सप्तव्यसनोंके अतीचारोंका वर्णन सागारधर्मामृतके पूर्ववर्ती किसी ग्रन्थमें नहीं पाया जाता। श्रावककी दिनचर्या और साधककी समाधि व्यवस्था भी बहुत सुन्दर लिखी गई है। उनका सागारधर्मामृत सचमुचमें श्रावकोंके लिए धर्मरूप अमृत ही है।

१६—श्रावक-प्रतिमाओंका आधार

श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओंका आधार क्या है, और किस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए इनकी कल्पना की गई है, इन दोनों प्रश्नों पर जब हम विचार करते हैं, तो इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि प्रतिमाओंका आधार शिक्षाव्रत है और शिक्षाव्रतोंका मुनिपदकी प्राप्तिरूप जो उद्देश्य है, वही इन प्रतिमाओंका भी है।

शिक्षाव्रतोंका उद्देश्य—जिन व्रतोंके पालन करनेसे मुनिव्रत धारण करनेकी, या मुनि बननेकी शिक्षा मिलती है, उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। स्वामी समन्तभद्रने प्रत्येक शिक्षाव्रतका स्वरूप वर्णन करके उसके अन्तमें बताया है कि किस प्रकार इससे मुनि समान बननेकी शिक्षा मिलती है और किस प्रकार गृहस्थ उस व्रतके प्रभाव से '**चेलोपसृष्टमुनिरिव**' यति-भावको प्राप्त होता है[1]।

गृहस्थका जीवन उस व्यापारीके समान हैं, जो किसी बड़े नगरमें व्यापारिक वस्तुएँ खरीदनेको गया। दिन भर उन्हें खरीदनेके पश्चात् शामको जब घर चलनेकी तैयारी करता है तो एक बार जिस क्रमसे वस्तु खरीद की थी, बीजक हाथमें लेकर तदनुसार उसकी सम्भाल करता है और अन्तमें सबकी सम्भाल कर अपने अभीष्ट ग्रामको प्रयाण कर देता है। ठीक यही दशा गृहस्थ श्रावक की है। उसने इस मनुष्य पर्यायरूप व्रतोंके व्यापारिक केन्द्रमें आकर बारह व्रतरूप देशसंयम सामग्री की खरीद की। जब वह अपने अभीष्ट स्थानको प्रयाण करनेके लिए समुद्यत हुआ, तो जिस क्रमसे उसने जो व्रत धारण किया है उसे सम्भालता हुआ आगे बढ़ता जाता है और अन्तमें सबकी सम्भाल कर अपने अभीष्ट स्थानको प्रयाण कर देता है।

श्रावकने सर्वप्रथम सम्यग्दर्शनको धारण किया था, पर वह श्रावकका कोई व्रत न होकर उसकी मूल या नींव है। उस सम्यग्दर्शनरूप मूल या नींवके ऊपर देशसंयम रूप भवन खड़ा करनेके लिए भूमिका या कुरसीके रूपमें अष्ट मूलगुणोंको धारण किया था और साथ ही सप्त व्यसनका परित्याग भी किया था। संन्यास या साधुत्वकी ओर प्रयाण करनेके अभिमुख श्रावक सर्वप्रथम अपने सम्यक्त्वरूप मूलको और उसपर रखी अष्टमूलगुणरूप भूमिकाको सम्भालता है। श्रावकको इस निरतिचार या निर्दोष संभालको ही दर्शन-प्रतिमा कहते हैं।

इसके पश्चात् उसने स्थूल वधादि रूप जिन महापापोंका त्यागकर अणुव्रत धारण किये थे, उनके निरतिचारिताकी संभाल करता है और इस प्रतिमाका धारी बारह व्रतोंका पालन करते हुए भी अपने पाँचों अणुव्रतोंमें और उनकी रक्षाके लिए बाढ़ स्वरूपसे धारण किये गये तीन गुणव्रतोंमें कोई भी अतीचार नहीं लगने देता है और उन्हींकी निरतिचार परिपूर्णताका उत्तरदायी है। शेष चारों शिक्षाव्रतोंका वह यथाशक्ति अभ्यास करते हुए भी उनकी निरतिचार परिपालनाके लिए उत्तरदायी नहीं है। इस प्रतिमाको धारण करनेके पूर्व ही तीन शल्योंका दूर करना अत्यन्त आवश्यक है।

तीसरी सामायिक प्रतिमा है, जिसमें कि सामायिक नामक प्रथम शिक्षाव्रतकी परिपूर्णता, त्रैकालिक साधना और निरतिचार परिपालना अत्यावश्यक है। दूसरी प्रतिमामें सामायिक शिक्षाव्रत अभ्यास दशामें था, अतः वहाँपर दो या तीन बार करनेका कोई बन्धन नहीं था; वह इतने ही काल तक सामायिक करे, इस प्रकार

---

१ सामयिके सारम्भाः परिग्रहाः नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम् ॥१०२॥—रत्नकरण्डक

कालकृत नियम भी शिथिल था। पर तीसरी प्रतिमामें सामायिकका तीनों संध्याओंमें किया जाना आवश्यक है और वह भी एक बारमें कमसे कम दो घड़ी या एक मुहूर्त (४८ मिनिट) तक करना ही चाहिए। सामायिकका उत्कृष्ट काल छह घड़ी का है। इस प्रतिमाधारीको सामायिक-सम्बन्धी दोषोंका परिहार भी आवश्यक बताया गया है। इस प्रकार तीसरी प्रतिमाका आधार सामायिक नामका प्रथम शिक्षाव्रत है।

चौथी प्रोषध प्रतिमा है, जिसका आधार प्रोषधोपवास नामक दूसरा शिक्षाव्रत है। पहले यह अभ्यास दशामें था, अतः वहाँपर सोलह, बारह या आठ पहरके उपवास करनेका कोई प्रतिबन्ध नहीं था, आचाम्ल, निर्विकृति आदि करके भी उसका निर्वाह किया जा सकता था। अतीचारोंकी भी शिथिलता थी। पर इस चौथी प्रतिमामें निरतिचारता और नियतक्रमयता आवश्यक मानी गई है। इस प्रतिमाधारीको पर्वके दिन स्वस्थ दशामें सोलह पहरका उपवास करना ही चाहिए। अस्वस्थ या असक्त अवस्थामें ही बारह या आठ पहरका उपवास विधेय माना गया है।

इस प्रकार प्रथम और द्वितीय शिक्षाव्रतके आधारपर तीसरी और चौथी प्रतिमा अवलम्बित है, यह निर्विवाद सिद्ध होता है। आगेके लिए पारिशेषन्यायसे हमें कल्पना करनी पड़ती है कि तीसरे और चौथे शिक्षाव्रतके आधारपर शेष प्रतिमाएँ भी अवस्थित होनी चाहिए। पर यहाँ आकर सबसे बड़ी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि शिक्षाव्रतोंके नामोंमें आचार्योंके अनेक मत-भेद हैं जिनका यहाँ स्पष्टीकरण आवश्यक है। उनकी तालिका इस प्रकार है:—

आचार्य या ग्रन्थ नाम	प्रथम शिक्षाव्रत	द्वितीय शिक्षाव्रत	तृतीय शिक्षाव्रत	चतुर्थ शिक्षाव्रत
१ श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र नं० १	सामायिक	प्रोषधोपवास	अतिथि पूजा	सल्लेखना
२ आ० कुन्दकुन्द	,,	,,	,,	,,
३ ,, स्वामिकार्त्तिकेय	,,	,,	,,	देशावकाशिक
४ ,, उमास्वाति	,,	,,	भोगोपभोगपरिमाण	अतिथिसंविभाग
५ ,, समन्तभद्र	देशावकाशिक	सामायिक	प्रोषधोपवास	वैयावृत्त्य
६ ,, सोमदेव	सामायिक	प्रोषधोपवास	भोगोपभोगपरिमाण	दान
७ ,, देवसेन	,,	,,	अतिथिसंविभाग	सल्लेखना
८ श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र नं० २	भोगपरिमाण	उपभोगपरिमाण	,,	,,
९ वसुनन्दि	भोगविरति	उपभोगविरति	,,	,,

आचार्य जिनसेन, अमितगति, आशाधर आदिने शिक्षाव्रतोंके विषयमें उमास्वातिका अनुकरण किया है।

उक्त मत-भेदोंमें शिक्षाव्रतोंकी संख्याके चार होते हुए भी दो धाराएँ स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती हैं। प्रथम धारा श्रावकप्रतिक्रमण सूत्र नं० १ की है, जिसके समर्थक कुन्दकुन्द जैसे महान् आचार्य हैं। इस परम्परामें सल्लेखनाको चौथा शिक्षाव्रत माना गया है। दूसरी धाराके प्रवर्त्तक आचार्य उमास्वाति आदि दिखाई देते हैं, जो कि मरणके अन्तमें की जानेवाली सल्लेखनाको शिक्षाव्रतोंमें ग्रहण न करके उसके स्थानपर भोगोपभोग-परिमाणव्रतका निर्देश करते हैं और अतिथिसंविभागको तीसरा शिक्षाव्रत न मानकर चौथा मानते हैं। इस प्रकार यहाँ आकर हमें दो धाराओंके संगमका सामना करना पड़ता है। इस समस्याको हल करते समय हमारी दृष्टि श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र नं० १ और नं० २ पर जाती है[1], जिनमेंसे एकके समर्थक आ० कुन्दकुन्द और दूसरेके समर्थक आ० वसुनन्दि हैं। सभी प्रतिक्रमणसूत्र गणधर-ग्रथित माने जाते हैं, ऐसी दशामें एकही श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रके ये दो रूप कैसे हो गये, और वे भी कुन्दकुन्द और उमास्वातिके पूर्व ही, यह एक विचारणीय प्रश्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि भद्रबाहुके समयमें होनेवाले दुर्भिक्षके कारण जो संघ-भेद हुआ, उसके साथ ही एक श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रके भी दो भेद हो गये। दोनों सूत्रोंकी समस्त प्ररूपणा

---

१ ये दोनों श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र क्रियाकलापमें मुद्रित हैं, जिसे कि पं० पन्नालालजी सोनीने सम्पादित किया है।

समान है। भेद केवल शिक्षाव्रतोंके नामोंमें है। यदि दोनों धाराओंको अर्ध-सत्यके रूपमें मान लिया जाय तो उक्त समस्याका हल निकल आता है। अर्थात् नं० १ के श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रमेंके सामायिक और प्रोषधोपवास, ये दो शिक्षाव्रत ग्रहण किये जावें, तथा नं० २ के श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रसे भोगपरिमाण और उपभोग परिमाण ये दो शिक्षाव्रत ग्रहण किये जावें। ऐसा करनेपर शिक्षाव्रतोंके नाम इस प्रकार रहेंगे—१ सामायिक, २ प्रोषधोपवास, ३ भोगपरिमाण और ४ उपभोगपरिमाण। इनमेंसे प्रथम शिक्षाव्रतके आधारपर तीसरी प्रतिमा है और द्वितीय शिक्षाव्रतके आधारपर चौथी प्रतिमा है, इसका विवेचन हम पहले कर आये हैं।

उक्त निर्णयके अनुसार तीसरा शिक्षाव्रत भोगपरिमाण है। भोग्य अर्थात् एक बार सेवनमें आनेवाले पदार्थोंमें प्रधान भोज्य पदार्थ हैं। भोज्य पदार्थ दो प्रकारके होते हैं—सचित्त और अचित्त। साधुत्व या संन्यास की ओर अग्रसर होनेवाला श्रावक जीवरक्षार्थ और रागभावके परिहारार्थ सबसे पहिले सचित्त पदार्थोंके खानेका यावज्जीवनके लिए त्याग करता है और इस प्रकार वह सचित्तत्याग नामक पाँचवीं प्रतिमाका धारी कहलाने लगता है। इस प्रतिमाका धारी सचित्त जलको न पीता है और न स्नान करने या कपड़े धोने आदिके काममें ही लाता है।

उपरि-निर्णीत व्यवस्थाके अनुसार चौथा शिक्षाव्रत उपभोगपरिमाण स्वीकार किया गया है। उपभोग्य पदार्थोंमें सबसे प्रधान वस्तु स्त्री है, अतएव वह दिनमें स्त्रीके सेवनका मन, वचन, कायसे परित्याग कर देता है यद्यपि इस प्रतिमाके पूर्व भी वह दिनमें स्त्री सेवन नहीं करता था, पर उससे हँसी-मजाकके रूपमें जो मनोविनोद कर लेता था, इस प्रतिमामें आकर उसका भी दिनमें परित्याग कर देता है और इस प्रकार वह दिवामैथुनत्याग नामक छठी प्रतिमाका धारी बन जाता है। इस दिवामैथुनत्यागके साथ ही वह तीसरे शिक्षाव्रतको भी यहाँ बढ़ानेका प्रयत्न करता है और दिनमें अचित्त या प्रासुक पदार्थोंके खानेका व्रती होते हुए भी रात्रिमें कारित और अनुमोदनासे भी रात्रिभुक्तिका सर्वथा परित्याग कर देता है और इस प्रकार रात्रिभुक्ति-त्याग नामसे प्रसिद्ध और अनेक आचार्योंसे सम्मत छठी प्रतिमाका धारी बन जाता है। इस प्रतिमाधारीके लिए दिवा-मैथुन त्याग और रात्रि-भुक्ति त्याग ये दोनों कार्य एक साथ आवश्यक हैं, इस बातकी पुष्टि दोनों परम्पराओंके शास्त्रोंसे होती है। इस प्रकार छठी प्रतिमाका आधार रात्रिभुक्ति-परित्यागकी अपेक्षा भोगविरति और दिवा-मैथुन-परित्यागकी अपेक्षा उपभोगविरति ये दोनोंही शिक्षाव्रत सिद्ध होते हैं।

सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। छठी प्रतिमामें स्त्रीका परित्याग वह दिनमें कर चुका है, पर वह स्त्रीके अंगको मलयोनि, मलबीज, गलन्मल और पूतगन्धि आदिके स्वरूप देखता हुआ रात्रिको भी उसके सेवनका सर्वथा परित्यागकर पूर्ण ब्रह्मचारी बन जाता है, और इस प्रकार उपभोगपरिमाण नामक शिक्षाव्रतको एक क़दम और भी ऊपर बढ़ाता है।

उपर्युक्त विवेचनके अनुसार पाँचवीं, छठी और सातवीं प्रतिमामें श्रावकने भोग और उपभोगके प्रधान साधन सचित्त भोजन और स्त्रीका सर्वथा परित्याग कर दिया है। पर अभी वह भोग और उपभोगकी अन्य वस्तुएँ महल-मकान, बाग-बगीचे और सवारी आदिका उपभोग करता ही है। इनसे भी विरक्त होनेके लिए वह विचारता है कि मेरे पास इतना धन वैभव है, और मैंने स्त्री तकका परित्याग कर दिया है। अब 'स्त्रीनिरीहे कुतः धनस्पृहा' की नीतिके अनुसार मुझे नवीन धनके उपार्जनकी क्या आवश्यकता है? बस, इस भावनाकी प्रबलताके कारण वह असि, मषि, कृषि, वाणिज्य आदि सर्व प्रकारके आरम्भोंका परित्याग कर आरम्भत्याग नामक आठवीं प्रतिमाका धारी बन जाता है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि इस प्रतिमामें व्यापारादि आरम्भोंके स्वयं न करनेका ही त्याग होता है, अतः पुत्र, भृत्य आदि जो पूर्वसे व्यापारादि कार्य करते चले आ रहे हैं, उनके द्वारा वह यतः करानेका त्यागी नहीं है, अतः कराता रहता है। इस बातकी पुष्टि प्रथम तो श्वे० आगमोंमें वर्णित नवीं प्रतिमाके 'पेस परिन्नाए' नामसे होती है, जिसका अर्थ है कि वह नवीं प्रतिमामें आकर प्रेष्य अर्थात् भृत्यादि वर्गसे भी आरम्भ न करानेकी प्रतिज्ञा कर लेता है। दूसरे, दशवीं प्रतिमाका नाम अनुमति-त्याग है। इस प्रतिमाका धारी आरम्भादिके विषयमें अनुमोदनाका भी परित्याग कर देता है। यह अनुमति पद अन्त दीपक है, जिसका यह अर्थ होता है कि दशवीं प्रतिमाके पूर्व वह नवीं प्रतिमामें आरम्भादिका कारितसे

त्यागी हुआ है, और उसके पूर्व आठवीं प्रतिमामें कृतसे त्यागी हुआ है। यह बात विना कहे ही स्वतः सिद्ध है।

उक्त विवेचनसे यह निष्कर्ष निकला कि श्रावक भोग-उपभोगके साधक आरम्भका कृतसे त्यागकर आठवीं प्रतिमाधारी, कारितसे भी त्याग करनेपर नवीं प्रतिमाका धारी और अनुमतिसे भी त्याग करनेपर दशवीं प्रतिमाका धारी बन जाता है। पर स्वामिकार्त्तिकेय अष्टम प्रतिमाधारीके लिए कृत, कारित और अनुमोदनासे आरम्भका त्याग आवश्यक बतलाते हैं। यहाँ इतनी बात विशेष ज्ञातव्य है कि ज्यों-ज्यों श्रावक ऊपर चढ़ता जाता है, त्यों-त्यों अपने बाह्य परिग्रहोंको भी घटाता जाता है। आठवीं प्रतिमामें जब उसने नवीन धन उपार्जनका त्याग कर दिया तो उससे एक सीढ़ी ऊपर चढ़ते ही संचित धन, धान्यादि बाह्य दशों प्रकारके परिग्रहसे भी ममत्व छोड़कर उनका परित्याग करता है, केवल वस्त्रादि अत्यन्त आवश्यक पदार्थोंको रखता है। और इस प्रकार वह परिग्रह-त्याग नामक नवीं प्रतिमाका धारी बन जाता है। यह सन्तोषकी परम मूर्ति, निर्ममत्वमें रत और परिग्रहसे विरत हो जाता है।

दशवीं अनुमतित्याग प्रतिमा है। इसमें आकर श्रावक व्यापारादि आरम्भके विषयमें, धन-धान्यादि परिग्रहके विषयमें और इहलोक सम्बन्धी विवाह आदि किसी भी लौकिक कार्यमें अनुमति नहीं देता है। वह घरमें रहते हुए भी घरके इष्ट-अनिष्ट कार्योंमें राग-द्वेष नहीं करता है, और जलमें कमलके समान सर्व गृह कार्योंसे अलिप्त रहता है। एक वस्त्र मात्रके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु अपने पास नहीं रखता। अतिथि या मेहमानके समान उदासीन रूपसे घरमें रहता है। घर वालोंके द्वारा भोजनके लिए बुलानेपर भोजन करने चला जाता है। इस प्रतिमाका धारी भोग सामग्रीमें से केवल भोजनको, भले ही वह उसके निमित्त बनाया गया हो, स्वयं अनुमोदना न करके ग्रहण करता है और परिमित वस्त्रके धारण करने तथा उदासीन रूपसे एक कमरेमें रहनेके अतिरिक्त और सर्व उपभोग सामग्रीका भी परित्यागी हो जाता है। इस प्रकार वह घरमें रहते हुए भी भोगविरति और उपभोगविरतिकी चरम सीमापर पहुँच जाता है। यहाँ इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि दशवीं प्रतिमाका धारी उद्दिष्ट अर्थात् अपने निमित्त बने हुए भोजन और वस्त्रके अतिरिक्त समस्त भोग और उपभोग सामग्रीका सर्वथा परित्यागी हो जाता है।

जब श्रावकको घरमें रहना भी निर्विकल्पता और निराकुलताका बाधक प्रतीत होता है, तब वह पूर्ण निर्विकल्प निजानन्दकी प्राप्तिके लिए घरका भी परित्याग कर वनमें जाता है और निर्ग्रन्थ गुरुओंके पास व्रतोंको ग्रहण कर भिक्षावृत्तिसे आहार करता हुआ तथा रात-दिन स्वाध्याय और तपस्या करता हुआ जीवन यापन करने लगता है। वह इस अवस्थामें अपने निमित्त बने हुए आहार और वस्त्र आदिको भी ग्रहण नहीं करता है[1]। अतः उद्दिष्ट भोगविरति और उद्दिष्ट उपभोगविरतिकी चरम सीमापर पहुँच जानेके कारण उद्दिष्ट-त्याग नामक ग्यारहवीं प्रतिमाका धारक कहलाने लगता है।

इस प्रकार तीसरीसे लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तक सर्व प्रतिमाओंका आधार चार शिक्षाव्रत हैं, यह बात असंदिग्ध रूपसे शास्त्राधार पर प्रमाणित हो जाती है।

यदि तत्त्वार्थसूत्र-सम्मत शिक्षाव्रतोंको भी प्रतिमाओंका आधार माना जावे, तो भी कोई आपत्ति नहीं है। पाँचवीं प्रतिमासे लेकर उपर्युक्त प्रकारसे भोग और उपभोगका क्रमशः परित्याग करते हुए जब श्रावक नवीं प्रतिमामें पहुँचता है, तब वह अतिथि संविभागके उत्कृष्टरूप सकलदत्तिको करता है, जिसका विशद विवेचन पं० आशाधरजीने इस प्रकार किया है :—

स ग्रन्थविरतो यः प्राग्व्रतव्रातस्फुरद्धृतिः।
नैते मे नाहमेतेषामित्युज्झति परिग्रहान् ॥२३॥

---

१ उद्दिष्टविरतः—स्वनिमित्तनिर्मिताहारग्रहणरहितः, स्वोद्दिष्टपिंडोपधिशयनवसनादेर्विरत उद्दिष्टविनिवृत्तः।—स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० ३०६ टीका।

अथाहूय सुतं योग्यं गोत्रजं वा तथाविधम् ।
ब्रूयादिदं प्रशान् साक्षाज्जातिज्येष्ठसधर्मणाम् ॥२४॥
ताताद्ययावदस्माभिः पालितोऽयं गृहाश्रमः ।
विरज्यैनं जिहासूनां त्वमद्यार्हसि नः पदम् ॥२५॥
पुत्रः पुपूषोः स्वात्मानं सुविधेरिव केशवः ।
य उपस्कुरुते वप्तुरन्यः शत्रुः सुतच्छलात् ॥२६॥
तदिदं मे धनं धर्म्यं पोष्यमप्यात्मसात्कुरु ।
सैषा सकलदत्तिर्हि परं पथ्या शिवार्थिनाम् ॥ २७ ॥
विदीर्णमोहशार्दूलपुनरुत्थानशङ्किनाम् ।
त्यागक्रमोऽयं गृहिणां शक्त्याऽऽरम्भो हि सिद्धिकृत् ॥२८॥
एवं व्युत्सृज्य सर्वस्वं मोहाभिभवहानये ।
किञ्चित्कालं गृहे तिष्ठेदौदास्यं भावयन् सुधीः ॥ २९ ॥—सागारधर्मामृत, अ० ७

अर्थात्—जब क्रमशः ऊपर चढ़ते हुए श्रावकके हृदयमें यह भावना प्रवाहित होने लगे कि ये स्त्री, पुत्र, कुटुम्बी जन वा धनादिक न मेरे हैं और न मैं इनका हूँ। हम सब तो नदी-नाव संयोगसे इस भवमें एकत्रित हो गये हैं और इसे छोड़ते ही सब अपने-अपने मार्ग पर चल देंगे, तब वह परिग्रहको छोड़ता है और उस समय जाति-बिरादरीके मुखिया जनोंके सामने अपने ज्येष्ठ पुत्र या उसके अभावमें गोत्रके किसी उत्तराधिकारी व्यक्तिको बुलाकर कहता है कि हे तात, हे वत्स, आज तक मैंने इस गृहस्थाश्रमका भलीभाँति पालन किया। अब मैं इस संसार, देह और भोगोंसे उदास होकर इसे छोड़ना चाहता हूँ, अतएव तुम हमारे इस पदके धारण करनेके योग्य हो। पुत्रका पुत्रपना यही है कि जो अपने आत्महित करनेके इच्छुक पिताके कल्याण-मार्गमें सहायक हो, जैसे कि केशव अपने पिता सुविधिके हुए। (इसकी कथा आदिपुराण से जानना चाहिए।) जो पुत्र पिताके कल्याण-मार्गमें सहायक नहीं बनता, वह पुत्र नहीं, शत्रु है। अतएव तुम मेरे इस सब धनको, पोष्यवर्गको और धर्म्यकार्योंको सँभालो। यह सकलदत्ति है जो कि शिवार्थी जनोंके लिए परम पथ्य मानी गई है। जिन्होंने मोहरूप शार्दूलको विदीर्ण कर दिया है, उसके पुनरुत्थानसे शंकित गृहस्थोंको त्यागका यही क्रम बताया गया है, क्योंकि शक्त्यनुसार त्याग ही सिद्धिकारक होता है। इस प्रकार सर्वस्वका त्याग करके मोहको दूर करनेके लिए उदासीनताकी भावना करता हुआ वह श्रावक कुछ काल तक घरमें रहे।

उक्त प्रकारसे जब श्रावकने नवीं प्रतिमामें आकर 'स्व' कहे जानेवाले अपने सर्वस्वका त्याग कर दिया, तब वह बड़ेसे बड़ा दानी या अतिथिसंविभागी सिद्ध हुआ। क्योंकि सभी दानोंमें सकलदत्ति ही श्रेष्ठ मानी गई है। सकलदत्ति कर चुकनेपर वह श्रावक स्वयं अतिथि बननेके लिए अग्रेसर होता है और एक कदम आगे बढ़कर गृहस्थाश्रमके कार्योंमें भी अनुमति देनेका परित्याग कर देता है। तत्पश्चात् एक सीढ़ी और आगे बढ़कर स्वयं अतिथि बन जाता है और घर-द्वारको छोड़कर मुनिवनमें रहकर मुनि बननेकी ही शोधमें रहने लगता है। इस प्रकार दसवीं और ग्यारहवीं प्रतिमाका आधार विधि-निषेधके रूपमें अतिथि-संविभाग व्रत सिद्ध होता है।

१७—प्रतिमाओंका वर्गीकरण

श्रावक किस प्रकार अपने व्रतोंका उत्तरोत्तर विकास करता है, यह बात 'प्रतिमाओंका आधार' शीर्षकमें बतलाई जा चुकी है। आचार्योंने इन ग्यारह प्रतिमा-धारियोंको तीन भागोंमें विभक्त किया है:—गृहस्थ, वर्णी या ब्रह्मचारी[1] और भिक्षुक। आदिके छह प्रतिमाधारियोंकी गृहस्थ, सातवीं, आठवीं और नवीं प्रतिमा-

१—वर्णिनस्त्रयो मध्याः।—सागारध० अ० ३ श्लो० ३,

धारीको वर्णी और अन्तिम दो प्रतिमाधारियोंकी भिक्षुक संज्ञा दी गई है[1]। कुछ आचार्योंने इनके क्रमशः जघन्य, मध्यम और उत्तम श्रावक ऐसे नाम भी दिये हैं, जो कि उक्त अर्थके ही पोषक हैं[2]।

यद्यपि स्वामिकार्त्तिकेयने इन तीनोंमेंसे किसी भी नामको नहीं कहा है, तथापि ग्यारहवीं प्रतिमाके स्वरूपमें उन्होंने जो 'भिक्खायरणेण' पद दिया है,[3] उससे 'भिक्षुक' इस नामका समर्थन अवश्य होता है। आचार्य समन्तभद्रने भी उक्त नामोंका कोई उल्लेख नहीं किया है, तथापि ग्यारहवीं प्रतिमाके स्वरूपमें जो 'भैक्ष्याशनः, और 'उत्कृष्टः' ये दो पद दिये हैं,[4] उनसे 'भिक्षुक' और 'उत्तम' नामोंकी पुष्टि अवश्य होती है, बल्कि 'उत्तम और उत्कृष्ट पद तो एकार्थक ही हैं। आदिके छह प्रतिमाधारी श्रावक यतः स्त्री-सुख भोगते हुए घरमें रहते हैं, अतः उन्हें 'गृहस्थ' संज्ञा स्वतः प्राप्त है। यद्यपि समन्तभद्रके मतसे श्रावक दसवीं प्रतिमा तक अपने घरमें ही रहता है, पर यहाँ 'गृहिणी गृहमाहुर्न कुड्यकटसंहतिम्' की नीतिके अनुसार स्त्रीको ही गृह संज्ञा प्राप्त है और उसके साथ रहते हुए ही वह गृहस्थ संज्ञाका पात्र है। यतः प्रतिमाधारियोंमें प्रारम्भिक छह प्रतिमाधारक स्त्री-भोगी होनेके कारण गृहस्थ हैं, अतः सबसे छोटे भी हुए, इसलिए उन्हें जघन्य श्रावक कहा गया है। पारिशेष-न्यायसे मध्यवर्त्ती प्रतिमाधारी मध्यम श्रावक सिद्ध होते हैं। पर दसवीं प्रतिमाधारीको मध्यम न मानकर उत्तम श्रावक माना गया है, इसका कारण यह है कि वह घरमें रहते हुए भी नहीं रहने जैसा है, क्योंकि वह गृहस्थीके किसी भी कार्यमें अनुमति तक भी नहीं देता है। पर दसवीं प्रतिमाधारीको भिक्षावृत्तिसे भोजन न करते हुए भी 'भिक्षुक' कैसे माना जाय, यह एक प्रश्न विचारणीय अवश्य रह जाता है। संभव है, भिक्षुकके समीप होनेसे उसे भी भिक्षुक कहा हो, जैसे चरम भवके समीपवर्त्ती अनुत्तर-विमानवासी देवोंको 'द्विचरम' कह दिया जाता है। सातवींसे लेकर आगेके सभी प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी हैं, जब उनमेंसे अन्तिम दो को भिक्षुक संज्ञा दे दी गई, तब मध्यवर्त्ती तीन (सातवीं, आठवीं और नवमीं) प्रतिमाधारियोंकी ब्रह्मचारी संज्ञा भी अन्यथा सिद्ध है। पर ब्रह्मचारीको वर्णी क्यों कहा जाने लगा, यह एक प्रश्न यहाँ आकर उपस्थित होता है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, सोमदेव और जिनसेनने तथा इनके पूर्ववर्त्ती किसी भी आचार्यने 'वर्णी' नामका विधान जैन परम्परामें नहीं किया है। परन्तु उक्त तीन प्रतिमा-धारियोंको पं० आशाधरजीने ही सर्वप्रथम 'वर्णिनस्त्रयो मध्याः' कहकर वर्णी पदसे निर्देश किया है और उक्त श्लोककी स्वोपज्ञ-टीकामें 'वर्णिनो ब्रह्मचारिणः' लिखा है, जिससे यही अर्थ निकलता है कि वर्णीपद ब्रह्मचारीका वाचक है, पर 'वर्णी' पदका क्या अर्थ है, इस बातपर उन्होंने कुछ प्रकाश नहीं डाला है। सोमदेवने ब्रह्मके कामविनिग्रह, दया और ज्ञान ऐसे तीन अर्थ किये हैं[5], मेरे खयालसे स्त्रीसेवनत्यागकी अपेक्षा सातवीं प्रतिमा-धारीको, दयार्द्र होकर पापारंभ छोड़नेकी अपेक्षा आठवीं प्रतिमाधारीको और निरन्तर स्वाध्यायमें प्रवृत्त होनेकी अपेक्षा नवीं प्रतिमाधारीको ब्रह्मचारी कहा गया होगा।

१ षडत्र गृहिणो ज्ञेयास्त्रयः स्युर्ब्रह्मचारिणः।
भिक्षुकौ द्वौ तु निर्दिष्टौ ततः स्यात्सर्वतो यतिः॥—यश० आ० ८,

२ आद्यास्तु षड् जघन्याः स्युर्मध्यमास्तदनु त्रयः।
शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने॥—सागारध० अ० ३, श्लो० ३ टिप्पणी

३ जो णवकोडिविसुद्धं '*भिक्खायरणेण*' भुंजदे भोज्जं।
जायणरहियं जोग्गं उद्दिट्ठाहारविरओ सो॥ ३९७॥—स्वामिकार्त्ति०

४ गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः॥१४७॥—रत्नक०

५ ज्ञानं ब्रह्म दया ब्रह्म ब्रह्म कामविनिग्रहः।
सम्यगत्र वसन्नात्मा ब्रह्मचारी भवेन्नरः॥—यश०, आ० ८

१८—क्षुल्लक और ऐलक

ऊपर प्रतिमाओंके वर्गीकरणमें बताया गया है कि स्वामी कार्त्तिकेय और समन्तभद्रने यद्यपि सीधे रूपमें ग्यारहवीं प्रतिमाधारीका 'भिक्षुक' नाम नहीं दिया है, तथापि उनके उक्त पदोंसे इस नामकी पुष्टि अवश्य होती है। परन्तु ग्यारहवीं प्रतिमाधारीके दो भेद कबसे हुए और उन्हें 'क्षुल्लक' और 'ऐलक' कबसे कहा जाने लगा, इन प्रश्नोंका ऐतिहासिक उत्तर अन्वेषणीय है, अतएव यहाँ उनपर विचार किया जाता है :—

(१) आचार्य कुन्दकुन्दने सूत्रपाहुडमें एक गाथा दी है :—

दुइयं च वुत्तलिंगं उक्किट्ठं अवर सावयाणं च।
भिक्खं भमेइ पत्तो समिदीभासेण मोणेण ॥२१॥

अर्थात् मुनिके पश्चात् दूसरा उत्कृष्टलिंग गृहत्यागी उत्कृष्ट श्रावकका है। वह पात्र लेकर ईर्यासमिति पूर्वक मौनके साथ भिक्षाके लिए परिभ्रमण करता है।

इस गाथामें ग्यारहवीं प्रतिमाधारीको 'उत्कृष्ट श्रावक' ही कहा गया है, अन्य किसी नामकी उससे उपलब्धि नहीं होती। हाँ, 'भिक्खं भमेइ पत्तो' पदसे उसके 'भिक्षुक' नामकी ध्वनि अवश्य निकलती है।

(२) स्वामी कार्त्तिकेय और समन्तभद्रने भी ग्यारहवीं प्रतिमाधारीके दो भेद नहीं किये हैं, न उनके लिए किसी नामकी ही स्पष्ट संज्ञा दी है। हाँ, उनके पदोंसे भिक्षुक नामकी पुष्टि अवश्य होती है। इनके मतानुसार भी उसे गृहका त्याग करना आवश्यक है।

(३) आचार्य जिनसेनने अपने आदि पुराणमें यद्यपि कहीं भी ग्यारह प्रतिमाओंका कोई वर्णन नहीं किया है, परन्तु उन्होंने ३८ वें पर्वमें गर्भान्वय क्रियाओंमें मुनि बननेके पूर्व 'दीक्षाद्य' नामकी क्रियाका जो वर्णन किया है, वह अवश्य ग्यारहवीं प्रतिमाके वर्णनसे मिलता-जुलता है। वे लिखते हैं :—

त्यक्तागारस्य सद्दृष्टेः प्रशान्तस्य गृहीशिनः।
प्राग्दीक्षोपयिकात्कालादेकशाटकधारिणः ॥१५८॥
यत्पुरश्चरणं दीक्षाग्रहणं प्रतिधार्यते।
दीक्षाद्यं नाम तज्ज्ञेयं क्रियाजातं द्विजन्मनः ॥१५९॥

अर्थात्—जिनदीक्षा धारण करनेके कालसे पूर्व जिस सम्यग्दृष्टि, प्रशान्तचित्त, गृहत्यागी, द्विजन्मा और एक धोती मात्रके धारण करनेवाले गृहीशीके मुनिके पुरश्चरणरूप जो दीक्षा ग्रहण की जाती है, उस क्रिया-समूहके करनेको दीक्षाद्य क्रिया जानना चाहिए। इसी क्रियाका स्पष्टीकरण आ० जिनसेनने ३९वें पर्वमें भी किया है :—

त्यक्तागारस्य तस्यातस्तपोवनमुपेयुषः। एकशाटकधारित्वं प्राग्वद्दीक्षाद्यमिष्यते ॥७७॥

इसमें 'तपोवनमुपेयुषः' यह एक पद और अधिक दिया है।

इस 'दीक्षाद्यक्रिया'से दो बातोंपर प्रकाश पड़ता है, एक तो इस बातपर कि उसे इस क्रिया करनेके लिए घरका त्याग आवश्यक है, और दूसरी इस बातपर कि उसे एक ही वस्त्र धारण करना चाहिए। आचार्य समन्तभद्रके 'गृहतो मुनिवनमित्वा' पदके अर्थकी पुष्टि 'त्यक्तागारस्य' और 'तपोवनमुपेयुष' पदसे और 'चेल-खण्डधरः' पदके अर्थकी पुष्टि 'एकशाटकधारिणः' पदसे होती है, अतः इस दीक्षाद्यक्रियाको ग्यारहवीं प्रतिमाके वर्णनसे मिलता-जुलता कहा गया है।

आ० जिनसेनने इस दीक्षाद्यक्रियाका विधान दीक्षान्वय-क्रियाओंमें भी किया है और वहाँ बतलाया है कि जो मनुष्य अदीक्षार्ह अर्थात् मुनिदीक्षाके अयोग्य कुलमें उत्पन्न हुए हैं, विद्या और शिल्पसे आजीविका करते हैं, उनके उपनीति आदि संस्कार नहीं किये जाते। वे अपने पदके योग्य व्रतोंको और उचित लिंगको धारण करते हैं तथा संन्याससे मरण होने तक एक धोती-मात्रके धारी होते हैं। वह वर्णन इस प्रकार है:—

अदीक्षार्हे कुले जाता विद्याशिल्पोपजीविनः।
एतेषामुपनीत्यादिसंस्कारो नाभिसम्मतः ॥१७०॥

तेषां स्यादुचितं लिंगं स्वयोग्यव्रतधारिणाम् ।
एकशाटकधारित्वं संन्यासमरणावधि ॥१७१॥—आदिपु० पर्व ४०.

आ० जिनसेनने दीक्षार्ह कुलीन श्रावककी 'दीक्षाद्य क्रिया'से अदीक्षार्ह, अकुलीन श्रावककी दीक्षाद्य क्रियामें क्या भेद रखा है, यह यहाँ जानना आवश्यक है। वे दोनोंको एक वस्त्रका धारण करना समानरूपसे प्रतिपादन करते हैं, इतनी समानता होते हुए भी वे उसके लिए उपनीति संस्कार अर्थात् यज्ञोपवीतके धारण आदिका निषेध करते हैं, और साथ ही स्व-योग्य व्रतोंके धारणका विधान करते हैं। यहाँ परसे ही दीक्षाद्य-क्रियाके धारकोंके दो भेदोंका सूत्रपात प्रारंभ होता हुआ प्रतीत होता है, और संभवतः ये दो भेद ही आगे जाकर ग्यारहवीं प्रतिमाके दो भेदोंके आधार बन गये हैं। 'स्वयोग्य-व्रतधारण'से आ० जिनसेनका क्या अभिप्राय रहा है, यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है। पर इसका स्पष्टीकरण प्रायश्चित्तचूलिकाके उस वर्णनसे बहुत कुछ हो जाता है, जहाँपर कि प्रायश्चित्तचूलिकाकारने कारु-शूद्रोंके दो भेद करके उन्हें व्रत-दान आदिका विधान किया है। प्रायश्चित्तचूलिकाकार लिखते हैं :—

कारिणो द्विविधाः सिद्धा भोज्याभोज्यप्रभेदतः ।
भोज्येष्वेव प्रदातव्यं सर्वदा क्षुल्लकव्रतम् ॥१५४॥

अर्थात्—कारु शूद्र भोज्य और अभोज्यके भेदसे दो प्रकारके प्रसिद्ध हैं, उनमेंसे भोज्य शूद्रोंको ही सदा क्षुल्लक व्रत देना चाहिए।

इस ग्रन्थके संस्कृत टीकाकार भोज्य पदकी व्याखया करते हुए कहते हैं :—

भोज्याः—यदन्नपानं ब्राह्मणक्षत्रियविट्क्षुद्रा भुंजन्ते । अभोज्याः—तद्विपरीतलक्षणाः । भोज्येष्वेव प्रदातव्या क्षुल्लकदीक्षा, नापरेषु ।

अर्थात्—जिनके हाथका अन्न पान ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र खाते हैं, उन्हें भोज्य कारु कहते हैं। इनसे विपरीत अभोज्यकारु जानना चाहिए। क्षुल्लक व्रतकी दीक्षा भोज्य कारुओंमें ही देना चाहिए, अभोज्य कारुओंमें नहीं।

इससे आगे क्षुल्लकके व्रतोंका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है :—

क्षुल्लकेष्वेककं वस्त्रं नान्यन्न स्थितिभोजनम् ।
आतापनादियोगोऽपि तेषां शश्वन्निषिध्यते ॥ १५५ ॥
क्षौरं कुर्याच्च लोचं वा पाणौ भुंक्तेऽथ भाजने ।
कौपीनमात्रतंत्रोऽसौ क्षुल्लकः परिकीर्त्तितः ॥ १५६ ॥

अर्थात्—क्षुल्लकोंमें एक ही वस्त्रका विधान किया गया है, वे दूसरा वस्त्र नहीं रख सकते। वे मुनियोंके समान खड़े-खड़े भोजन नहीं कर सकते। उनके लिए आतापन योग, वृक्षमूल योग आदि योगोंका भी शाश्वत निषेध किया गया है। वे उस्तरे आदिसे क्षौरकर्म शिरोमुंडन भी करा सकते हैं और चाहें, तो केशोंका लोंच भी कर सकते हैं। वे पाणिपात्रमें भी भोजन कर सकते हैं और चाहें तो कांसेके पात्र आदिमें भी भोजन कर सकते हैं। ऐसा व्यक्ति जो कि कौपीनमात्र रखनेका अधिकारी है, क्षुल्लक कहा गया है। टीकाकारोंने कौपीनमात्रतंत्रका अर्थ—कर्पटखंडमंडितकटीतटः अर्थात् खंड वस्त्रसे जिसका कटीतट मंडित हो, किया है, और क्षुल्लकका अर्थ—उत्कृष्ट अणुव्रतधारी किया है।

आदिपुराणकारके द्वारा अदीक्षार्ह पुरुषके लिए किये गये व्रतविधानकी तुलना जब हम प्रायश्चित्त-चूलिकाके उपर्युक्त वर्णनके साथ करते हैं, तब असंदिग्ध रूपसे इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि जिनसेनने जिन अदीक्षार्ह पुरुषोंको संन्यासमरणावधि तक एक वस्त्र और उचित व्रत-चिह्न आदि धारण करनेका विधान किया है, उन्हें ही प्रायश्चित्तचूलिकाकारने 'क्षुल्लक' नामसे उल्लेख किया है।

क्षुल्लक शब्दका अर्थ

अमरकोषमें क्षुल्लक शब्दका अर्थ इस प्रकार दिया है :—

विवर्णः पामरो नीचः प्राकृतश्च पृथक्जनः ।
निहीनोऽपसदो जाल्मः क्षुल्लकश्चेतरश्च सः ।।१६।।

(दश नीचस्य नामानि) अमर०, द्वि० कां० शूद्रवर्ग ।

अर्थात्— विवर्ण, पामर, नीच, प्राकृत जन, पृथक् जन, निहीन, अपसद, जाल्म, क्षुल्लक और इतर ये दश नीचके नाम हैं ।

उक्त श्लोक शूद्रवर्गमें दिया हुआ है । अमरकोषके तृतीय कांडके नानार्थ वर्गमें भी 'स्वल्पेऽपि क्षुल्लकस्त्रिषु, पद आया है, वहाँपर इसकी टीका इस प्रकार की है :—

'स्वल्पे, अपि शब्दान्नीच-कनिष्ठ-दरिद्रेष्वपि क्षुल्लकः'

अर्थात्—स्वल्प, नीच, कनिष्ठ और दरिद्रके अर्थोंमें क्षुल्लक शब्दका प्रयोग होता है ।

'रभसकोषमें भी 'क्षुल्लकस्त्रिषु नीचेऽल्पे' दिया है । इन सबसे यही सिद्ध होता है कि क्षुल्लक शब्दका अर्थ नीच या हीन है ।

प्रायश्चित्तचूलिकाके उपर्युक्त कथनसे भी इस बातकी पुष्टि होती है कि शूद्रकुलोत्पन्न पुरुषोंको क्षुल्लक दीक्षा दी जाती थी । तत्त्वार्थराजवार्तिक वगैरहमें भी महाहिमवान्‌के साथ हिमवान् पर्वतके लिए क्षुल्लक या क्षुद्र शब्दका उपयोग किया गया है, जिससे भी यही अर्थ निकलता है कि हीन या क्षुद्रके लिए क्षुल्लक शब्दका प्रयोग किया जाता था । श्रावकाचारोंके अध्ययनसे पता चलता है कि आ० जिनसेनके पूर्व तक शूद्रोंको दीक्षा देने या न देनेका कोई प्रश्न सामने नहीं था । जिनसेनके सामने जब यह प्रश्न आया, तो उन्होंने अदीक्षार्ह और दीक्षार्ह कुलोत्पन्नोंका विभाग किया और उनके पीछे होनेवाले सभी आचार्योंने उनका अनुसरण किया । प्रायश्चित्तचूलिकाकारने नीचकुलोत्पन्न होनेके कारण ही संभवतः आतापनादि योगका क्षुल्लकके लिए निषेध किया था, पर परवर्त्ती ग्रन्थकारोंने इस रहस्यको न समझनेके कारण सभी ग्यारहवीं प्रतिमा-धारकोंके लिए आतापनादि योगका निषेध कर डाला । इतना ही नहीं, आदि पदके अर्थको और भी बढ़ाया और दिन प्रतिमा, वीरचर्या, सिद्धान्त ग्रन्थ और प्रायश्चित्तशास्त्रके अध्ययन तकका उनके लिए निषेध कर डाला[1] । किसी-किसी विद्वान्‌ने तो सिद्धान्त ग्रन्थ आदिके सुननेका भी अनधिकारी घोषित कर दिया[2] । यह स्पष्टतः वैदिक संस्कृतिका प्रभाव है, जहाँपर कि शूद्रोंको वेदाध्ययनका सर्वथा निषेध किया गया है, और उसके सुननेपर कानोंमें गर्म शीशा डालनेका विधान किया गया है ।

क्षुल्लकोंको जो पात्र रखने और अनेक घरोंसे भिक्षा लाकर खानेका विधान किया गया है, वह भी संभवतः उनके शूद्र होनेके कारण ही किया गया प्रतीत होता है । सागारधर्मामृतमें ग्यारहवीं प्रतिमाधारी द्वितीयोत्कृष्ट श्रावकके लिए जो 'आर्य' संज्ञा दी गई है[3], वह भी क्षुल्लकोंके जाति, कुल आदिकी अपेक्षा हीनत्वका द्योतन करती है ।

---

१ **दिनपडिम-वीरचरिया-तियालजोगेसु णत्थि अहियारो ।**
सिद्धन्त-रहस्साण वि अज्झयणं देसविरदाणं ।।३१२।।—वसु० उपा०
श्रावको वीरचर्याहः-प्रतिमातापनादिषु ।
स्यान्नाधिकारी सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि च ।।५०।।—सागार० अ० ७

२ **नास्ति त्रिकालयोगोऽस्य प्रतिमा चार्कसम्मुखा ।**
रहस्यग्रन्थ-सिद्धान्तश्रवणे नाधिकारिता ।।२४९।।—संस्कृत भावसंग्रह

३ **तद्वद् द्वितीयः किन्त्वार्यसंज्ञो लुंचत्यसौ कचान् ।**
कौपीनमात्रयुग्धत्ते यतिवत्प्रतिलेखनम् ।।४८।।—सागार० अ० ७

उक्त स्वरूपवाले क्षुल्लकोंको किस श्रावक प्रतिमामें स्थान दिया जाय, यह प्रश्न सर्वप्रथम आ० वसुनन्दिके सामने आया प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने ही सर्वप्रथम ग्यारहवीं प्रतिमाके दो भेद किये हैं। इनके पूर्ववर्त्ती किसी भी आचार्यने इस प्रतिमाके दो भेद नहीं किये हैं, प्रत्युत बहुत स्पष्ट शब्दोंमें उसकी एकरूपताका ही वर्णन किया है। आ० वसुनन्दिने इस प्रतिमाधारीके दो भेद करके प्रथमको एक वस्त्रधारक और द्वितीयको कौपीनधारक बताया है (देखो गा० नं० ३०१)। वसुनन्दिने प्रथमोत्कृष्ट श्रावकका जो स्वरूप दिया है, वह क्षुल्लकके वर्णनसे मिलता-जुलता है और उसके परवर्त्ती विद्वानोंने प्रथमोत्कृष्टकी स्पष्टतः क्षुल्लक संज्ञा दी है, अतः यही अनुमान होता है, कि उक्त प्रश्नको सर्वप्रथम वसुनन्दिने ही सुलझानेका प्रयत्न किया है। इस प्रथमोत्कृष्टको क्षुल्लक शब्दसे सर्वप्रथम लाटी संहिताकार पं० राजमल्लजीने ही उल्लेख किया है, हालांकि स्वतंत्र रूपसे क्षुल्लक शब्दका प्रयोग और क्षुल्लक व्रतका विधान प्रायश्चित्तचूलिकामें किया गया है, जो कि ग्यारहवीं शताब्दीके पूर्वकी रचना है। केवल क्षुल्लक शब्दका उपयोग पद्मपुराण आदि कथा-ग्रन्थोंमें अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है और उन क्षुल्लकोंका वैसा ही रूप वहाँ पर मिलता है, जैसा कि प्रायश्चित्तचूलिकाकारने वर्णन किया है।

ऐलक शब्दका अर्थ

ग्यारहवीं प्रतिमाके दो भेदोंका उल्लेख सर्वप्रथम आ० वसुनन्दिने किया, पर वे प्रथमोत्कृष्ट और द्वितीयोत्कृष्टके रूपसे ही चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी तक चलते रहे। सोलहवीं सदीके विद्वान् पं० राजमल्लजीने अपनी लाटीसंहितामें सर्वप्रथम उनके लिए क्रमशः क्षुल्लक और ऐलक शब्दका प्रयोग किया है[1]। क्षुल्लक शब्द कबसे और कैसे चला, इसका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं। यह 'ऐलक' शब्द कैसे बना और इसका क्या अर्थ है, यह बात यहाँ विचारणीय है। इस 'ऐलक' पदके मूल रूपकी ओर गंभीर दृष्टिपात करने पर यह भ० महावीरसे भी प्राचीन प्रतीत होता है। भ० महावीरके भी पहलेसे जैन साधुओंको 'अचेलक' कहा जाता था। चेल नाम वस्त्रका है। जो साधु वस्त्र धारण नहीं करते थे, उन्हें अचेलक कहा जाता था। भगवती आराधना, मूलाचार आदि सभी प्राचीन ग्रन्थोंमें दिगम्बर साधुओंके लिए अचेलक पदका व्यवहार हुआ है। पर भ० महावीरके समयसे अचेलक साधुओंके लिए नग्न, निर्ग्रन्थ और दिगम्बर शब्दोंका प्रयोग बहुलतासे होने लगा। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि महात्मा बुद्ध और उनका शिष्य-समुदाय वस्त्रधारी था, अतः तात्कालिक लोगोंने उनके व्यवच्छेद करनेके लिए जैन साधुओंको नग्न, निर्ग्रन्थ आदि नामोंसे पुकारना प्रारम्भ किया। यही कारण है कि स्वयं बौद्ध ग्रन्थोंमें जैन साधुओंके लिए 'निग्गंट' या 'णिगंठ' नामका प्रयोग किया गया है, जिसका कि अर्थ निर्ग्रन्थ है। अभी तक नञ् समासका सर्वथा प्रतिषेध-परक 'न + चेलकः = अचेलकः' अर्थ लिया जाता रहा। पर जब नग्न साधुओंको स्पष्ट रूपसे दिगम्बर, निर्ग्रन्थ आदि रूपसे व्यवहार किया जाने लगा, तब जो अन्य समस्त बातोंमें तो पूर्ण साधुव्रतोंका पालन करते थे, परन्तु लज्जा, गौरव या शारीरिक लिंग-दोष आदिके कारण लँगोटी मात्र धारण करते थे, ऐसे ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावकोंके लिए नञ् समासके ईषदर्थका आश्रय लेकर 'ईषत् + चेलकः = अचेलकः' का व्यवहार प्रारम्भ हुआ प्रतीत होता है, जिसका कि अर्थ नाममात्रका वस्त्र धारण करनेवाला होता है। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दीसे प्राकृतके स्थानपर अपभ्रंश भाषाका प्रचार प्रारम्भ हुआ और अनेक शब्द सर्वसाधारणके व्यवहारमें कुछ भ्रष्ट रूपसे प्रचलित हुए। इसी समयके मध्य 'अचेलक' का स्थान 'ऐलक' पदने ले लिया, जो कि प्राकृत-व्याकरणके नियमसे भी सुसंगत बैठ जाता है। क्योंकि प्राकृत में 'क-ग-च-ज त-द-प-य-वां प्रायो लुक्' (हैम० प्रा० १, १७७) इस नियमके अनुसार 'अचेलक'के चकारका लोप हो जानेसे 'अ ए ल क' पद अवशिष्ट रहता है। यही (अ + ए = ऐ) सन्धिके योगसे 'ऐलक' बन गया।

१ उत्कृष्टः श्रावको द्वेधा क्षुल्लकश्चैलकस्तथा।
एकादशव्रतस्थौ द्वौ स्तो द्वौ निर्जरकौ क्रमात् ॥५५॥—लाटी संहिता

उक्त विवेचनसे यह बात भली भाँति सिद्ध हो जाती है कि 'ऐलक' पद भले ही अर्वाचीन हो, पर उसका मूल रूप 'अचेलक' शब्द बहुत प्राचीन है। लाटीसंहिताकारको या तो 'ऐलक' का मूलरूप समझमें नहीं आया; या उन्होंने सर्वसाधारणमें प्रचलित 'ऐलक' शब्दको ज्यों का त्यों देना ही उचित समझा। इस प्रकार ऐलक शब्दका अर्थ नाममात्रका वस्त्रधारक अचेलक होता है और इसकी पुष्टि आ० समन्तभद्रके द्वारा ग्यारहवीं प्रतिमाधारीके लिए दिये गये 'चेलखण्डधरः' पदसे भी होती है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त सर्व विवेचनका निष्कर्ष यह है :—

क्षुल्लक—उस व्यक्तिको कहा जाता था, जो कि मुनिदीक्षाके अयोग्य कुलमें या शूद्र वर्णमें उत्पन्न होकर स्व-योग्य, शास्त्रोक्त, सर्वोच्च व्रतोंका पालन करता था, एक वस्त्रको धारण करता था, पात्र रखता था, अनेक घरोंसे भिक्षा लाकर और एक जगह बैठकर खाता था, वस्त्रादिका प्रतिलेखन रखता था, कैंची या उस्तरेसे शिरोमुंडन कराता था। इसके लिए वीरचर्या, आतापनादि योग करने और सिद्धान्त ग्रन्थ तथा प्रायश्चित्तशास्त्रके पढ़नेका निषेध था।

ऐलक—मूलमें 'अचेलक' पद नग्न मुनियोंके लिए प्रयुक्त होता था। पीछे जब नग्न मुनियोंके लिए निर्ग्रन्थ, दिगम्बर आदि शब्दोंका प्रयोग होने लगा, तब यह शब्द ग्यारहवीं प्रतिमा-धारक और नाममात्रका वस्त्र खंड धारण करनेवाले उत्कृष्ट श्रावकके लिए व्यवहृत होने लगा। इसके पूर्व ग्यारहवीं प्रतिमाधारीका 'भिक्षुक' नामसे व्यवहार होता था। इस भिक्षुक या ऐलकके लिए लँगोटी मात्रके अतिरिक्त सर्व वस्त्रोंके और पात्रोंके रखनेका निषेध है। साथ ही मुनियोंके समान खड़े-खड़े भोजन करने, केशलुञ्च करने और मयूरपिच्छिका रखनेका विधान है। इसे ही विद्वानोंने 'ईषन्मुनि' 'यति' आदि नामोंसे व्यवहार किया है।

समयके परिवर्त्तनके साथ शूद्रोंको दीक्षा देना बन्द हुआ, या शूद्रोंने जैनधर्म धारण करना बन्द कर दिया, तेरहवीं शताब्दीसे लेकर इधर मुनिमार्ग प्रायः बन्द सा हो गया, धर्मशास्त्रके पठन-पाठनकी गुरु-परम्पराका विच्छेद हो गया, तब लोगोंने ग्यारहवीं प्रतिमाके ही दो भेद मान लिये और उनमेंसे एकको क्षुल्लक और दूसरेको ऐलक कहा जाने लगा।

क्या आजके उच्चकुलीन, ग्यारहवीं प्रतिमाधारक उत्कृष्ट श्रावकोंको 'क्षुल्लक' कहा जाना योग्य है?

ग्रन्थ-विषय-सूची

सिरि वसुणंदि आइरियविरइयं

उवासयज्झयण

वसुनन्दि-श्रावकाचार

सुरवइतिरीडमणिकिरणवारिधाराहिसित्तपयकमलं[1] ।
वरसयलविमलकेवलपयासियासेसतच्चत्थं ॥१॥
सायारो णायारो भवियाणं जेण[2] देसिओ धम्मो ।
णमिऊण तं जिणिंदं सावयधम्मं परूवेमो ॥२॥

देवेन्द्रोंके मुकुटोंमें लगी हुई मणियोंकी किरणरूपी जलधारासे जिनके चरण-कमल अभिषिक्त हैं, जो सर्वोत्कृष्ट निर्मल केवलज्ञानके द्वारा समस्त तत्त्वार्थको प्रकाशित करनेवाले हैं और जिन्होंने भव्य जीवोंके लिए श्रावकधर्म और मुनिधर्मका उपदेश दिया है, ऐसे श्री जिनेन्द्रदेवको नमस्कार करके हम (वसुनन्दि) श्रावकधर्मका प्ररूपण करते हैं ॥१-२॥

विउलगिरिपव्वए णं इंदभूइणा सेणियस्स जह सिट्ठं ।
तह गुरुपरिवाडीए भणिज्जमाणं णिसामेह ॥३॥

विपुलाचल पर्वतपर (भगवान् महावीरके समवसरणमें) इन्द्रभूति नामक गौतम गणधरने बिम्बसार नामक श्रेणिक महाराजको जिस प्रकारसे श्रावकधर्मका उपदेश दिया है उसी प्रकार गुरु-परम्परासे प्राप्त वक्ष्यमाण श्रावकधर्मको, हे भव्य जीवो, तुम लोग सुनो ॥३॥

दंसण-वय-सामाइय-पोसह-सचित्त-राइ[4] भत्ते य ।
बंभारंभ - परिग्गह-अणुमण-उद्दिट्ठ-देसविरयम्मि ॥४॥

देशविरति नामक पंचम गुणस्थानमें दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग, ये ग्यारह स्थान (प्रतिमा, कक्षा या श्रेणी-विभाग) होते हैं ॥४॥

एयारस ठाणाइं सम्मत्तविवज्जियस्स जीवस्स ।
जम्हा ण संति तम्हा सम्मत्तं सुणह वोच्छामि ॥५॥

उपर्युक्त ग्यारह स्थान यतः (चूंकि) सम्यक्त्वसे रहित जीवके नहीं होते हैं, अतः (इसलिए) मैं सम्यक्त्वका वर्णन करता हूँ, सो हे भव्य जीवो, तुम लोग सुनो ॥५॥

१ ध. जुअलं । २ द. जिणेण । ३ झ. ब. इरि । ४ ब. ध. राय

अत्तागमतच्चाणं जं सद्दहणं सुणिम्मलं होइ।
संकाइदोसरहियं तं सम्मत्तं मुणेयव्वं ॥६॥

आप्त (सत्यार्थ देव) आगम (शास्त्र) और तत्त्वोंका शंकादि (पच्चीस) दोष-रहित जो अतिनिर्मल श्रद्धान होता है, उसे सम्यक्त्व जानना चाहिए ॥६॥

अत्ता दोसविमुक्को पुव्वापरदोसवज्जियं वयणं।
तच्चाइं जीवदव्वाइ[1]याइं समयम्हि णेयाणि ॥७॥

आगे कहे जानेवाले सर्व दोषोंसे विमुक्त पुरुषको आप्त कहते हैं। पूर्वापर दोषसे रहित (आप्तके) वचनको आगम कहते हैं और जीवद्रव्य आदिक तत्त्व हैं, इन्हें समय अर्थात् परमागमसे जानना चाहिए ॥७॥

छुह-तण्हा[2] भय-दोसो राओ मोहो जरा रुजा चिंता।
मिच्चू[3] खेओ सेओ अरइ मओ विम्हओ जम्मं ॥८॥
णिद्दा तहा विसाओ दोसा एएहिं वज्जिओ अत्ता।
वयणं तस्स पमाणं [4]संतत्थपरूवयं जम्हा ॥९॥

क्षुधा, तृषा, भय, द्वेष, राग, मोह, जरा, रोग, चिन्ता, मृत्यु, खेद, स्वेद (पसीना), अरति, मद, विस्मय, जन्म, निद्रा और विषाद, ये अट्ठारह दोष कहलाते हैं, जो आत्मा इन दोषोंसे रहित है, वही आप्त कहलाता है। तथा उसी आप्तके वचन प्रमाण हैं, क्योंकि वे विद्यमान अर्थके प्ररूपक हैं ॥८-९॥

जीवाजीवासव-बंध-संवरो णिज्जरा तहा मोक्खो।
एयाइं सत्त तच्चाइं सद्द हंतस्स[5] सम्मत्तं ॥१०॥

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये सात तत्त्व कहलाते हैं और उनका श्रद्धान करना सम्यक्त्व कहलाता है ॥१०॥

जीवतत्त्व-वर्णन

सिद्धा संसारत्था दुविहा जीवा जिणेहिं पण्णत्ता।
असरीरा णंतचउट्ठय[6]ण्णिया णिव्वुदा सिद्धा ॥११॥

सिद्ध और संसारी, ये दो प्रकारके जीव जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहे हैं। जो शरीर-रहित हैं, अनन्त-चतुष्टय अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यसे संयुक्त हैं तथा जन्म-मरणादिकसे निर्वृत्त हैं, उन्हें सिद्ध जीव जानना चाहिए ॥११॥

संसारत्था दुविहा थावर-तसभेयओ[7] मुणेयव्वा।
पंचविह थावरा खिदिजलग्गिवाऊ वणप्फइणो ॥१२॥

स्थावर और त्रसके भेदसे संसारी जीव दो प्रकारके जानना चाहिए। इनमें स्थावर जीव पाँच प्रकारके हैं—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ॥१२॥

पज्जत्तापज्जत्ता बायर-सुहुमा णिगोय णिच्चियरा।
पत्तेय-[8]पइट्ठियरा थावरकाया अणेयविहा ॥१३॥

पर्याप्त—अपर्याप्त, बादर—सूक्ष्म, नित्यनिगोद-इतरनिगोद, प्रतिष्ठितप्रत्येक और अप्रतिष्ठितप्रत्येकके भेदसे स्थावरकायिक जीव अनेक प्रकारके होते हैं ॥१३॥

---

१ ध. दियाइं। २ ध. तण्हा। ३ द. मच्चुस्सेओखेओ। ४ ध. सुत्तत्थ। ५ ध. सद्दहणं। ६ ध.-ट्ठयणिया। ७ ध. भेददो। ८ झ. ध. पयट्ठियरा।

बि-ति-चउ-पंचिंदियभेयओ तसा चउव्विहा मुणेयव्वा।
पज्जत्तियरा सण्णियरभेयओ हुंति बहुभेया ॥१४॥

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियके भेदसे त्रसकायिक जीव चार प्रकारके जानना चाहिए। ये ही त्रस जीव पर्याप्त-अपर्याप्त और संज्ञी-असंज्ञी आदिक प्रभेदोंसे अनेक प्रकारके होते हैं ॥१४॥

आउ-कुल-जोणि-मग्गण-गुण-जीवुवओग-पाण-सण्णाहिं।
णाऊण जीवदव्वं सद्दहणं होइ कायव्वं ॥१५॥

आयु, कुल, योनि, मार्गणास्थान, गुणस्थान, जीवसमास, उपयोग, प्राण और संज्ञा के द्वारा जीवद्रव्यको जानकर उसका श्रद्धान करना चाहिए ॥१५॥ (विशेष अर्थके लिए परिशिष्ट देखिये)

अजीवतत्त्व-वर्णन

दुविहा अजीवकाया उ रूविणो[2] अरूविणो मुणेयव्वा।
खंधा देस-पएसा अविभागी रूविणो चदुधा ॥१६॥
संयलं मुणेहि[3] खंधं अद्धं देसो पएसमद्धद्धं।
परमाणू अविभागी पुग्गलदव्वं जिणुद्दिट्ठं ॥१७॥

अजीवद्रव्यको रूपी और अरूपीके भेदसे दो प्रकारका जानना चाहिए। इनमें रूपी अजीवद्रव्य स्कंध, देश, प्रदेश और अविभागीके भेदसे चार प्रकारका होता है। सकल पुद्गलद्रव्यको स्कंध, स्कंधके आधे भागको देश, आधेके आधेको अर्थात् देशके आधेको प्रदेश और अविभागी अंशको परमाणु जानना चाहिए, ऐसा जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है ॥१६-१७॥

पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय-कम्म-परमाणू।
अइथूलथूलथूलं सुहुमं सुहुमं च[4] अइसुहुमं[5] ॥१८॥

अतिस्थूल (बादर-बादर), स्थूल (बादर), स्थूल-सूक्ष्म, सूक्ष्म-स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्म-सूक्ष्म, इस प्रकार पृथिवी आदिकके छः भेद होते हैं ॥ (इन छहोंके दृष्टान्त इस प्रकार हैं—पृथिवी अतिस्थूल पुद्गल है। जल स्थूल है। छाया स्थूल-सूक्ष्म है। चार इन्द्रियोंके विषय अर्थात् स्पर्श, रस, गंध और शब्द सूक्ष्म-स्थूल हैं। कर्म सूक्ष्म हैं और परमाणु सूक्ष्म-सूक्ष्म है) ॥१८॥

चउविहमरूविदव्वं धम्माधम्मंबराणि कालो य।
गइ-ठाणुग्गहणलक्खणाणि तह वट्टण[6]गुणो य ॥१९॥

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल ये चार प्रकारके अरूपी अजीवद्रव्य हैं। इनमें आदिके तीन क्रमशः गतिलक्षण, स्थितिलक्षण और अवगाहनलक्षण वाले हैं तथा काल वर्तनालक्षण है ॥१९॥

---

१ द. ओय। २ ध. रूविणोऽरूविणो। ३. द. ध. मुणेहि। ४ चकारात् 'सुहुमथूलं' ग्राह्यम्। ५ मुद्रित पुस्तकमें इस गाथाके स्थानपर निम्न दो गाथाएँ पाई जाती हैं—

अइथूलथूलथूलं थूलं सुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं च सुहुम सुहुमं धराइयं होइ छब्भेयं ॥१८॥
पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय कम्मपरमाणू।
छव्विहभेयं भणियं पुग्गलदव्वं जिणिंदेहिं ॥१९॥

ये दोनों गाथाएँ गो० जीवकांडमें क्रमशः ६०२ और ६०१ नं० पर कुछ शब्दभेदके साथ पाई जाती हैं। ६ भ. ध. वत्तण०।

परमत्थो ववहारो दुविहो कालो जिणेहिं पण्णत्तो ।
लोयायासपएसट्ठियाणवो मुक्खकालस्स ॥२०॥
गोणसमयस्स[1] एए कारणभूया जिणेहिं णिद्दिट्ठा ।
तीदाणागदभूश्रो ववहारो णंतसमश्रो य ॥२१॥

जिनेन्द्र भगवान्‌ने कालद्रव्य दो प्रकारका कहा है–परमार्थकाल और व्यवहारकाल । मुख्यकालके अणु लोकाकाशके प्रदेशोंपर स्थित हैं। इन कालाणुओंको व्यवहारकालका कारणभूत जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है। व्यवहारकाल अतीत और अनागत-स्वरूप अनन्त समयवाला कहा गया है ॥२०-२१॥

परिणामि-जीव-मुत्ताइएहि णाऊण दव्वसब्भावं ।
जिणवयणमणुसरंतेहि थिरमइ होइ कायव्वा ॥२२॥

परिणामित्व, जीवत्व और मूर्त्तत्वके द्वारा द्रव्यके सद्भावको जानकर जिन भगवान्‌के वचनोंका अनुसरण करते हुए भव्य जीवोंको अपनी बुद्धि स्थिर करना चाहिए ॥२२॥

परिणामि जीव मुत्तं सपएसं एयखित्त किरिया य ।
णिच्चं कारणकत्ता सव्वगदमियरम्हि अपवेसो ॥२३॥
दुण्णि य एयं एयं पंच य तिय एय दुण्णि चउरो य ।
पंच य एयं एयं मूलस्स य उत्तरे णेयं ॥२४॥

उपर्युक्त छह द्रव्योंमेंसे जीव और पुद्‌गल ये दो द्रव्य परिणामी हैं । एक जीवद्रव्य चेतन है और सब द्रव्य अचेतन हैं। एक पुद्‌गल द्रव्य मूर्त्तिक है और सब द्रव्य अमूर्त्तिक हैं। जीव, पुद्‌गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश ये पाँच द्रव्य प्रदेशयुक्त हैं, इसीलिए बहुप्रदेशी या अस्तिकाय कहलाते हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश, ये तीन द्रव्य एक-एक (और एक क्षेत्रावगाही) हैं। एक आकाशद्रव्य क्षेत्रवान् है, अर्थात् अन्य द्रव्योंको क्षेत्र (अवकाश) देता है। जीव और पुद्‌गल, ये दो द्रव्य क्रियावान् हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल, ये चार द्रव्य नित्य हैं, (क्योंकि, इनमें व्यंजनपर्याय नहीं है।) पुद्‌गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल, ये पाँच द्रव्य कारण-रूप हैं। एक जीवद्रव्य कर्त्ता है। एक आकाशद्रव्य सर्वव्यापी है। ये छहों द्रव्य एक क्षेत्रमें रहनेवाले हैं, तथापि एक द्रव्यका दूसरेमें प्रवेश नहीं है। इस प्रकार छहों मूलद्रव्योंके उपर्युक्त उत्तर गुण जानना चाहिए ॥२३-२४॥

सुहुमा अवायविसया खणखइणो अत्थपज्जया दिट्ठा ।
वंजणपज्जाया पुण थूला गिरगोयरा चिरविवत्था ॥२५॥

पर्यायके दो भेद हैं–अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय। इनमें अर्थपर्याय सूक्ष्म हैं, अवाय (ज्ञान) विषयक हैं, अतः शब्दसे नहीं कही जा सकती हैं और क्षण-क्षणमें बदलती हैं। किन्तु व्यंजनपर्याय स्थूल हैं, शब्द-गोचर हैं अर्थात् शब्दसे कही जा सकती हैं और चिरस्थायी हैं ॥२५॥

१ व्यवहारकालस्य ।

परिणामजुदो जीओ गइगमणुवलंभओ असंदेहो ।
तह पुग्गलो य पाहणपहुइ-परिणामदंसणा णाउं ॥२६॥

जीव परिणामयुक्त अर्थात् परिणामी है, क्योंकि उसका स्वर्ग, नरक आदि गतियोंमें निःसन्देह गमन पाया जाता है। इसी प्रकार पाषाण, मिट्टी आदि स्थूल पर्यायोंके परिणमन देखे जानेसे पुद्गलको परिणामी जानना चाहिए ॥२६॥

वंजणपरिणइविरहा धम्मादीआ हवे अपरिणामा ।
अत्थपरिणाममासिय सव्वे परिणामिणो अत्था ॥२७॥

धर्मादिक अर्थात् धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल, ये चार द्रव्य व्यंजनपर्यायके अभावसे अपरिणामी कहलाते हैं। किन्तु अर्थपर्यायकी अपेक्षा सभी पदार्थ परिणामी माने जाते हैं, क्योंकि अर्थपर्याय सभी द्रव्योंमें होती हैं ॥२७॥

जीवो हु जीवदव्वं एक्कं चिय चेयणाचुया सेसा ।
मुत्तं पुग्गलदव्वं रूवादिविलोयणा ण सेसाणि ॥२८॥

एक जीवद्रव्य ही जीवत्व धर्मसे युक्त है, और शेष सभी द्रव्य चेतनासे रहित हैं। एक पुद्गलद्रव्य ही मूर्त्तिक है, क्योंकि, उसीमें ही रूप, रसादिक देखे जाते हैं। शेष समस्त द्रव्य अमूर्त्तिक हैं, क्योंकि, उनमें रूपादिक नहीं देखे जाते हैं ॥२८॥

सपएस पंच कालं मुत्तूण पएससंचया णेया ।
अपएसो खलु कालो पएसबंधच्चुदो जम्हा ॥२९॥

कालद्रव्यको छोड़कर शेष पाँच द्रव्य सप्रदेशी जानना चाहिए; क्योंकि उनमें प्रदेशोंका संचय पाया जाता है। कालद्रव्य अप्रदेशी है, क्योंकि, वह प्रदेशोंके बंध या समूहसे रहित है, अर्थात् कालद्रव्यके कालाणु भिन्न-भिन्न ही रहते हैं ॥२९॥

धम्माधम्मागासा एगसरूवा पएसअविओगा ।
ववहारकाल-पुग्गल-जीवा हु अणेयरूवा ते ॥३०॥

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश, ये तीनों द्रव्य एक-स्वरूप हैं, अर्थात् अपने स्वरूप या आकारको बदलते नहीं हैं, क्योंकि, इन तीनों द्रव्योंके प्रदेश परस्पर अवियुक्त हैं अर्थात् समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हैं। व्यवहारकाल, पुद्गल और जीव, ये तीन द्रव्य अनेकस्वरूप हैं, अर्थात् वे अनेक रूप धारण करते हैं ॥३०॥

आगासमेव खित्तं अवगाहणलक्खणं जदो भणियं ।
सेसाणि पुणोऽखित्तं अवगाहणलक्खणाभावा ॥३१॥

एक आकाशद्रव्य ही क्षेत्रवान् है, क्योंकि, उसका अवगाहन लक्षण कहा गया है। शेष पाँच द्रव्य क्षेत्रवान् नहीं हैं, क्योंकि उनमें अवगाहन लक्षण नहीं पाया जाता है ॥३१॥

[1]सक्किरिय जीव-पुग्गल गमणागमणाइ-किरियउवलंभा ।
सेसाणि पुण वियाणसु किरियाहीणाणि तदभावा ॥३२॥

जीव और पुद्गल ये दो क्रियावान् हैं, क्योंकि, इनमें गमन, आगमन आदि क्रियाएँ पाई जाती हैं। शेष चार द्रव्य क्रिया-रहित हैं, क्योंकि, उनमें हलन-चलन आदि क्रियाएँ नहीं पाई जाती हैं ॥३२॥

---

१ ध 'सक्किरिया पुण जीवा पुग्गल गमणाइ'।

मुत्ता[1] जीवं कायं णिच्चा सेसा पयासिया समये ।
वंजणपरिणामचुया इयरे तं परिणयं पत्ता ।।३३।।

जीव और पुद्गल, इन दो द्रव्योंको छोड़कर शेष चारों द्रव्योंको परमागममें नित्य कहा गया है, क्योंकि उनमें व्यंजन-पर्याय नहीं पाई जाती हैं । । जीव और पुद्गल, इन दो द्रव्योंमें व्यंजनपर्याय पाई जाती है, इसलिए वे परिणामी और अनित्य हैं ।।३३।।

जीवस्सुवयारकरा कारणभूया हु पंच कायाई ।
जीवो सत्ता[2]भूओ सो ताणं[3] ण कारणं होइ ।।३४।।

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये पाँचों द्रव्य जीवका उपकार करते हैं, इसलिए वे कारणभूत हैं । किन्तु जीव सत्तास्वरूप है, इसलिए वह किसी भी द्रव्यका कारण नहीं होता है ।।३४।।

कत्ता सुहासुहाणं कम्माणं फल[4]भोयओ जम्हा ।
जीवो तप्फलभोया भोया सेसा ण कत्तारा[5] ।।३५।।

जीव शुभ और अशुभ कर्मोंका कर्त्ता है, क्योंकि, वही कर्मोंके फलको प्राप्त होता है और इसीलिए वह कर्मफलका भोक्ता है । किन्तु शेष द्रव्य न कर्मोंके कर्त्ता हैं और न भोक्ता ही हैं ।।३५।।

सव्वगदत्ता सव्वगमायासं णेव सेसगं दव्वं
अप्परिणामादीहि य बोहव्वा ते पयत्तेण ।।३६।।

सर्वत्र व्यापक होनेसे आकाशको सर्वगत कहते हैं । शेष कोई भी द्रव्य सर्वगत नहीं है । इस प्रकार अपरिणामित्व आदिके द्वारा इन द्रव्योंको प्रयत्नके साथ जानना चाहिए ।।३६।।

[6]ताण पवेसो वि तहा णेओ अण्णोण्णमणुपवेसेण ।
णिय-णियभावं पि सया एगीहुंता वि ण मुयंति ।।३७।।

यद्यपि ये छहों द्रव्य एक दूसरेमें प्रवेश करके एक ही क्षेत्रमें रहते हैं, तथापि एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें प्रवेश नहीं जानना चाहिए । क्योंकि, ये सब द्रव्य एक क्षेत्रावगाही हो करके भी अपने-अपने स्वभावको नहीं छोड़ते हैं ।।३७।।

उत्तं[7] च–

अण्णोण्णं पविसंता दिंता उग्गासमण्णमण्णेसिं ।
मेल्लंता वि य णिच्चं सग-सगभावं ण वि चयंति[8] ।।३८।।

कहा भी है––छहों द्रव्य परस्परमें प्रवेश करते हुए, एक दूसरेको अवकाश देते हुए और परस्पर मिलते हुए भी अपने-अपने स्वभावको नहीं छोड़ते हैं ।।३८।।

आस्रवतत्त्व-वर्णन

मिच्छत्ताविरइ-कसाय-जोयहेऊहिं[9] आसवइ कम्मं ।
जीवम्हि उवहिमज्झे जह सलिलं छिद्दणावाए ।।३९।। *

जिस प्रकार समुद्रके भीतर छेदवाली नावमें पानी आता है, उसी प्रकार जीवमें मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार कारणोंके द्वारा कर्म आस्रवित होता है ।।३९।।

१ झ. मोत्तुं, ब. मोत्तूं । २ झ. ब. संतय० । ३ ब. ताण । ४ ब. फलयभोयओ । ५ ब. कत्तारो, प. कत्तार । ६ ध. 'ताणि', प. 'णाण' । ७ झ. उक्तं । ८ पंचास्ति० गा० ७ । ९ झ. –हेवूहि ।

* मिथ्यात्वादिचतुष्केन जिनपूजादिना च यत् ।
कर्माशुभं शुभं जीवमास्पन्दे स्यात्स आस्रवः ।।१६।।—गुण० श्राव०

अरहंतभत्तियाइसु सुहोवओगेण आसवइ पुण्णं ।
विवरीएण दु पावं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥४०॥

अरहंतभक्ति आदि पुण्यक्रियाओंमें शुभोपयोगके होनेसे पुण्यका आस्रव होता है और इससे विपरीत अशुभोपयोगसे पापका आस्रव होता है, ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेवने कहा है ॥४०॥

बंधतत्त्व-वर्णन

[1]अण्णोण्णाणुपवेसो जो जीवपएसकम्मखंधाणं ।
सो पयडि-ट्ठिदि-अणुभव-पएसदो चउविहो बंधो ॥४१॥*

जीवके प्रदेश और कर्मके स्कन्धोंका परस्परमें मिलकर एकमेक होजाना बंध कहलाता है । वह बन्ध प्रकृति, स्थिति, अनुभव (अनुभाग) और प्रदेशके भेदसे चार प्रकारका होता है ॥४१॥

संवरतत्त्व-वर्णन

सम्मत्तेहिं वएहिं य कोहाइकसायणिग्गहगुणेहिं ।
जोगणिरोहेण तहा कम्मासवसंवरो होइ ॥४२॥ †

सम्यग्दर्शन, व्रत और क्रोधादि कषायोंके निग्रहरूप गुणोंके द्वारा तथा योग-निरोधसे कर्मोंका आस्रव रुकता है अर्थात् संवर होता है ॥४२॥

निर्जरातत्त्व-वर्णन

सविवागा अविवागा दुविहा पुण णिज्जरा मुणेयव्वा ।
सव्वेसिं जीवाणं पढमा विदिया तवस्सीणं ॥४३॥ ‡
जह रुद्धम्मि पवेसे सुस्सइ सरपाणियं रविकरेहिं ।
तह आसवे णिरुद्धे तवसा कम्मं मुणेयव्वं ॥४४॥

सविपाक और अविपाकके भेदसे निर्जरा दो प्रकारकी जाननी चाहिए । इनमेंसे पहली सविपाक निर्जरा सब संसारी जीवोंके होती है, किन्तु दूसरी अविपाक निर्जरा तपस्वी साधुओंके होती है । जिस प्रकार नवीन जलका प्रवेश रुक जानेपर सरोवरका पुराना पानी सूर्यकी किरणोंसे सूख जाता है, उसी प्रकार आस्रवके रुक जानेपर संचित कर्म तपके द्वारा नष्ट हो जाता है, ऐसा जानना चाहिए ॥४३-४४॥

१ ब. उ । २ ध. अण्णुण्णा ।

* स्यादन्योऽन्यप्रदेशानां प्रवेशो जीवकर्मणोः ।
स बन्धः प्रकृतिस्थित्यनुभावादिस्वभावकः ॥१७॥

† सम्यक्त्वव्रतैः कोपादिनिग्रहाद्योगरोधतः ।
कर्मास्रवनिरोधो यः सत्संवरः स उच्यते ॥१८॥

‡ सविपाकाविपाकाथ निर्जरा स्याद् द्विधादिमा ।
संसारे सर्वजीवानां द्वितीया सुतपस्विनाम् ॥१९॥—गुण० श्राव०

मोक्षतत्त्व-वर्णन

णिस्सेसकम्ममोक्खो मोक्खो जिणसासणे समुद्दिट्ठो।
तम्हि कए जीवोऽयं अणुहवइ अणंतयं सोक्खं ॥४५॥*

समस्त कर्मोंके क्षय हो जानेको जिनशासनमें मोक्ष कहा गया है। उस मोक्षके प्राप्त करनेपर यह जीव अनन्त सुखका अनुभव करता है ॥४५॥

णिद्देसं सामित्तं साहणमहियरण-ठिदि विहाणाणि[1]।
एएहि सव्वभावा जीवादीया मुणेयव्वा ॥४६॥

निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान, इन छह अनुयोगद्वारोंसे जीव आदिक सर्व पदार्थ जानना चाहिये ॥४६॥ (इनका विशेष परिशिष्टमें देखिये)

सत्त वि तच्चाणि मए भणियाणि जिणागमाणुसारेण।
एयाणि सद्दहंतो सम्माइट्ठी मुणेयव्वो ॥४७॥

ये सातों तत्त्व मैंने जिनागमके अनुसार कहे हैं। इन तत्त्वोंका श्रद्धान करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये ॥४७॥

सम्यक्त्वके आठ अङ्ग

णिस्संका णिक्कंखा[2] णिव्विदिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ठिदियरणं वच्छल्ल पहावणा चेव ॥४८॥

निःशंका, निःकांक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना, ये सम्यक्त्वके आठ अंग होते हैं ॥४८॥

संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरहा[3] उवसमो भत्ती।
[4]वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठ गुणा हुंति सम्मत्ते ॥४९॥
पाठान्तरम्—पूया अवण्णजणणं[5] अरुहाईणं पयत्तेण ॥

सम्यग्दर्शनके होनेपर संवेग, निर्वेग, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये आठ गुण उत्पन्न होते हैं ॥४९॥ (पाठान्तरका अर्थ—अर्हन्तादिककी पूजा और गुणस्मरणपूर्वक निर्दोष स्तुति प्रयत्न पूर्वक करना चाहिये।)

इच्चाइगुणा बहवो सम्मत्तविसोहिकारया भणिया।
जो उज्जमेदि एसु[6] सम्माइट्ठी जिणक्खादो ॥५०॥

उपर्युक्त आदि अनेक गुण सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि करनेवाले कहे गये हैं। जो जीव इन गुणोंकी प्राप्तिमें उद्यम करता है, उसे जिनेन्द्रदेवने सम्यग्दृष्टि कहा है ॥५०॥

१ निर्देशः स्वरूपाभिधानम्। स्वामित्वमाधिपत्यम्। साधनमुत्पत्तिकारणम्। अधिकरणमधिष्ठानम्। स्थितिः कालपरिच्छेदः। विधानं प्रकारः। २ इ. ब. 'णिस्संकिय णिक्कंखिय' इति पाठः। ३ ब. गरुहा। ४ ब. ध. प. प्रतिषु गाथोत्तरार्धस्यायं पाठः 'पूया अवण्णजणणं अरुहाईणं पयत्तेण' ५ अदोषोद्भावनम्। ६ झ. 'एदे'।

* निर्जरा-संवराभ्यां यो विश्वकर्मक्षयो भवेत्।
स मोक्ष इह विज्ञेयो भव्यैर्ज्ञानसुखात्मकः ॥२०॥—गुण० श्राव०

संकाइदोसरहिओ णिस्संकाइगुणजुयं परमं ।
कम्मणिज्जरणहेऊ तं सुद्धं होइ सम्मत्तं ॥५१॥

जो शंकादि दोषोंसे रहित है, निःशंकादि परम गुणोंसे युक्त है और कर्म-निर्जराका कारण है, वह निर्मल सम्यग्दर्शन है ॥५१॥

* अङ्गोंमें प्रसिद्ध होनेवालोंके नाम

रायगिहे णिस्संको चोरो णामेण अंजणो भणिओ ।
चंपाए णिक्कंखा वणिगसुदा णंतमइणामा ॥५२॥
णिव्विदिगिच्छो राओ उद्दायणु णाम रुद्दवरणयरे ।
रेवइ महुरा णयरे अमूढदिट्ठी मुणेयव्वा ॥५३॥
ठिदियरणगुणपउत्तो मागहणयरम्हि वारिसेणो दु ।
हत्थणापुरम्हि णयरे वच्छल्लं विण्हुणा रइयं ॥५४॥
उवगूहणगुणजुत्तो जिणयत्तो तामलित्तणयरीए ।
वज्जकुमारेण कया पहावणा चेव महुराए+ ॥५५॥

राजगृह नगरमें अंजन नामक चोर निःशंकित अंगमें प्रसिद्ध कहा गया है । चम्पा-नगरीमें अनन्तमती नामकी वणिक्पुत्री निःकांक्षित अंगमें प्रसिद्ध हुई । रुद्रवर नगरमें उद्दायन नामका राजा निर्विचिकित्सा अंगमें प्रसिद्ध हुआ । मथुरानगरमें रेवती रानी अमूढदृष्टि अंगमें प्रसिद्ध जानना चाहिये । मागधनगर (राजगृह) में वारिषेण नामक राजकुमार स्थितिकरण गुणको प्राप्त हुआ । हस्तिनापुर नामके नगरमें विष्णुकुमार मुनिने वात्सल्य अंग प्रकट किया है । ताम्रलिप्तनगरीमें जिनदत्त सेठ उपगूहन गुणसे युक्त प्रसिद्ध हुआ है और मथुरा नगरीमें वज्रकुमारने प्रभावना अंग प्रकट किया है ॥५२-५५॥

एरिसगुणअट्ठजुयं सम्मत्तं जो धरेइ दिढचित्तो ।
सो हवइ सम्मदिट्ठी सद्दहमाणो पयत्थे य ॥५६॥

जो जीव दृढ़चित्त होकर जीवादिक पदार्थोंका श्रद्धान करता हुआ उपर्युक्त इन आठ गुणोंसे युक्त सम्यक्त्वको धारण करता है, वह सम्यग्दृष्टि कहलाता है ॥५६॥

पंचुंबरसहियाइं सत्त वि विसणाइं जो विवज्जेइ ।
सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावओ भणिओ ॥५७॥

सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध है बुद्धि जिसकी, ऐसा जो जीव पाँच उदुम्बरफल सहित सातों ही व्यसनोंका त्याग करता है, वह दर्शनश्रावक कहा गया है ॥५७॥

उंबर-वड-पिप्पल-पिंपरीय[1]-संधाण-तरुपसूणाइं ।
णिच्चं तससंसिद्धाइं[2] ताइं परिवज्जियव्वाइं ॥५८॥

ऊँबर, बड़, पीपल, कठूमर और पाकर फल, इन पाँचों उदुम्बर फल, तथा संधानक (अचार) और वृक्षोंके फूल ये सब नित्य त्रसजीवोंसे संसिक्त अर्थात् भरे हुए रहते हैं इसलिए इन सबका त्याग करना चाहिए ॥५८॥

---

* क प्रतौ पाठोऽयमधिकः—'अतो गाथाषट्कं भावसंग्रहग्रन्थात् । + भाव सं० गा. २८०-२८३ ।
१ द. पंपरीय । २ प. संहिद्धाइं ।

जूयं मज्जं मंसं वेसा पारद्धि-चोर-परयारं ।
दुग्गइगमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि ॥५९॥ *

जूआ, शराब, मांस, वेश्या, शिकार, चोरी, और परदार-सेवन, ये सातों व्यसन दुर्गति-गमनके कारणभूत पाप हैं ॥५९॥

द्यूतदोष-वर्णन

जूयं खेलंतस्स हु कोहो माया य माण-लोहा[1] य ।
एए हवंति तिव्वा पावइ पावं तदो बहुगं ॥६०॥
पावेण तेण जर-मरण-वीचिपउरम्मि दुक्खसलिलम्मि ।
चउगइगमणावत्तम्मि हिंडइ भवसमुद्दम्मि ॥६१॥
तत्थ वि दुक्खमणंतं छेयण-भेयण विकत्तणाईणं ।
पावइ सरणविरहिओ[2] जूयस्स फलेण सो जीवो ॥६२॥
ण गणेइ इट्ठमित्तं ण गुरुं ण य मायरं पियरं वा ।
जूवंधो वुज्जाइं कुणइ अकज्जाइं बहुयाइं ॥६३॥
सजणे य परजणे वा देसे सव्वत्थ होइ णिल्लज्जो ।
माया वि ण विस्सासं वच्चइ जूयं रमंतस्स ॥६४॥
अग्गि-विस-चोर-सप्पा दुक्खं थोवं कुणंति[3] इहलोए ।
दुक्खं जणेइ जूयं णरस्स भवसयसहस्सेसु ॥६५॥
अक्खेहि णरो रहिओ ण मुणइ सेसिंदिएहिं वेएइ ।
जूयंधो ण य केण वि जाणइ संपुण्णकरणो वि ॥६६॥
अलियं करेइ सवहं जंपइ मोसं भणेइ अइदुट्ठं ।
पासम्मि बहिणि-मायं सिसुं पि हणेइ कोहंधो ॥६७॥
ण य भुंजइ आहारं णिद्दं ण लहेइ रत्ति-दिण्णं ति ।
कत्थ वि ण कुणेइ रइं अत्थइ चिंताउरो[4] णिच्चं ॥६८॥
इच्चेवमाइबहवो दोसे[5] णाऊण जूयरमणम्मि ।
परिहरियव्वं णिच्चं दंसणगुणमुव्वहंतेण ॥६९॥

जूआ खेलनेवाले पुरुषके क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों कषाय तीव्र होती हैं, जिससे जीव अधिक पापको प्राप्त होता है ॥६०॥ उस पापके कारण यह जीव जन्म, जरा, मरणरूपी तरंगोंवाले, दुःखरूप सलिलसे भरे हुए और चतुर्गति-गमनरूप आवर्तों (भँवरों) से संयुक्त ऐसे संसार-समुद्रमें परिभ्रमण करता है ॥६१॥ उस संसारमें जूआ खेलनेके फलसे यह जीव शरण-रहित होकर छेदन, भेदन, कर्त्तन आदिके अनन्त दुःखको पाता है ॥६२॥ जूआ खेलनेसे अन्धा हुआ मनुष्य इष्ट मित्रको कुछ नहीं गिनता है, न गुरुको, न माताको और न पिताको ही कुछ समझता है, किन्तु स्वच्छन्द होकर पापमयी बहुतसे अकार्योंको करता है ॥६३॥ जूआ खेलनेवाला पुरुष स्वजनमें, परजनमें, स्वदेशमें, परदेशमें, सभी जगह निर्लज्ज हो जाता है। जूआ खेलनेवालेका विश्वास उसकी माता तक भी नहीं करती है ॥६४॥ इस लोकमें अग्नि,

१ झ. 'लोहो' इति पाठः । २ ब. विरहियं इति पाठः । ३ ब. 'करंति' इति पाठः । ४ झ.-'वरो' इति पाठः । ५ झ. 'दोषा' इति पाठः ।

* द्यूतमद्यामिषं वेश्याखेटचौर्यपराङ्गना ।
सप्तैव तानि पापानि व्यसनानि त्यजेत्सुधीः ॥११४॥
गुण० श्राव० ।

विष, चोर और सर्प तो अल्प दुख देते हैं, किन्तु जूआका खेलना मनुष्यके हजारों, लाखों भवोंमें दुःखको उत्पन्न करता है ॥६५॥ आँखोंसे रहित मनुष्य यद्यपि देख नहीं सकता है, तथापि शेष इन्द्रियोंसे तो जानता है। परन्तु जूआ खेलनेमें अन्धा हुआ मनुष्य सम्पूर्ण इन्द्रियोंवाला हो करके भी किसीके द्वारा कुछ नहीं जानता है ॥६६॥ वह झूठी शपथ करता है, झूठ बोलता है, अति दुष्ट वचन कहता है और क्रोधान्ध होकर पासमें खड़ी हुई बहिन, माता और बालकको भी मारने लगता है ॥६७॥ जुआरी मनुष्य चिन्तासे न आहार करता है, न रात-दिन नींद लेता है, न कहीं पर किसी भी वस्तुसे प्रेम करता है, किन्तु निरन्तर चिन्तातुर रहता है ॥६८॥ जूआ खेलनेमें उक्त अनेक भयानक दोष जान करके दर्शनगुणको धारण करनेवाले अर्थात् दर्शन प्रतिमायुक्त उत्तम पुरुषको जूआका नित्य ही त्याग करना चाहिये ॥६९॥

मद्यदोष-वर्णन

मज्जेण णरो अवसो कुणेइ कम्माणि णिंदणिज्जाइं।
इहलोए परलोए अणुहवइ अणंतयं दुक्खं ॥७०॥
अइलंघिओ विचिट्ठो पडेइ रत्थाययंगणे[1] मत्तो।
पडियस्स सारमेया वयणं विलिहंति जिब्भाए ॥७१॥
उच्चारं पस्सवणं तत्थेव कुणंति तो समुल्लवइ।
पडिओ वि सुरा मिट्ठो पुणो वि मे देइ मूढमई ॥७२॥
जं किंचि तस्स दव्वं अजाणमाणस्स हिप्पइ परेहिं।
लहिऊण किंचि सण्णं इदो तदो धावइ खलंतो ॥७३॥
जेणज्ज मज्झ दव्वं गहियं दुट्ठेण से जमो कुद्धो।
कहिं जाइ सो जिवंतो सीसं छिंदामि खग्गेण ॥७४॥
एवं सो गज्जंतो कुविओ गंतूण मंदिरं णिययं।
घित्तूण लउडि सहसा रुट्ठो भंडाइं फोडेइ ॥७५॥
णिययं पि सुयं बहिणिं अणिच्छमाणं बला विधंसेइ।
जंपइ अजंपणिज्जं ण विजाणइ किं पि मयमत्तो ॥७६॥
इय अवराइं बहुसो काऊण बहूणि लज्जणिज्जाणि।
अणुबंधइ बहु पावं मज्जस्स वसंगदो संतो ॥७७॥
पावेण तेण बहुसो जाइ-जरा-मरणसावयाइण्णे।
पावइ अणंतदुक्खं पडिओ संसारकंतारे ॥७८॥
एवं बहुप्पयारं दोसं णाऊण[2] मज्जपाणम्मि।
मण-वयण-काय-कय-कारिदाणुमोएहिं वज्जिज्जो ॥७९॥

मद्य-पानसे मनुष्य उन्मत्त होकर अनेक निंदनीय कार्योंको करता है, और इसीलिए इस लोक तथा परलोकमें अनन्त दुःखोंको भोगता है ॥७०॥ मद्यपायी उन्मत्त मनुष्य लोक-मर्यादाका उल्लंघन कर बेसुध होकर रथ्यांगण (चौराहे) में गिर पड़ता है और इस प्रकार पड़े हुए उसके (लार बहते हुए) मुखको कुत्ते जीभसे चाटने लगते हैं ॥७१॥ उसी दशामें कुत्ते उसपर उच्चार (टट्टी) और प्रस्रवण (पेशाब) करते हैं। किन्तु वह मूढ़मति उसका स्वाद लेकर पड़े-पड़े ही पुनः कहता है कि सुरा (शराब) बहुत मीठी

---

१ ब. रत्थाइयंगणे। प. रत्थाएयंगणे। २ झ. नाऊण।

है, मुझे पीनेको और दो ॥७२॥ उस बेसुध पड़े हुए मद्यपायीके पास जो कुछ द्रव्य होता है, उसे दूसरे लोग हर ले जाते हैं। पुनः कुछ संज्ञाको प्राप्तकर अर्थात् कुछ होशमें आकर गिरता-पड़ता इधर-उधर दौड़ने लगता है ॥७३॥ और इस प्रकार बकता जाता है कि जिस बदमाशने आज मेरा द्रव्य चुराया है और मुझे क्रुद्ध किया है, उसने यमराजको ही क्रुद्ध किया है। अब वह जीता बचकर कहाँ जायगा, मैं तलवारसे उसका शिर काटूँगा ॥७४॥ इस प्रकार कुपित वह गरजता हुआ अपने घर जाकर लकड़ीको लेकर रुष्ट हो सहसा भांडों (बर्तनों) को फोड़ने लगता है ॥७५॥ वह अपने ही पुत्रको, बहिनको, और अन्य भी सबको–जिनको अपनी इच्छाके अनुकूल नहीं समझता है, बलात् मारने लगता है और नहीं बोलने योग्य वचनोंको बकता है। मद्य-पानसे प्रबल उन्मत्त हुआ वह भले-बुरेको कुछ भी नहीं जानता है ॥७६॥ मद्यपानके वशको प्राप्त हुआ वह इन उपर्युक्त कार्योंको, तथा और भी अनेक लज्जा-योग्य निर्लज्ज कार्योंको करके बहुत पापका बंध करता है ॥७७॥ उस पापसे वह जन्म, जरा और मरणरूप श्वापदों (सिंह, व्याघ्र आदि क्रूर जानवरोंसे) आकीर्ण अर्थात् भरे हुए संसाररूपी कान्तार (भयानक वन) में पड़कर अनन्त दुःखको पाता है ॥७८॥ इस तरह मद्यपानमें अनेक प्रकारके दोषोंको जान करके मन, वचन, और काय, तथा कृत, कारित और अनुमोदनासे उसका त्याग करना चाहिए ॥७९॥

मधुदोष-वर्णन

जह मज्जं तह य महू जणयदि पावं णरस्स अइबहुयं।
असुइ व्व णिंदणिज्जं वज्जेयव्वं पयत्तेण ॥८०॥
दट्ठूण असणमज्झे पडियं जइ मच्छियं पि णिट्ठिवइ।
कह मच्छियंडयाणं णिज्जासं[1] णिग्घिणो पिबइ ॥८१॥
भो भो जिब्भिंदियलुद्धयाणमच्छेरयं[2] पलोएह।
किमि मच्छियणिज्जासं महुं पवित्तं भणंति जदो ॥८२॥
लोगे वि सुप्पसिद्धं बारह गामाइ जो डहइ अदओ।
तत्तो सो अहिययरो पाविट्ठो जो महुं हणइ ॥८३॥
जो अवलेहइ[3] णिच्चं णिरयं[4] सो जाइ[5] णत्थि संदेहो।
एवं णाऊण[6] फुडं वज्जेयव्वं महुं तम्हा ॥८४॥

मद्यपानके समान मधु-सेवन भी मनुष्यके अत्यधिक पापको उत्पन्न करता है। अशुचि (मल-मूत्र वमनादिक) के समान निंद्यनीय इस मधुका प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिए ॥८०॥ भोजनके मध्यमें पड़ी हुई मक्खी को भी देखकर यदि मनुष्य उसे उगल देता है अर्थात् मुंहमें रखे हुए ग्रासको थूक देता है, तो आश्चर्य है कि वह मधु-मक्खियोंके अंडोंके निर्दयतापूर्वक निकाले हुए घृणित रसको अर्थात् मधुको निर्दय या निर्घृण बनकर कैसे पी जाता है ॥८१॥ भो-भो लोगो, जिह्वेन्द्रिय-लुब्धक (लोलुपी) मनुष्योंके आश्चर्य को देखो, कि लोग मक्खियोंके रसस्वरूप इस मधुको कैसे पवित्र कहते हैं ॥८२॥ लोकमें भी यह कहावत प्रसिद्ध है कि जो निर्दयी बारह गाँवोंको जलाता है, उससे भी अधिक

---

१ झ. नियसिं निश्चोटनं निबोडनमिति। प. निःपीलनम्। ध. निर्यासम्। २ क. ध. मच्छेयर। ३ आस्वादयति। ४ झ. नियं। ५ प. जादि। ६ क. नाऊण।

पापी वह है जो मधु-मक्खियोंके छत्तेको तोड़ता है ॥८३॥ इस प्रकारके पाप-बहुल मधुको जो नित्य चाटता है–खाता है, वह नरकमें जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। ऐसा जानकर मधुका त्याग करना चाहिए ॥८४॥

मांसदोष-वर्णन

मंसं अमेज्झसरिसं किमिकुलभरियं दुगंधवीभच्छं ।
पाएण छिवेउं जं ण तीरए तं कहं भोत्तुं ॥८५॥
मंसासणेण वड्ढइ दप्पो दप्पेण मज्जमहिलसइ ।
जूयं पि रमइ तो तं पि वण्णिए पाउणइ दोसे ॥८६॥
लोइय[1] सत्थम्मि वि वण्णियं जहा गयणगामिणो विप्पा ।
भुवि मंसासणेण पडिया तम्हा ण पउंजए[2] मंसं ॥८७॥

मांस अमेध्य अर्थात् विष्टाके समान है, कृमि अर्थात् छोटे-छोटे कीड़ोंके, समूहसे भरा हुआ है, दुर्गन्धियुक्त है, बीभत्स है और पैरसे भी छूने योग्य नहीं है, तो फिर भला वह मांस खानेके लिए योग्य कैसे हो सकता है ॥८५॥ मांस खानेसे दर्प बढ़ता है, दर्पसे वह शराब पीनेकी इच्छा करता है और इसीसे वह जुआ भी खेलता है। इस प्रकार वह प्रायः ऊपर वर्णन किये गये सभी दोषोंको प्राप्त होता है ॥८६॥ लौकिक शास्त्रमें भी ऐसा वर्णन किया गया है कि गगनगामी अर्थात् आकाशमें चलनेवाले भी ब्राह्मण मांसके खानेसे पृथ्वीपर गिर पड़े। इसलिए मांसका उपयोग नहीं करना चाहिए ॥८७॥

वेश्यादोष-वर्णन

कारुय-किराय-चंडाल-डोंब-पारसियाणमुच्छिट्ठं ।
सो भक्खेइ जो सह वसइ एयरत्तिं पि वेस्साए[3] ॥८८॥
रत्तं णाऊण[4] णरं सव्वस्सं[5] हरइ वंचणसएहिं ।
काऊण मुयइ पच्छा पुरिसं चम्मट्ठिपरिसेसं ॥८९॥
पभणइ पुरओ एयस्स सामी मोत्तूण णत्थि[6] मे अण्णो ।
उच्चइ[7] अण्णस्स पुणो करेइ चाडूणि बहुयाणि ॥९०॥
माणी कुलजो सूरो वि कुणइ दासत्तणं पि णीचाणं ।
वेस्सा[8] कएण बहुगं अवमाणं सहइ कामंधो ॥९१॥
जे मज्जमंसदोसा वेस्सा[9] गमणम्मि होंति ते सव्वे ।
पावं पि तत्थ हिट्ठं पावइ णियमेण सविसेसं ॥९२॥
पावेण तेण दुक्खं पावइ संसार-सायरे घोरे ।
तम्हा परिहरियव्वा वेस्सा[10] मण-वयणकाएहिं ॥९३॥

जो कोई भी मनुष्य एक रात भी वेश्याके साथ निवास करता है, वह कारु अर्थात् लुहार, चमार, किरात (भील), चंडाल, डोंब (भंगी) और पारसी आदि नीच लोगोंका जूठा खाता है। क्योंकि, वेश्या इन सभी नीच लोगोंके साथ समागम करती है ॥८८॥ वेश्या, मनुष्यको अपने ऊपर आसक्त जानकर सैकड़ों प्रवंचनाओंसे उसका सर्वस्व हर

---

१ ब. लोइये। २ इ. 'ण वज्जए', झ. 'ण पवज्जए' इति पाठः। ३ झ. ब. वेसाए। ४ झ. नाऊण, ५ ब. सव्वं सहरइ। ६ झ. ब. 'णत्थि' स्थाने 'तं ण' इति पाठः। ७ झ. बुच्चइ। ८, ९, १०, झ. ब. वेसा०।

लेती है और पुरुषको अस्थि-चर्म परिशेष करके, अर्थात् जब उसमें हाड़ और चाम ही अवशेष रह जाता है, तब उसको छोड़ देती है ।।८९।। वह एक पुरुषके सामने कहती है कि तुम्हें छोड़कर अर्थात् तुम्हारे सिवाय मेरा कोई स्वामी नहीं है । इसी प्रकार वह अन्यसे भी कहती है और अनेक चाटुकारियाँ अर्थात् खुशामदी बातें करती है ।।९०।। मानी, कुलीन और शूरवीर भी मनुष्य वेश्यामें आसक्त होनेसे नीच पुरुषोंकी दासता (नौकरी या सेवा) को करता है और इस प्रकार वह कामान्ध होकर वेश्याओं के द्वारा किये गये अनेकों अपमानोंको सहन करता है ।।९१।। जो दोष मद्य और मांसके सेवनमें होते हैं, वे सब दोष वेश्यागमनमें भी होते हैं। इसलिए वह मद्य और मांस सेवनके पापको तो प्राप्त होता ही है, किन्तु वेश्या-सेवनके विशेष अधम पापको भी नियमसे प्राप्त होता है ।।९२।। वेश्या-सेवन-जनित पापसे यह जीव घोर संसार-सागरमें भयानक दुःखोंको प्राप्त होता है, इसलिए मन, वचन और कायसे वेश्याका सर्वथा त्याग करना चाहिए ।।९३।।

पारद्धिदोष-वर्णन

सम्मत्तस्स पहाणो अणुकंवा वण्णिओ गुणो जम्हा ।
पारद्धिरमणसीलो सम्मत्तविराहओ तम्हा ।।९४।।
दट्ठूण मुक्ककेसं पलायमाणं तहा पराहुत्तं ।
रद[1]धरियतिणं[2] सूरा कयापराहं वि ण हणंति ।।९५।।
णिच्चं पलायमाणो तिण[3]चारी तह णिरवराहो वि ।
कह णिग्घणो हणिज्जइ[4] आरण्णणिवासिणो वि मए ।।९६।।
गो-बंभणित्थिघायं परिहरमाणस्स होइ[5] जइ धम्मो ।
सव्वेसिं जीवाणं दयाए[6] ता किं ण सो हुज्जा ।।९७।।
गो-बंभण-महिलाणं विणिवाए हवइ जह महापावं ।
तह इयरपाणिघाए वि होइ पावं ण संदेहो ।।९८।।
महु-मज्ज-मंससेवी पावइ पावं चिरेण जं घोरं ।
तं एयदिणे पुरिसो लहेइ पारद्धिरमणेण ।।९९।।
संसारम्मि अणंतं दुक्खं पाउणदि तेण पावेण ।
तम्हा विवज्जियव्वा पारद्धी देसविरएण ।।१००।।

सम्यग्दर्शनका प्रधान गुण यतः अनुकंपा अर्थात् दया कही गई है, अतः शिकार खेलनेवाला मनुष्य सम्यग्दर्शनका विराधक होता है ।।९४।। जो मुक्त-केश हैं, अर्थात् भयके मारे जिनके रोंगटे (बाल) खड़े हुए हैं, ऐसे भागते हुए तथा पराङ्मुख अर्थात् अपनी ओर पीठ किये हुए हैं और दाँतोंमें जो तृण अर्थात् घासको दाबे हुए हैं, ऐसे अपराधी भी दीन जीवोंको शूरवीर पुरुष नहीं मारते हैं ।।९५।। भयके कारण नित्य भागनेवाले, घास खानेवाले तथा निरपराधी और वनोंमें रहनेवाले ऐसे भी मृगोंको निर्दयी पुरुष कैसे मारते हैं ? (यह महा आश्चर्य है !) ।।९६।। यदि गौ, ब्राह्मण और स्त्री-घातका परिहार करनेवाले पुरुषको धर्म होता है, तो सभी जीवोंकी दयासे वह धर्म क्यों नहीं होगा ? ।।९७।। जिस प्रकार गौ, ब्राह्मण और स्त्रियोंके मारनेमें महापाप होता है, उसी प्रकार अन्य प्राणियोंके घातमें भी महापाप होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ।।९८।। चिर काल तक मधु, मद्य और मांसका सेवन करनेवाला जिस घोर पापको प्राप्त होता है, उस

१ झ. दंत० । २ ब. तणं । ३ ब. तण० । ४ झ. ब. हणिज्जा । ५ ब. हवइ । ६ ब. दयायि ।

पापको शिकारी पुरुष एक दिन भी शिकारके खेलनेसे प्राप्त होता है ॥९९॥ उस शिकार खेलनेके पापसे यह जीव संसारमें अनन्त दुःखको प्राप्त होता है। इसलिए देशविरत श्रावकको शिकारका त्याग करना चाहिए ॥१००॥

चौर्यदोष-वर्णन

परदव्वहरणसीलो इह-परलोए असायबहुलाओ।
पाउणइ जायणाओ ण कयावि सुहं पलोएइ ॥१०१॥
हरिऊण परस्स धणं चोरो परिवेवमाणसव्वंगो।
चइऊण णिययगेहं[1] धावइ उप्पहेण संतत्तो[2] ॥१०२॥
किं केण वि दिट्ठो हं ण वेत्ति हियएण धगधगंतेण।
लहुक्कइ पलाइ[3] पखलइ णिद्दं ण लहेइ भयविट्ठो[4] ॥१०३॥
ण गणेइ माय-वप्पं गुरु-मित्तं सामिणं तवस्सिं वा।
पबलेण[5] हरइ छलेण किंचिण्णं[6] किंपि जं तेसिं ॥१०४॥
लज्जा तहाभिमाणं जस-सीलविणासमादणासं च।
परलोयभयं चोरो अगणंतो साहसं कुणइ ॥१०५॥
हरमाणो परदव्वं दट्ठूणारक्खिएहिं तो सहसा।
रज्जूहिं बंधिऊणं घिप्पइ सो मोरबंधेण ॥१०६॥
हिंडाविज्जइ टिंटे रत्थासु चढाविऊण खरपुट्ठिं।
वित्थारिज्जइ चोरो एसो त्ति जणस्स मज्झम्मि ॥१०७॥
अण्णो वि परस्स धणं जो हरइ[7] सो एरिसं फलं लहइ।
एवं भणिऊण पुणो णिज्जइ पुर-बाहिरे तुरियं ॥१०८॥
णेत्तुद्धारं अह पाणि-पायगहणं णिसुंभणं अहवा।
जीवंतस्स वि सूलावारोहणं कीरइ खलेहिं[8] ॥१०९॥
एवं पिच्छंता वि हु परदव्वं चोरियाइ गेण्हंति।
ण मुणंति किं पि सहियं पेच्छइ हो मोह[9]माहप्पं ॥११०॥
परलोए वि य चोरो चउगइ-संसार-सायर-निमण्णो।
पावइ दुक्खमणंतं तेयं परिवज्जए तम्हा ॥१११॥

पराये द्रव्यको हरनेवाला, अर्थात् चोरी करनेवाला मनुष्य इस लोक और परलोक में असाता-बहुल, अर्थात् प्रचुर दुःखोंसे भरी हुई अनेकों यातनाओंको पाता है और कभी भी सुखको नहीं देखता है ॥१०१॥ पराये धनको हर कर भय-भीत हुआ चोर थर-थर काँपता है और अपने घरको छोड़कर संतप्त होता हुआ वह उत्पथ अर्थात् कुमार्गसे इधर-उधर भागता-फिरता है ॥१०२॥ क्या किसीने मुझे देखा है, अथवा नहीं देखा है, इस प्रकार धक्-धक् करते हुए हृदयसे कभी वह चोर लुकता-छिपता है, कभी कहीं भागता है और इधर-उधर गिरता है तथा भयाविष्ट अर्थात् भयभीत होनेसे नींद नहीं ले पाता है ॥१०३॥ चोर अपने माता, पिता, गुरु, मित्र, स्वामी और तपस्वीको भी कुछ नहीं गिनता है; प्रत्युत जो कुछ भी उनके पास होता है, उसे भी बलात् या छलसे हर लेता है ॥१०४॥ चोर लज्जा, अभिमान, यश और शीलके विनाशको, आत्माके विनाशको और परलोकके भयको नहीं गिनता हुआ चोरी करनेका साहस करता है ॥१०५॥ चोरको पराया द्रव्य हरते हुए देखकर आरक्षक अर्थात् पहरेदार कोटपाल आदिक

१ ब. णिययघरोहं। २ झ. ब संतट्ठो। ३ म. पलायमाणो। ४ झ. भयघत्थो, ब. भयवच्छो। ५ झ. ब. पच्चेलिउ। ६ झ. किं घणं, ब. किं वणं। ७ झ हरेइ। ८ ब. खिलेहिं। ९ ब. मोहस्स।

रस्सियोंसे बाँधकर, मोरबंधसे अर्थात् कमरकी ओर हाथ बाँधकर पकड़ लेते हैं ॥१०६॥ और फिर उसे टिंटा अर्थात् जुआखाने या गलियोंमें घुमाते हैं और गधेकी पीठ पर चढ़ाकर 'यह चोर है' ऐसा लोगोंके बीचमें घोषित कर उसकी बदनामी फैलाते हैं। ॥१०७॥ और भी जो कोई मनुष्य दूसरेका धन हरता है, वह इस प्रकारके फलको पाता है, ऐसा कहकर पुनः उसे तुरन्त नगरके बाहिर ले जाते हैं ॥१०८॥ वहाँ ले जाकर खलजन उसकी आँखें निकाल लेते हैं, अथवा हाथ-पैर काट डालते हैं, अथवा जीता हुआ ही उसे शूलीपर चढ़ा देते हैं ॥१०९॥ इस प्रकारके इहलौकिक दुष्फलोंको देखते हुए भी लोग चोरीसे पराये धनको ग्रहण करते हैं और अपने हितको कुछ भी नहीं समझते हैं, यह बड़े आश्चर्यकी बात है। हे भव्यो, मोहके माहात्म्यको देखो ॥११०॥ परलोकमें भी चोर चतुर्गतिरूप संसार-सागरमें निमग्न होता हुआ अनन्त दुःखको पाता है, इसलिए चोरीका त्याग करना चाहिए ॥१११॥

परदारादोष-वर्णन

दट्ठूण परकलत्तं णिब्बुद्धी जो करेइ अहिलासं।
ण य किं पि तत्थ पावइ पावं एमेव अज्जेइ ॥११२॥
णिस्ससइ रुयइ गायइ णिययसिरं हणइ महियले पडइ।
परमहिलमलभमाणो असप्पलावं पि जंपेइ ॥११३॥
चिंतेइ मं किमिच्छइ ण वेइ सा केण वा उवाएण।
'अण्णेमि' कहमि कस्स वि ण वेत्ति चिंताउरो सददं ॥११४॥
ण य कत्थ वि कुणइ रइं मिट्ठं पि य भोयणं ण भुंजेइ।
णिद्दं पि अलहमाणो[1] अच्छइ विरहेण संतत्तो ॥११५॥
लज्जाकुलमज्जायं[2] छंडिऊण मज्जाइभोयणं किच्चा।
परमहिलाणं चित्तं अमुणंतो पत्थणं कुणइ ॥११६॥
णेच्छंति जइ वि ताओ उवयारसयाणि कुणइ सो तह वि।
णिब्भच्छिज्जंतो पुण अप्पाणं झूरइ विलक्खो ॥११७॥
अह भुंजइ परमहिलं अणिच्छमाणं बला धरेऊणं।
किं तत्थ हवइ सुक्खं पच्चेल्लिउ पावए दुक्खं ॥११८॥
अह कावि पावबहुला असई णिण्णासिऊण णियसीलं।
सयमेव[3] पच्छियाओ[4] उवरोहवसेण अप्पाणं ॥११९॥
जइ देइ तह वि तत्थ सुण्णहर-खंडदेउलयमज्झम्मि[5]।
सच्चित्ते भयभीओ[6] सोक्खं किं तत्थ पाउणइ ॥१२०॥
सोऊण किं पि सद्दं सहसा परिवेवमाणसव्वंगो।
ल्हुक्कइ पलाइ पखलइ चउद्दिसं णियइ भयभीओ ॥१२१॥
जइ पुण केण वि दीसइ णिज्जइ तो बंधिऊण णिवगेहं।
चोरस्स णिग्गहं सो तत्थ वि पाउणइ सविसेसं ॥१२२॥
पेच्छह मोहविणडिओ लोगो दट्ठूण एरिसं दोसं।
पच्चक्खं तह वि खलो परित्थिमहिलसदि[7] दुच्चित्तो ॥१२३॥
परलोयम्मि अणंतं दुक्खं पाउणइ इहभवसमुद्दम्मि।
परयारा परमहिला तम्हा तिविहेण वज्जिज्जा ॥१२४॥

१ ब. अलभमाणो। २ इ. -कुलकम्मं, म. ब. ध. -कुलक्कमं। ३ झ. सयमेवं। ४ ध. -प्रस्थिता। ५ झ. मज्झयारम्मि। ६ झ. म. भयभीदो। ७ झ. ब. भो चित्तं।

जो निर्बुद्धि पुरुष परायी स्त्रीको देखकर उसकी अभिलाषा करता है, सो ऐसा करनेपर वह पाता तो कुछ नहीं है, केवल पापका ही उपार्जन करता है ॥११२॥ परस्त्री-लम्पट पुरुष जब अभिलषित पर-महिलाको नहीं पाता है, तब वह दीर्घ निःश्वास छोड़ता है, रोता है, कभी गाता है, कभी अपने शिरको फोड़ता है और कभी भूतल पर गिरता पड़ता है और असत्प्रलाप भी करता है ॥११३॥ परस्त्री-लम्पट सोचता है कि वह स्त्री मुझे चाहती है, अथवा नहीं चाहती है ? मैं उसे किस उपायसे लाऊँ ? किसीसे कहूँ, अथवा नहीं कहूँ ? इस प्रकार निरन्तर चिन्तातुर रहता है ॥११४॥ वह परस्त्री-लम्पटी कहीं पर भी रतिको नहीं प्राप्त करता है, मिष्ट भी भोजनको नहीं खाता है और निद्राको नहीं लेता हुआ वह सदा स्त्री-विरहसे संतप्त बना रहता है ॥११५॥ परस्त्री-लम्पटी लज्जा और कुल-मर्यादाको छोड़कर मद्य-मांस आदि निंद्य भोजनको करके परस्त्रियोंके चित्तको नहीं जानता हुआ उनसे प्रार्थना किया करता है ॥११६॥ इतने पर भी यदि वे स्त्रियाँ उसे नहीं चाहती हैं, तो वह उनकी सैकड़ों खुशामदें करता है। फिर भी उनसे भर्त्सना किये जाने पर विलक्ष अर्थात् लक्ष्य-भ्रष्ट हुआ वह अपने आपको झूरता रहता है ॥११७॥ यदि वह लम्पटी नहीं चाहनेवाली किसी पर-महिलाको जबर्दस्ती पकड़कर भोगता है, तो वैसी दशामें वह उसमें क्या सुख पाता है? प्रत्युत दुःखको ही पाता है ॥११८॥यदि कोई पापिनी दुराचारिणी अपने शीलको नाश करके उपरोधके वशसे कामी पुरुषके पास स्वयं उपस्थित भी हो जाय, और अपने आपको सौंप भी देवे ॥११९॥ तो भी उस शून्य गृह या खंडित देवकुलके भीतर रमण करता हुआ वह अपने चित्तमें भय-भीत होनेसे वहाँ पर क्या सुख पा सकता है ? ॥१२०॥ वहाँ पर कुछ भी जरा-सा शब्द सुनकर सहसा थर-थर काँपता हुआ इधर-उधर छिपता है, भागता है, गिरता है और भय-भीत हो चारों दिशाओंको देखता है ॥१२१॥ इसपर भी यदि कोई देख लेता है तो वह बाँधकर राज-दरबारमें ले जाया जाता है और वहाँपर वह चोरसे भी अधिक दंडको पाता है ॥१२२॥ मोहकी विडम्बनाको देखो कि परस्त्री-मोहसे मोहित हुए खल लोग इस प्रकारके दोषोंको प्रत्यक्ष देखकर भी अपने चित्तमें परायी स्त्रीकी अभिलाषा करते हैं ॥१२३॥ परस्त्री-लम्पटी परलोकमें इस संसार-समुद्रके भीतर अनन्त दुःखको पाता है। इसलिए परिगृहीत या अपरिगृहीत परस्त्रियोंको मन वचन कायसे त्याग करना चाहिये ॥१२४॥

सप्तव्यसनदोष-वर्णन

रज्जब्भंसं वसणं बारह संवच्छराणि वणवासो।
पत्तो तहावमाणं जूएण जुहिट्ठिलो राया ॥१२५॥

जूआ खेलनेसे युधिष्ठिर राजा राज्यसे भ्रष्ट हुए, बारह वर्ष तक वनवासमें रहे तथा अपमानको प्राप्त हुए ॥१२५॥

उज्जाणम्मि रमंता तिसाभिभूया जल त्ति णाऊण।
पिबिऊण जुण्णमज्जं णट्ठा ते[1] जादवा तेण ॥१२६॥

उद्यानमें क्रीडा करते हुए प्याससे पीड़ित होकर यादवोंने पुरानी शराबको 'यह जल है' ऐसा जानकर पिया और उसीसे वे नष्ट हो गये ॥१२६॥

---

१ झ. ब. तो।

मंसासणेण गिद्धो[1] वगरक्खो एग[2]चक्कणयरम्मि ।
रज्जाओ पब्भट्ठो अयसेण मुओ गओ णरयं ॥१२७॥

एकचक्र नामक नगरमें मांस खानेमें गृद्ध बक राक्षस राज्यपदसे भ्रष्ट हुआ, अपयशसे मरा और नरक गया ॥१२७॥

सव्वत्थ णिवुणबुद्धी वेसासंगेण चारुदत्तो वि ।
खइऊण धणं पत्तो दुक्खं परदेसगमणं च ॥१२८॥

सर्व विषयोंमें निपुण बुद्धि चारुदत्तने भी वेश्याके संगसे धनको खोकर दुःख पाया और परदेशमें जाना पड़ा ॥१२८॥

होऊण चक्कवट्टी चउदहरयणाहिओ[3] वि संपत्तो ।
मरिऊण बंभदत्तो णिरयं पारद्धिरमणेण ॥१२९॥

चक्रवर्ती होकर और चौदह रत्नोंके स्वामित्वको प्राप्त होकर भी ब्रह्मदत्त शिकार खेलनेसे मरकर नरकमें गया ॥१२९॥

णासावहारदोसेण दंडणं पाविऊण सिरिभूई ।
मरिऊण अट्टझाणेण हिंडिओ दीहसंसारे ॥१३०॥

न्यासापहार अर्थात् धरोहरको अपहरण करनेके दोषसे दंड पाकर श्रीभूति आर्तध्यानसे मरकर संसारमें दीर्घकाल तक रुलता फिरा ॥१३०॥

होऊण खयरणाहो वियक्खणो अद्धचक्कवट्टी वि ।
मरिऊण गओ[4] णरयं परित्थिहरणेण लंकेसो ॥१३१॥

विचक्षण, अर्धचक्रवर्ती और विद्याधरोंका स्वामी होकर भी लंकाका स्वामी रावण परस्त्रीके हरणसे मरकर नरकमें गया ॥१३१॥

एदे[5] महाणुभावा दोसं एक्केक्क-विसण[6]-सेवाओ ।
पत्ता जो पुण सत्त वि सेवइ वण्णिज्जए किं सो ॥१३२॥

ऐसे ऐसे महानुभाव एक-एक व्यसनके सेवन करनेसे दुःखको प्राप्त हुए । फिर जो सातों ही व्यसनोंको सेवन करता है, उसके दुःखका क्या वर्णन किया जा सकता है ॥१३२॥

साकेते[7] सेवंतो सत्त वि वसणाइं रुद्ददत्तो वि ।
मरिऊण गओ णिरयं भमिओ पुण दीहसंसारे ॥१३३॥

साकेत नगरमें रुद्रदत्त सातों ही व्यसनोंको सेवन करके मरकर नरक गया और फिर दीर्घकाल तक संसारमें भ्रमता फिरा ॥१३३॥

नरकगतिदुख-वर्णन

सत्तण्हं विसणाणं फलेण संसार-सायरे जीवो ।
जं पावइ बहुदुक्खं तं संखेवेण वोच्छामि ॥१३४॥

सातों व्यसनोंके फलसे जीव संसार-सागरमें जो भारी दुःख पाता है, उसे मैं संक्षेपसे कहता हूँ ॥१३४॥

अइणिट्ठुरफरुसाइं पूइ-रुहिराइं अइदुगंधाइं ।
असुहावहाइं णिच्चं णिरएसुप्पत्तिठाणाइं ॥१३५॥
तो तेसु समुप्पण्णो आहारेऊण पोग्गले असुहे[8] ।
अंतोमुहुत्तकाले पज्जत्तीओ समाणेइ ॥१३६॥

---

१ म. लुद्धो । २ ब. एय० । ३ ब. -रयणीहिओ । ४ ब. गयउ । ५ प. एए । ६ म. ब. वसण० । ७ प. साकेए । ८ ब. असुहो

नरकोंमें नारकियोंके उत्पन्न होनेके स्थान अत्यन्त निष्ठुर स्पर्शवाले हैं, पीप और रुधिर आदिक अति दुर्गन्धित और अशुभ पदार्थ उनमें निरन्तर बहते रहते हैं। उनमें उत्पन्न होकर नारकी जीव अशुभ पुद्गलोंको ग्रहण करके अन्तर्मुहूर्त कालमें पर्याप्तियोंको सम्पन्न कर लेता है ॥१३५-१३६॥

उववायाओ णिवडइ पज्जत्तयओ दंडत्ति[1] महिवीढे[2] ।
अइकक्खडमसहंतो सहसा उप्पडदि पुण पडइ ॥१३७॥

वह नारकी पर्याप्तियोंको पूरा कर उपपादस्थानसे दंडेके समान महीपृष्ठपर गिर पड़ता है। पुनः नरकके अति कर्कश धरातलको नहीं सहन करता हुआ वह सहसा ऊपरको उछलता है और फिर नीचे गिर पड़ता है ॥१३७॥

जइ को वि उसिणणरए मेरुपमाणं खिवेइ लोहंडं ।
ण वि पावइ धरणितलं विलिज्ज[3] तं अंतराले वि ॥१३८॥

यदि कोई उष्णवेदनावाले नरकमें मेरु-प्रमाण लोहेके गोलेको फेंके, तो वह भूतलको नहीं प्राप्त होकर अन्तरालमें ही विला जायगा अर्थात् गल जायगा। (नरकोंमें ऐसी उष्ण वेदना है) ॥१३८॥

अह तेवडं[4] तत्तं खिवेइ जइ को वि सीयणरयम्मि ।
सहसा धरणिमपत्तं सडिज्ज[5] तं खंडखंडेहिं ॥१३९॥

यदि कोई उतने ही वड़े लोहेके गोलेको शीतवेदनावाले नरकमें फेंके, तो वह धरणीतलको नहीं प्राप्त होकर ही सहसा खंड-खंड होकर बिखर जायगा। (नरकोंमें ऐसी शीत-वेदना है) ॥१३९॥

तं तारिससीदुण्हं खेत्तसहावेण होइ णिरएसु ।
विसहइ जावज्जीवं वसणस्स फलेणिमो जीओ ॥१४०॥

नरकोंमें इस प्रकारकी सर्दी और गर्मी क्षेत्रके स्वभावसे ही होती है। सो व्यसनके फलसे यह जीव ऐसी तीव्र शीत-उष्ण वेदनाको यावज्जीवन सहा करता है ॥१४०॥

सो तम्हि जायमत्ते सहसा दट्ठूण णारया सव्वे ।
पहरंति सत्ति-मुग्गर[6]-तिसूल-णाराय-खग्गेहिं ॥१४१॥

उस नरकमें जीवके उत्पन्न होनेके साथ ही उसे देखकर सभी नारकी सहसा—एकदम शक्ति, मुद्गर, त्रिशूल, बाण और खड्गसे प्रहार करने लगते हैं ॥१४१॥

तो खंडिय[7]-सव्वंगो करुणपलावं रुवेइ दीणमुहो ।
पभणंति तओ रुट्ठा किं कंदसि रे दुरायारा ॥१४२॥

नारकियोंके प्रहारसे खंडित हो गये हैं सर्व अंग जिसके, ऐसा वह नवीन नारकी दीन-मुख होकर करुण प्रलाप करता हुआ रोता है। तब पुराने नारकी उसपर रुष्ट होकर कहते हैं कि रे दुराचारी, अब क्यों चिल्लाता है ॥१४२॥

जोव्वणमएण मत्तो लोहकसाएण रंजिओ पुव्वं ।
गुरुवयणं लंघित्ता जूयं रमिओ जं आसि[8] ॥१४३॥

यौवनके मदसे मत्त होकर और लोभकषायसे अनुरंजित होकर पूर्व भवमें तूने गुरु-वचनको उल्लंघन कर जूआ खेला है ॥१४३॥

---

१ झ. दड त्ति, ब. उदड त्ति। २ ब. प. महिंवट्टे, म. महीविट्ठे। ३ इ. विलयम् जत्संत०, झ. विलज्जंतं, विलिज्जंतं अंत०। म. विलयं जात्यंत०। मूलराधना गा० १५६३। ४ झ. तेवडं, ब. ते वट्टं। ५ झ. संडेज्ज, म. सडेज्ज। मूलारा. १५६४। ६ ब. मोग्गर-। ७ ब. खंडय०। ८ इ. जं मांसि।

तस्स फलमुदयमागयमलं हि रुयणेण[1] विसह रे[2] दुट्ठ ।
रोवंतो वि ण छुट्टसि कयावि[3] पुव्वकयकम्मस्स ॥१४४॥

अब उस पापका फल उदय आया है, इसलिए रोनेसे बस कर, और रे दुष्ट, अब उसे सहन कर । रोनेसे भी पूर्व-कृत कर्मके फलसे कभी भी नहीं छूटेगा ॥१४४॥

एवं सोऊण तओ माणसदुक्खं वि[4] से समुप्पण्णं ।
तो दुविह-दुक्खदड्ढो रोसाइट्ठो इमं भणइ ॥१४५॥

इस प्रकारके दुर्वचन सुननेसे उसके भारी मानसिक दुःख भी उत्पन्न होता है । तब वह शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकारके दुःखसे दग्ध होकर और रोषमें आकर इस प्रकार कहता है ॥१४५॥

जइ वा[5] पुव्वम्मि भवे जूयं रमियं मए मदवसेण ।
तुम्हं[6] को अवराहो कओ बला जेण मं[7] हणह[8] ॥१४६॥

यदि मैंने पूर्व भवमें मदके वश होकर जूआ खेला है, तो तुम्हारा क्या अपराध किया है, जिसके कारण जबर्दस्ती तुम मुझे मारते हो ॥१४६॥

एवं भणिए चित्तूण मुट्ठु[9] रुट्ठेहिं अग्गिकुंडम्मि ।
पज्जलयम्मि णिहित्तो डज्झइ सो अंगमंगेसु ॥१४७॥

ऐसा कहनेपर अतिरुष्ट हुए वे नारकी उसे पकड़कर प्रज्वलित अग्निकुंडमें डाल देते हैं, जहाँपर वह अंग-अंगमें अर्थात् सर्वाङ्गमें जल जाता है ॥१४७॥

तत्तो णिस्सरमाणं दट्ठूण झसरेहिं[10] अहव कुंतेहिं ।
पिल्लेऊण रडंतं तत्थेव छुहंति अदयाए ॥१४८॥

उस अग्निकुंडसे निकलते हुए उसे देखकर झसरोंसे (शस्त्र-विशेषसे) अथवा भालोंसे छेदकर चिल्लाते हुए उसे निर्दयतापूर्वक उसी कुंडमें डाल देते हैं ॥१४८॥

हा मुयह मं मा पहरह पुणो वि ण करेमि एरिसं पावं ।
दंतेहि अंगुलीओ धरेइ करुणं[11] पुणो रुवइ ॥१४९॥

हाय, मुझे छोड़ दो, मुझपर मत प्रहार करो, में ऐसा पाप फिर नहीं करूँगा, इस प्रकार कहता हुआ वह दाँतोंसे अपनी अंगुलियाँ दबाता है और करुण प्रलाप-पूर्वक पुनः पुनः रोता है ॥१४९॥

ण मुयंति तह वि पावा पेच्छह लीलाए कुणइ जं जीवो[12] ।
तं पावं विलवंतो एयहिं[13] दुक्खेहिं णित्थरइ[14] ॥१५०॥

तो भी वे पापी नारकी उसे नहीं छोड़ते हैं । देखो, जीव जो पाप लीलासे—कुतूहल मात्रसे, करता है, उस पापको विलाप करते हुए वह उपर्युक्त दुःखोंसे भोगता है ॥१५०॥

तत्तो पलाइऊणं कह वि य माएण[15] दड्ढसव्वंगो ।
गिरिकंदरम्मि सहसा पविसइ सरण त्ति मण्णंतो ॥१५१॥

जबर्दस्ती जला दिये गये हैं सर्व अंग जिसके, ऐसा वह नारकी जिस किसी प्रकारसे

---

१ ब. रुवणेण । २ इ. नं, झ. ब. तं० । ३ ब. कयाइं । ४ इ. झ. ब. म. विसेसमुप्पण्णं । ५ इ. ब. या । ६ इ. तुम्हे, झ. तोम्हि, ब. तोहितं । ७ इ. महं, म. हं । ८ इ. हणहं । ९ इ. मुद्ध, म. मुधा । १० इ. तासे हि, म. ता सही । ११ झ. ब. कलुणं । १२ इ. जूवो । १३ ब. एयहं । १४ म. णित्थरो हं हो । प. णिच्छरइं १५ झ. वयमाएण, ब. वपमाएण ।

उस अग्निकुंडसे भागकर पर्वतकी गुफामें 'यहाँ शरण मिलेगा' ऐसा समझता हुआ सहसा प्रवेश करता है ॥१५१॥

तत्थ वि पडंति उवरिं सिलाउ तो ताहिं[1] चुण्णिओ संतो ।
गलमाणरुहिरधारो रडिऊण खणं तओ णीइ[2] ॥१५२॥

किन्तु वहाँपर भी उसके ऊपर पत्थरोंकी शिलाएँ पड़ती हैं, तब उनसे चूर्ण-चूर्ण होता हुआ और जिसके खूनकी धाराएँ बह रही हैं, ऐसा होकर चिल्लाता हुआ क्षणमात्रमें वहाँसे निकल भागता है ॥१५२॥

णेरइयाण सरीरं कीरइ जइ तिलपमाणखंडाइं ।
पारद-रसुव्व लग्गइ अपुण्णकालम्मि ण मरेइ ॥१५३॥

नारकियोंके शरीरके यदि तिल-तिलके वरावर भी खंड कर दिये जावें, तो भी वह पारेके समान तुरन्त आपसमें मिल जाते हैं, क्योंकि, अपूर्ण कालमें अर्थात् असमयमें नारकी नहीं मरता है ॥ १५३ ॥

तत्तो पलायमाणो रुंभइ सो णारएहिं दट्ठूण ।
पाइज्जइ[3] विलवंतो अय-तंवय[4]-कलयलं[5] तत्तं ॥१५४॥

उस गुफामेंसे निकलकर भागता हुआ देखकर वह नारकियोंके द्वारा रोक लिया जाता है और उनके द्वारा उसे जबर्दस्ती तपाया हुआ लोहा ताँवा आदिका रस पिलाया जाता है ॥१५४॥

पच्चारिज्जइ जं ते[6] पीयं मज्जं महुं च पुव्वभवे ।
तं[7] पावफलं पत्तं पिवेहि अयकलयलं घोरं ॥१५५॥

वे नारकी उसे याद दिलाते हैं कि पूर्व भवमें तूने मद्य और मधुको पिया है, उस पाप-का फल प्राप्त हुआ है, अतः अब यह घोर 'अयकलकल' अर्थात् लोहा, ताँवा आदिका मिश्रित रस पी ॥ १५५ ॥

कह वि तओ जइ छुट्टो असिपत्तवणम्मि विसइ भयभीओ ।
णिवडंति तत्थ[8] पत्ताइं खग्गसरिसाइं अणवरयं ॥१५६॥

यदि किसी प्रकार वहाँसे छूटा, तो भयभीत हुआ वह असिपत्र वनमें, अर्थात् जिस वनके वृक्षोंके पत्ते तलवारके समान तीक्ष्ण होते हैं, उसमें 'यहाँ शरण मिलेगा' ऐसा समझ-कर घुसता है । किन्तु वहाँपर भी तलवारके समान तेज धारवाले वृक्षोंके पत्ते निरन्तर उसके ऊपर पड़ते हैं ॥ १५६ ॥

तो तम्हि पत्तपडणेण छिण्णकर-चरण भिण्णपुट्ठि-सिरो ।
पगलंतरुहिरधारो कंदंतो सो तओ णीइ[9] ॥१५७॥

जब उस असिपत्रवनमें पत्तोंके गिरनेसे उसके हाथ, पैर, पीठ, शिर आदि कट-कटकर अलग हो जाते हैं, और शरीरसे खूनकी धारा बहने लगती है, तब वह चिल्लाता हुआ वहाँसे भी भागता है ॥ १५७ ॥

तुरियं पलायमाणं सहसा धरिऊण णारया कूरा ।
छित्तूण तस्स मंसं तुंडम्मि छुहंति[10] तस्सेव ॥१५८॥

---

१ इ. तेहि । २ म. णियइ । ३ ब. णइज्जइ । म. पाविज्जइ । ४ इ. अयवयं, य. असवंय । ५ कलयलं–ताम्र-शीसक-तिल-सर्ज रस-गुग्गुल-सिक्थक लवण-जतु-वज्रलेपाः क्वाथयित्वा मिलिता 'कलकल' इत्युच्यन्ते । मूलारा० गा० १५६९ आशाधरी टीका । ६ ब, म. तो । ७ ब. तव । ८ क. वच्छ० । ९ इ. म. णियइ । १० इ. छहंति ।

वहाँसे जल्दी भागते हुए उसे देखकर क्रूर नारकी सहसा पकड़कर और उसका मांस काटकर उसीके मुँहमें डालते हैं ॥ १५८ ॥

भोत्तुं अणिच्छमाणं णियमंसं तो भणंति रे दुट्ठ ।
अइमिट्ठं भणिऊण भक्खंतो आसि जं पुव्वं ॥१५९॥

जब वह अपने मांसको नहीं खाना चाहता है, तब वे नारकी कहते हैं कि, अरे दुष्ट, तू तो पूर्व भवमें परजीवोंके मांसको बहुत मीठा कहकर खाया करता था ॥ १५९ ॥

तं किं ते विस्सरियं जेण मुहं कुणसि रे पराहुत्तं ।
एवं भणिऊण कुसिं छुहिंति तुंडम्मि पज्जलियं ॥१६०॥

सो क्या वह तू भूल गया है, जो अब अपना मांस खानेसे मुँहको मोड़ता है, ऐसा कहकर जलते हुए कुशको उसके मुखमें डालते हैं ॥ १६० ॥

अइतिव्वदाहसंताविओ तिसावेयणासमभिभूओ ।
किमि-पूइ-रुहिरपुण्णं वइतरणिणइं तओ विसइ ॥१६१॥

तब अति तीव्र दाहसे संतापित होकर और प्यासकी प्रबल वेदनासे परिपीड़ित हो वह (प्यास बुझानेकी इच्छासे) कृमि, पीप और रुधिरसे परिपूर्ण वैतरणी नदीमें घुसता है ॥ १६१ ॥

तत्थ वि पविट्ठमित्तो[१] खारुण्हजलेण दड्ढसव्वंगो ।
णिस्सरइ तओ तुरिओ हाहाकारं पकुव्वंतो ॥१६२॥

उसमें घुसते ही खारे और उष्ण जलसे उसका सारा शरीर जल जाता है, तब वह तुरन्त ही हाहाकार करता हुआ वहाँसे निकलता है ॥ १६२ ॥

दट्ठूण णारया णीलमंडवे[२] तत्तलोहपडिमाओ ।
आलिंगाविंति तहिं धरिऊण बला विलवमाणं ॥१६३॥

नारकी उसे भागता हुआ देखकर और पकड़कर काले लोहेसे बनाये गये नील-मंडपमें ले जाकर विलाप करते हुए उसे जबर्दस्ती तपाई हुई लोहेकी प्रतिमाओंसे (पुतलियोंसे) आलिंगन कराते हैं ॥ १६३ ॥

अगणित्ता गुरुवयणं परित्थि-वेसं च आसि सेवंतो ।
एण्हिं तं पावफलं ण सहसि किं रुवसि तं जेण ॥१६४॥

और कहते हैं कि—गुरुजनोंके वचनोंको कुछ नहीं गिनकर पूर्वभवमें तूने परस्त्री और वेश्याका सेवन किया है । अब इस समय उस पापके फलको क्यों नहीं सहता है, जिससे कि रो रहा है ॥ १६४ ॥

पुव्वभवे जं कम्मं पंचिंदियवसगएण जीवेण ।
हसमाणेण विबद्धं तं किं णित्थरसि[३] रोवंतो ॥१६५॥

पूर्वभवमें पाँचों इन्द्रियोंके वश होकर हँसते हुए रे पापी जीव, तूने जो कर्म बाँधे हैं, सो क्या उन्हें रोते हुए दूर कर सकता है ? ॥ १६५ ॥

किकवाय-गिद्ध-वायसरूवं धरिऊण णारया चेव ।
[४]पहरंति वज्जमयतुंड-तिक्खणहरेहिं[५] दयरहिया ॥१६६॥

---

१ ब. सत्तो, प. म. मित्ता । २ काललोहघटितमंडपे । मूलाराधना गा० १५६९ विजयो. टीका । ३ प. णिरसि, झ. ब. णिच्छरसि । ४ प. पहणंति । ५ इ. तिक्खणहिं । मूलारा० १५७१ ।

वे दया-रहित नारकी जीव ही कृकवाक (कुक्कुट-मुर्गा) गिद्ध, काक, आदिके रूपोंको धारण करके वज्रमय चोंचोंसे, तीक्ष्ण नखों और दाँतोंसे उसे नोचते हैं ॥ १६६ ॥

धरिऊण उड्ढजंघं करकच-चक्केहिं केइ फाडंति ।
मुसलेहिं मुग्गरेहिं य चुण्णी चुण्णी कुणंति[1] परे ॥१६७॥

कितने ही नारकी उसे ऊर्ध्वजंघ कर अर्थात् शिर नीचे और जाँघें ऊपर कर करकच (करोंत या आरा) और चक्र से चीर-फाड़ डालते हैं। तथा कितने ही नारकी उसे मूसल और मुद्‌गरोंसे चूरा-चूरा कर डालते हैं ॥ १६७ ॥

जिब्भाछेयणं णयणाण फोडणं दंतचूरणं दलणं ।
मलणं कुणंति खंडंति केई तिलमत्तखंडेहिं ॥१६८॥

कितने ही नारकी जीभ काटते हैं, आँखें फोड़ते हैं, दाँत तोड़ते हैं और सारे शरीरका दलन-मलन करते हैं। कितने ही नारकी तिल-प्रमाण खंडोंसे उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं ॥ १६८ ॥

अण्णे कलंववालुय[2]थलम्मि तत्तम्मि पाडिऊण पुणो ।
लोट्टाविंति रडंतं णिहणंति घसंति भूमीए ॥१६९॥

कितने ही नारकी तपाये हुए तीक्ष्ण रेतीले मैदानमें डालकर रोते हुए उसे लोट-पोट करते हैं, मारते हैं और भूमिपर घसीटते हैं ॥ १६९ ॥

असुरा वि कूरपावा तत्थ वि गंतूण पुव्ववेराइं ।
सुमराविऊण तओ जुद्धं[3] लायंति अण्णोण्णं ॥१७०॥

क्रूर और पापी असुर जातिके देव भी वहाँ जाकर और पूर्वभवके वैरोंकी याद दिलाकर उन नारकियोंको आपसमें लड़वाते हैं ॥ १७० ॥

सत्तेव अहोलोए पुढवीओ तत्थ सयसहस्साइं ।
णिरयाणं चुलसीई सेढिंद-पइण्णयाण हवे ॥१७१॥

अधोलोकमें सात पृथिवियाँ हैं, उनमें श्रेणीबद्ध, इन्द्रक और प्रकीर्णक नामके चौरासी लाख नरक हैं ॥ १७१ ॥

रयणप्पह-सक्करपह-वालुप्पह-पंक-धूम-तमभासा ।
तमतमपहा य पुढवीणं जाण अणुवत्थणामाइं[4] ॥१७२॥

उन पृथिवियोंके रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और तमस्तमप्रभा (महातमप्रभा) ये अन्वर्थ अर्थात् सार्थक नाम जानना चाहिए ॥ १७२ ॥

पढमाए पुढवीए वाससहस्साइं दह जहण्णाऊ ।
समयम्मि वण्णिया सायरोवमं होइ उक्कस्सं[5] ॥१७३॥
पढमाइ जमुक्कस्सं बिदियाइसु साहियं जहण्णं तं ।
तिय सत्त दस य सत्तरस दुसहिया बीस तेत्तीसं ॥१७४॥
सायरसंखा एसा कमेण बिदियाइ जाण पुढवीसु ।
उक्कस्साउपमाणं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥१७५॥

१ म. चुण्णीकुव्वंति परे णिरया । २ कलंबवालुयं—कदंबप्रसूनाकारा वालुकाचितदुःप्रवेशाः वज्रदलालंकृतखदिरांगार- कणप्रकरोपमानाः । मूलारा० गा० १५६८ विजयोदया टीका । ३ ब. जुज्झं । ४ इ. अनुतृतथ०, म अणुवट्ट० । ५ मुद्रितप्रतौ गाथेयं रिक्ता ।

परमागममें प्रथम पृथिवीके नारकियोंकी जघन्य आयु दश हजार वर्षकी कही गई है और उत्कृष्ट आयु एक सागरोपम होती है ॥ १७३ ॥ प्रथमादिक पृथिवियोंमें जो उत्कृष्ट आयु होती है, कुछ अधिक अर्थात् एक समय अधिक वही द्वितीयादिक पृथिवियोंमें जघन्य आयु जाननी चाहिए। जिनेन्द्र भगवान्‌ने द्वितीयादिक पृथिवियोंमें उत्कृष्ट आयुका प्रमाण क्रमसे तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सत्तरह सागर, बाईस सागर और तेंतीस सागर प्रमाण कहा है ॥ १७४–१७५ ॥

एत्तियपमाणकालं सारीरं माणसं बहुपयारं ।
दुक्खं सहेइ तिव्वं वसणस्स फलेणिमो जीवो ॥१७६॥

व्यसन-सेवनके फलसे यह जीव इतने (उपर्युक्त-प्रमाण) काल तक नरकोंमें अनेक प्रकारके शारीरिक और मानसिक तीव्र दुःखको सहन करता है ॥ १७६ ॥

तिर्यंचगतिदुःख-वर्णन

तिरियगईए वि तहा थावरकाएसु बहुपयारेसु ।
अच्छइ अणंतकालं हिंडंतो जोणिलक्खेसु ॥१७७॥

इसी प्रकार व्यसन-सेवनके फलसे यह जीव तिर्यञ्च गतिकी लाखों योनिवाली बहुत प्रकारकी स्थावरकायकी जातियोंमें अनन्त काल तक भ्रमण करता रहता है ॥ १७७ ॥

कहमवि णिस्सरिऊणं तत्तो वियलिंदिएसु संभवइ ।
तत्थ वि किलिस्समाणो कालमसंखेज्जयं वसइ ॥१७८॥

उस स्थावरकायमेंसे किसी प्रकार निकलकर विकलेन्द्रिय अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवोंमें उत्पन्न होता है, तो वहाँ भी क्लेश उठाता हुआ असंख्यात काल तक परिभ्रमण करता रहता है ॥ १७८ ॥

तो खिल्लविल्लजोएण कह वि पंचिंदिएसु उववण्णो ।
तत्थ वि असंखकालं जोणिसहस्सेसु परिभमइ ॥१७९॥

यदि कदाचित् खिल्लविल्ल योगसे[1] पंचेन्द्रियोंमें उत्पन्न हो गया, तो वहां भी असंख्यात काल तक हजारों योनियोंमें परिभ्रमण करता रहता है ॥ १७९ ॥

छेयण-भेयण-ताडण-तासण-णिल्लंछणं तहा दमणं ।
णिक्खलण-मलण-दलणं पउलण उक्कत्तणं चेव[2] ॥१८०॥
[3]बंधण-भारारोवण लंछण पाणण्णरोहणं सहणं ।
सीउण्ह-भुक्ख-तण्हादिजाण तह पिल्लयविओयं[4] ॥१८१॥

तिर्यञ्च योनिमें छेदन, भेदन, ताड़न, त्रासन, निर्लांछन (बधिया करना), दमन, निक्खलन (नाक छेदन), मलन, दलन, प्रज्वलन, उत्कर्त्तन, बंधन, भारारोपण, लांछन (दागना), अन्न-पान-रोधन, तथा शीत, उष्ण, भूख, प्यास आदि बाधाओंको सहता है, और पिल्लों (बच्चों) के वियोग-जनित दुखको भोगता है। ॥ १८०–१८१ ॥

---

१ भाड़में भुनते हुए धान्यमें से दैववशात् जैसे कोई एक दाना उछलकर बाहिर आ पड़ता है उसी प्रकार दैववशात् एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियोंमें से कोई एक जीव निकलकर पञ्चेन्द्रियोंमें उत्पन्न हो जाता है, तब उसे खिल्लविल्ल योगसे उत्पन्न होना कहते हैं। २ मूलारा०गा० १५८२। ३ मूलारा०गा० १५८३। ४ स्तनन्धयवियोगमित्यर्थः।

*इच्चेवमाइ बहुयं दुक्खं पाउणइ तिरियजोणीए[1] ।
विसणस्स फलेण जदो वसणं परिवज्जए तम्हा ॥१८२॥

इस प्रकार व्यसनके फलसे यह जीव तिर्यञ्च-योनिमें उपर्युक्त अनेक दुःख पाता है, इसलिए व्यसनका त्याग कर देना चाहिए ॥ १८२ ॥

मनुष्यगतिदुःख-वर्णन

मणुयत्ते[2] वि य जीवा दुक्खं पावंति बहुवियप्पेहिं ।
इट्ठाणिट्ठेसु सया वियोय-संयोयजं तिव्वं ॥१८३॥

मनुष्यभवमें भी व्यसनके फलसे ये जीव सदैव बहुत प्रकारसे इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंमें वियोग-संयोगज तीव्र दुःख पाते हैं ॥ १८३ ॥

उप्पण्णपढमसमयम्हि कोई जणणीइ छंडिओ संतो ।
कारणवसेण इत्थं सीउण्ह-भुक्ख-तण्हाउरो मरइ ॥१८४॥

उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें ही कारणवशसे माताके द्वारा छोड़े गये कितने ही जीव इस प्रकार शीत, उष्ण, भूख और प्याससे पीड़ित होकर मर जाते हैं ॥ १८४ ॥

बालत्तणे वि जीवो माया-पियरेहि कोवि परिहीणो ।
उच्छिट्ठं भक्खंतो जीवइ दुक्खेण परगेहे ॥१८५॥

बालकपनमें ही माता-पितासे रहित कोई जीव पराये घरमें जूठन खाता हुआ दुःखके साथ जीता है ॥ १८५ ॥

पुव्वं दाणं दाऊण को वि सधणो जणस्स जहजोगं ।
पच्छा सो धणरहिओ ण लहइ कूरं पि जायंतो ॥१८६॥

यदि कोई मनुष्य पूर्वभवमें मनुष्योंको यथायोग्य दान देकर इस भवमें धनवान् भी हुआ और पीछे (पापके उदयसे) धन-रहित हो गया, तो माँगनेपर खानेको कूर (भात) तक नहीं पाता है ॥ १८६ ॥

अण्णो उ पावरोएण[3] बाहिओ णयर-बज्झदेसम्मि ।
अच्छइ सहायरहिओ ण लहइ सघरे वि चिट्ठेउं ॥१८७॥
तिसिओ वि भुक्खिओ[4] हं पुत्ता मे देहि[5] पाणमसणं च ।
एवं कूवंतस्स[6] वि ण कोइ वयणं च से देइ ॥१८८॥
तो रोय-सोयभरिओ सव्वेसिं सव्वहियाउ[7] दाऊण ।
दुक्खेण मरइ पच्छा धिगत्थु मणुयत्तणमसारं ॥१८९॥

---

* इतःपूर्वं झ. ब. प्रत्योः इमे गाथेऽधिके उपलभ्येते—

तिरिएहिं खज्जमाणो दुट्ठमणुस्सेहिं हम्ममाणो वि ।
सव्वत्थ वि संतट्ठो भयदुक्खं विसहदे भीमं ॥१॥
अण्णोण्णं खज्जंता तिरिया पावंति दारुणं दुक्खं ।
माया वि जत्थ भक्खदि अण्णो को तत्थ राखेदि ॥२॥

तिर्यंचोंके द्वारा खाया गया, दुष्ट शिकारी लोगोंके द्वारा मारा गया और सब ओरसे संत्रस्त होता हुआ भय-जनित भयंकर दुःखको सहता है ॥ १ ॥ तिर्यंच परस्परमें एक दूसरेको खाते हुए दारुण दुःख पाते हैं। जिस योनिमें माता भी अपने पुत्रको खा लेती है, वहाँ दूसरा कौन रक्षा कर सकता है ॥२॥

स्वामिकार्ति० अनु,० गा० ४१-४२

१ ध. प. जाईए । २ झ. ब. मणुयत्तेण । (मणुयत्तणे ?) ३ कुष्टरोगेणेत्यर्थः । ४ ध. 'पभुक्खिओ' ५ ब. देह । ६ (कूजंतस्स ?) ७ ब. सवहियाउ । सर्वाहितान् इत्यर्थः ।

अण्णाणि एवमाईणि जाणि दुक्खाणि मणुयलोयम्मि ।
दीसंति ताणि पावइ वसणस्स फलेणिमो जीवो ॥१९०॥

कोई एक मनुष्य पापरोग अर्थात् कोढ़से पीड़ित होकर नगरसे बाहर किसी एकान्त प्रदेशमें सहाय-रहित होकर अकेला रहता है, वह अपने घरमें भी नहीं रहने पाता ॥ १८७ ॥ मैं प्यासा हूँ और भूखा भी हूँ; बच्चो, मुझे अन्न जल दो—खाने-पीनेको दो—इस प्रकार चिल्लाते हुए भी उसको कोई वचनसे भी आश्वासन तक नहीं देता है ॥ १८८ ॥ तब रोग-शोकसे भरा हुआ वह सब लोगोंको नाना प्रकारके कष्ट देकरके पीछे स्वयं दुःखसे मरता है । ऐसे असार मनुष्य जीवनको धिक्कार है ॥ १८९ ॥ इन उपर्युक्त दुःखों को आदि लेकर जितने भी दुःख मनुष्यलोकमें दिखाई देते हैं, उन सबको व्यसनके फलसे यह जीव पाता है ॥ १९० ॥

देवगतिदुःख-वर्णन

किंचुवसमेण पावस्स कह वि देवत्तणं वि संपत्तो ।
तत्थ वि पावइ दुक्खं विसणज्जियकम्मपागेण ॥१९१॥

यदि किसी प्रकार पापके कुछ उपशम होनेसे देवपना भी प्राप्त हुआ तो, वहाँपर भी व्यसन-सेवनसे उपार्जित कर्मके परिपाकसे दुःख पाता है ॥ १९१ ॥

दट्ठूण महड्ढीणं देवाणं ठिइउज्जरिद्धिमाहप्पं ।
अप्पड्ढिओ विसूरइ माणसदुक्खेण डज्झंतो ॥१९२॥
हा मणुयभवे उप्पज्जिऊण तव-संजमं वि लद्धूण ।
मायाए जं वि कयं[1] देवदुग्गयं तेण संपत्तो ॥१९३॥

देव-पर्यायमें महर्द्धिक देवोंकी अधिक स्थिति-जनित ऋद्धिके माहात्म्यको देखकर अल्प ऋद्धिवाला वह देव मानसिक दुःखसे जलता हुआ, विसूरता (झूरता) रहता है ॥ १९२ ॥ और सोचा करता है कि हाय, मनुष्य-भवमें भी उत्पन्न होकर और तप-संयमको भी पाकर उसमें मैंने जो मायाचार किया, उसके फलसे मैं इस देव-दुर्गतिको प्राप्त हुआ हूँ, अर्थात् नीच जातिका देव हुआ हूँ ॥ १९३ ॥

कंदप्प-किब्भिसासुर-वाहण-सम्मोह[2]-देवजाईसु ।
जावज्जीवं णिवसइ विसहंतो माणसं दुक्खं ॥१९४॥

कन्दर्प, किल्विषिक, असुर, वाहन, सम्मोहन आदि देवोंकी कुजातियोंमें इस प्रकार मानसिक दुःख सहता हुआ वह यावज्जीवन निवास करता है ॥ १९४ ॥

छम्मासाउयसेसे वत्थाहरणाइं हुंति मलिणाइं ।
णाऊण चवणकालं अहिययरं रुयइ सोगेण ॥१९५॥
हा हा कह णिल्लोए[3] किमिकुलभरियम्मि अइदुगंधम्मि ।
णवमासं पूइ-रुहिराउलम्मि गब्भम्मि वसियव्वं ॥१९६॥
किं करमि[4] कत्थ वच्चमि कस्स साहामि जामि कं सरणं ।
ण वि अत्थि एत्थ बंधू जो मे धारेइ णिवडंतं ॥१९७॥
वज्जाउहो[5] महप्पा एरावण-वाहणो सुरिंदो वि ।
जावज्जीवं सो सेविओ वि ण धरेइ मं तहवि ॥१९८॥

---

१ इ. कं कप्पं, झ. वि जं कयं । २ इ. समोह । ३ नृलोके । ४ इ. करम्मि । ५ वज्रायुधः ।

देवगतिमें छह मास आयुके शेष रह जानेपर वस्त्र और आभूषण मैले अर्थात् कान्ति-रहित हो जाते हैं, तब वह अपना च्यवन-काल जानकर शोकसे और भी अधिक रोता है ॥ १९५॥ और कहता है कि हाय हाय, किस प्रकार अब मैं मनुष्य-लोकमें कृमि-कुल-भरित, अति दुर्गन्धित, पीप और खूनसे व्याप्त गर्भमें नौ मास रहूँगा ? ॥ १९६ ॥ मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किससे कहूँ, किसको प्रसन्न करूँ, किसके शरण जाऊँ ? यहाँ पर मेरा कोई भी ऐसा बन्धु नहीं है, जो यहाँसे गिरते हुए मुझे बचा सके ॥ १९७ ॥ वज्रायुध, महात्मा, ऐरावत हाथीकी सवारी-वाला और यावज्जीवन जिसकी सेवा की है, ऐसा देवोंका स्वामी इन्द्र भी मुझे यहाँ नहीं रख सकता है ॥ १९८ ॥

जइ मे होहिहि मरणं ता होज्जउ किंतु मे समुप्पत्ती ।
एगिंदिएसु जाइज्जा णो मणुस्सेसु कइया वि ॥१९९॥
अहवा किं कुणइ पुराज्जियम्मि उदयागयम्मि कम्मम्मि ।
सक्को वि जदो ण तरइ अप्पाणं रक्खिउं काले ॥२००॥

यदि मेरा मरण हो, तो भले ही हो, किन्तु मेरी उत्पत्ति एकेन्द्रियोंमें होवे, पर मनुष्यों में तो कदाचित् भी नहीं होवे॥१९९॥ अथवा अब क्या किया जा सकता है, जब कि पूर्वोपार्जित कर्मके उदय आनेपर इन्द्र भी मरण-कालमें अपनी रक्षा करनेके लिए शक्त नहीं है ॥२००॥

एवं बहुप्पयारं सरणविरहिओ खरं विलवमाणो ।
एइंदिएसु जायइ मरिऊण तओ णियाणेण ॥२०१॥
तत्थ वि अणंतकालं किलिस्समाणो सहेइ बहुदुक्खं ।
मिच्छत्तसंसियमई जीवो किं किं दुक्खं[1] ण पाविज्जइ[2] ॥२०२॥
पिच्छह[3] दिव्वे भोए जीवो भोत्तूण देवलोयम्मि ।
एइंदिएसु जायइ धिगत्थु[4] संसारवासस्स ॥२०३॥

इस प्रकार शरण-रहित होकर वह देव अनेक प्रकारके करुण विलाप करता हुआ निदानके फलसे वहाँसे मरकर एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होता है ॥ २०१ ॥ वहाँ पर भी अनन्त काल तक क्लेश पाता हुआ बहुत दुःखको सहन करता है । सच बात तो यह है कि मिथ्यात्वसे संसिक्त बुद्धिवाला जीव किस-किस दुःखको नहीं पाता है ॥ २०२ ॥ देखो, देवलोकमें दिव्य भोगोंको भोगकर यह जीव एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होता है ऐसे संसार-वासको धिक्कार है॥२०३॥

एवं बहुप्पयारं दुक्खं संसार-सायरे घोरे ।
जीवो सरण-विहीणो विसणस्स फलेण पाउणइ ॥२०४॥

इस तरह अनेक प्रकारके दुःखोंको घोर संसार-सागरमें यह जीव शरण-रहित होकर अकेला ही व्यसनके फलसे प्राप्त होता है ॥ २०४ ॥

दर्शनप्रतिमा

***पंचुंबरसहियाइं[1] परिहरेइ इय[5] जो सत्त विसणाइं[1] ।**
सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावयो भणिओ ॥२०५॥

---

१ ब. प्रतौ 'दुक्खं' इति पाठो नास्ति । २ झ. पाविज्जा । प. पाविज्ज । ३ प. पेच्छह । ४ ब. धिगत्थ ५ प. ध. प्रत्योः इय पदं गाथारम्भेऽस्ति ।

* उदुंबराणि पंचैव सप्त च व्यसनान्यपि ।
वर्जयेद्यः सः सागारो भवेद्दार्शनिकाह्वयः ॥११२॥—गुण० श्रा०

जो सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध-बुद्धि जीव इन पंच उदुम्बर सहित सातों व्यसनोंका परित्याग करता है, वह प्रथम प्रतिमाधारी दर्शन-श्रावक कहा गया है ॥ २०५ ॥

एवं दंसणसावयठाणं पढमं समासओ भणियं ।
वयसावयगुणठाणं एत्तो विदियं पवक्खामि ॥२०६॥

इस प्रकार दार्शनिक श्रावकका पहला स्थान संक्षेपसे कहा । अब इससे आगे व्रतिक श्रावकका दूसरा स्थान कहता हूँ ॥ २०६ ॥

द्वितीय व्रतप्रतिमा-वर्णन

†पंचेव अणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति पुण[1] तिण्णि ।
सिक्खावयाणि चत्तारि जाण बिदियम्मि ठाणम्मि ॥२०७॥

द्वितीय स्थानमें, अर्थात् दूसरी प्रतिमामें पाँचों ही अणुव्रत, तीन गुणव्रत, तथा चार शिक्षाव्रत होते हैं ऐसा जानना चाहिए ॥ २०७ ॥

पाणाइवायविरई सच्चमदत्तस्स वज्जणं चेव ।
थूलयड बंभचेरं[2] इच्छाए गंथपरिमाणं ॥२०८॥

स्थूल प्राणातिपातविरति, स्थूल सत्य, स्थूल अदत्त वस्तुका वर्जन, स्थूल ब्रह्मचर्य और इच्छानुसार स्थूल परिग्रहका परिमाण ये पाँच अणुव्रत होते हैं ॥ २०८ ॥

जे तसकाया जीवा पुव्वुद्दिट्ठा ण हिंसियव्वा[3] ते ।
एइंदिया वि णिक्कारणेण पढमं वयं थूलं ॥२०९॥

जो त्रसजीव पहले बतलाये गये हैं, उन्हें नहीं मारना चाहिए और निष्कारण अर्थात् बिना प्रयोजन एकेन्द्रिय जीवोंको भी नहीं मारना चाहिए, यह पहला स्थूल अहिंसाव्रत है ॥२०९॥

‡अलियं ण जंपणीयं पाणिवहकरं तु सच्चवयणं पि ।
रायेण य दोसेण य णेयं विदियं[4] वयं थूलं ॥२१०॥

रागसे अथवा द्वेपसे झूठ वचन नहीं बोलना चाहिए और प्राणियोंका घात करनेवाला सत्य वचन भी नहीं बोलना चाहिए, यह दूसरा स्थूल सत्यव्रत जानना चाहिए ॥ २१० ॥

§पुर-गाम-पट्टणाइसु पडियं णट्ठं च णिहियं वीसरियं ।
परदव्वमगिण्हंतस्स होइ थूलवयं तदियं[5] ॥२११॥

पुर, ग्राम, पत्तन, क्षेत्र आदिमें पड़ा हुआ, खोया हुआ, रखा हुआ, भूला हुआ, अथवा रख करके भूला हुआ पराया द्रव्य नहीं लेनेवाले जीवके तीसरा स्थूल अचौर्यव्रत होता है ॥२११॥

*पव्वेसु इत्थिसेवा अणंगकीडा सया विवज्जंतो ।
थूलयडबंभयारी जिणेहिं भणिओ पवयणम्मि ॥२१२॥

---

१ ब. तद । (तह ?) २ ब. बंभचेरो । ३ इ. हिंसयव्वा । ४ इ. झ. विइयं, ब. बीवं । ५ ब. तइयं ।

† पंचधाणुव्रतं यस्य त्रिविधं च गुणव्रतम् ।
शिक्षाव्रतं चतुर्धा स्यात्सः भवेद् व्रतिको यतिः ॥१३०॥

‡ क्रोधादिनापि नो वाच्यं वचोऽसत्यं मनीषिणा ।
सत्यं तदपि नो वाच्यं यत्स्यात् प्राणिविघातकम् ॥१३४॥

§ ग्रामे चतुःपथादौ वा विस्मृतं पतितं धृतम् ।
परद्रव्यं हिरण्यादि वर्ज्यं स्तेयविवर्जिना ॥१३५॥

* स्त्रीसेवानंगरमणं यः पर्वणि परित्यजेत् ।
सः स्थूलब्रह्मचारी च प्रोक्तं प्रवचने जिनैः ॥१३६॥—गुण० श्राव०

अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वके दिनोंमें स्त्री-सेवन और सदैव अनंगक्रीड़ाका त्याग करने वाले जीवको प्रवचनमें जिनेन्द्र भगवान्‌ने स्थूल ब्रह्मचारी कहा है ॥ २१२ ॥

जं परिमाणं कीरइ धण-धण्ण-हिरण्ण-कंचणाईणं ।
तं जाण[1] पंचमवयं णिद्दिट्ठमुवासयज्झयणे ॥२१३॥(१)

धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण आदिका जो परिमाण किया जाता है, वह पंचम अणुव्रत जानना चाहिए, ऐसा उपासकाध्ययनमें कहा गया है ॥ २१३ ॥

गुणव्रत-वर्णन

पुव्वुत्तर-दक्खिण-पच्छिमासु काऊण जोयणपमाणं ।
परदो[2] गमणणियत्ती दिसि विदिसि गुणव्वयं पढमं ॥२१४॥(२)

पूर्व, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम दिशाओंमें योजनोंका प्रमाण करके उससे आगे दिशाओं और विदिशाओंमें गमन नहीं करना, यह प्रथम दिग्व्रत नामका गुणव्रत है ॥ २१४ ॥

वय-भंगकारणं होइ जम्मि देसम्मि तत्थ णियमेण ।
कीरइ गमणणियत्ती तं जाण गुणव्वयं बिदियं[3] ॥२१५॥(३)

जिस देशमें रहते हुए व्रत-भंगका कारण उपस्थित हो, उस देशमें नियमसे जो गमन-निवृत्ति की जाती है, उसे दूसरा देशव्रत नामका गुणव्रत जानना चाहिए ॥ २१५ ॥

अय-दंड-पास-विक्कय कूड-तुलामाण कूरसत्ताणं ।
जं संगहो[4] ण कीरइ तं जाण गुणव्वयं तदियं[5] ॥२१६॥(४)

लोहेके शस्त्र तलवार, कुदाली वगैरहके, तथा दंडे और पाश (जाल) आदिके बेंचनेका त्याग करना, झूठी तराजू और कूट मान अर्थात् नापने-तौलने आदिके बाँटोंको कम नहीं रखना, तथा बिल्ली, कुत्ता आदि क्रूर प्राणियोंका संग्रह नहीं करना, सो यह तीसरा अनर्थदण्ड-त्याग नामका गुणव्रत जानना चाहिए ॥ २१६ ॥

शिक्षाव्रत-वर्णन

जं परिमाणं कीरइ मंडण-तंबोल-गंध-पुप्फाणं ।
तं भोयविरइ भणियं पढमं सिक्खावयं सुत्ते ॥२१७॥(५)

मंडन अर्थात् शारीरिक शृङ्गार, ताम्बूल, गंध और पुष्पादिकका जो परिमाण किया जाता है, उसे उपासकाध्ययन सूत्रमें भोगविरति नामका प्रथम शिक्षाव्रत कहा गया है ॥२१७॥

---

१ ब. जाणि । २ ब. परओ । ३ इ. झ. ब. विइयं । ४ ब. संगहे । ५ इ. झ. प तइयं, ब. तिइयं ।

(१) धनधान्यहिरण्यादिप्रमाणं यद्विधीयते ।
ततोऽधिके च दातास्मिन् निवृत्तिः सोऽपरिग्रहः ॥१३७॥

(२) दिग्देशानर्थदण्डविरतिः स्याद् गुणव्रतम् ।
सा दिशाविरतिर्या स्याद्दिशानुगमनप्रमा ॥१४०॥

(३) यत्र व्रतस्य भंगः स्याद्देशे तत्र प्रयत्नतः ।
गमनस्य निवृत्तिर्या सा देशविरतिर्मता ॥१४१॥

(४) कूटमानतुला-पास-विष-शस्त्रादिकस्य च ।
क्रूरप्राणिभृतां त्यागस्तत्तृतीयं गुणव्रतम् ॥१४२॥

(५) भोगस्य चोपभोगस्य संख्यानं पात्रसत्क्रिया ।
सल्लेखनेति शिक्षाख्यं व्रतमुक्तं चतुर्विधम् ॥१४३॥
यः सकृद् भुज्यते भोगस्ताम्बूलकुसुमादिकम् ।
तस्य या क्रियते संख्या भोगसंख्यानमुच्यते ॥१४४॥—गुण० श्राव०

सगसत्तीए महिला-वत्थाहरणाण जं तु परिमाणं ।
तं परिभोयणिवुत्ती[1] विदियं[2] सिक्खावयं जाण ॥२१८॥(१)

अपनी शक्तिके अनुसार स्त्री-सेवन और वस्त्र-आभूषणोंका जो परिमाण किया जाता है, उसे परिभोग-निवृत्ति नामका द्वितीय शिक्षाव्रत जानना चाहिए ॥ २१८ ॥

अतिहिस्स संविभागो तइयं सिक्खावयं मुणेयव्वं ।
तत्थ वि पंचहियारा णेया सुत्ताणुमग्गेण ॥२१९॥(२)

अतिथिके संविभागको तीसरा शिक्षाव्रत जानना चाहिए। इस अतिथिसंविभाग के पाँच अधिकार उपासकाध्ययन सूत्रके अनुसार (निम्न प्रकार) जानना चाहिए ॥ २१९ ॥

पत्तंतर दायारो दाणविहाणं तहेव दायव्वं ।
दाणस्स फलं णेया पंचहियारा कमेणेदे ॥२२०॥(३)

पात्रोंका भेद, दातार, दान-विधान, दातव्य अर्थात् देने योग्य पदार्थ और दानका फल, ये पाँच अधिकार क्रमसे जानना चाहिए ॥ २२० ॥

पात्रभेद-वर्णन

तिविहं मुणेह पत्तं उत्तम-मज्झिम-जहण्णभेएण ।
वय-णियम-संजमधरो उत्तमपत्तं हवे साहू ॥२२१॥(४)

उत्तम, मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन प्रकारके पात्र जानना चाहिए। उनमें व्रत, नियम और संयमका धारण करनेवाला साधु उत्तम पात्र है ॥ २२१ ॥

एयारस ठाणठिया मज्झिमपत्तं खु सावया भणिया ।
अविरयसम्माइट्ठी जहण्णपत्तं मुणेयव्वं ॥२२२॥(५)

ग्यारह प्रतिमा-स्थानोंमें स्थित श्रावक मध्यम पात्र कहे गये हैं, और अविरत सम्यग्दृष्टि जीवको जघन्य पात्र जानना चाहिए ॥ २२२ ॥

वय-तव-सीलसमग्गो सम्मत्तविवज्जिओ कुपत्तं तु ।
सम्मत्त-सील-वयवज्जिओ अपत्तं हवे जीओ ॥२२३॥(६)

जो व्रत, तप और शीलसे सम्पन्न है, किन्तु सम्यग्दर्शनसे रहित है, वह कुपात्र है। सम्यक्त्व, शील और व्रतसे रहित जीव अपात्र है ॥ २२३ ॥

---

१ ब णियत्ती । २ झ. विइयं, ब. बीयं ।

(१) उपभोगो मुहुर्भोग्यो वस्त्रस्याभरणादिकः ।
यो यथाशक्तितः संख्या सोपभोगप्रमोच्यते ॥१४५॥

(२) स्वस्य पुण्यार्थमन्यस्य रत्नत्रयसमृद्धये ।
यद्दीयतेऽत्र तद्दानं तत्र पञ्चाधिकारकम् ॥१४६

(३) पात्रं दाता दानविधिर्देयं दानफलं तथा ।
अधिकारा भवन्त्येते दाने पञ्च यथाक्रमम् ॥१४७॥

(४) पात्रं त्रिधोत्तमं चैतन्मध्यमं च जघन्यकम् ।
सर्वसंयमसंयुक्तः साधुः स्यात्पात्रमुत्तमम् ॥१४८॥

(५) एकादशप्रकारोऽसौ गृही पात्रमनुत्तमम् ।
विरत्या रहितं सम्यग्दृष्टिपात्रं जघन्यकम् ॥१४९॥

(६) तपःशीलव्रतैर्युक्तः कुदृष्टिः स्यात्कुपात्रकम् ।
अपात्रं व्रतसम्यक्त्वतपःशीलविवर्जितम् ॥१५०॥—गुण० श्राव०

दातार-वर्णन

सद्धा भत्ती तुट्ठी विण्णाणमलुद्धया[1] खमा सत्ती[2] ।
जत्थेदे सत्त गुणा तं दायारं पसंसंति ॥२२४॥(१)

जिस दातारमें श्रद्धा, भक्ति, संतोष, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और शक्ति, ये सात गुण होते हैं, ज्ञानी जन उस दातारकी प्रशंसा करते हैं ॥ २२४ ॥

दानविधि-वर्णन

पडिगह[3]मुच्चट्ठाणं पादोदयमच्चणं च पणमं च ।
मण-वयण-कायसुद्धी एसणसुद्धी य दाणविही ॥२२५॥(२)

प्रतिग्रह अर्थात् पड़िगाहना—सामने जाकर लेना, उच्चस्थान देना अर्थात् ऊँचे आसन पर बिठाना, पादोदक अर्थात् पैर धोना, अर्चा करना, प्रणाम करना, मनःशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और एषणा अर्थात् भोजनकी शुद्धि, ये नौ प्रकारकी दानकी विधि हैं ॥ २२५ ॥

पत्तं णियघरदारे दट्ठूणण्णत्थ वा विमग्गित्ता ।
पडिगहणं कायव्वं णमोत्थु ठाहु त्ति भणिऊण ॥२२६॥
णेऊण णिययगेहं णिरवज्जाणु तह उच्चठाणम्मि ।
ठविऊण तओ चलणाण धोवणं होइ कायव्वं ॥२२७॥
पाओदयं पवित्तं सिरम्मि काऊण अच्चणं कुज्जा ।
गंधक्खय-कुसुम-णेवज्ज-दीव-धूवेहिं य फलेहिं ॥२२८॥
पुप्फंजलिं खिवित्ता पयपुरओ वंदणं तओ कुज्जा ।
चइऊण अट्ट-रुद्दे मणसुद्धी होइ कायव्वा ॥२२९॥
णिट्ठुर-कक्कस वयणाइवज्जणं तं वियाण वचिसुद्धिं ।
सव्वत्थ संपुडंगस्स होइ तह कायसुद्धी वि ॥२३०॥

पात्रको अपने घरके द्वारपर देखकर, अथवा अन्यत्रसे विमार्गण कर—खोजकर, 'नमस्कार हो, ठहरिए,' ऐसा कहकर प्रतिग्रहण करना चाहिए ॥ २२६ ॥ पुनः अपने घरमें ले जाकर निरवद्य अर्थात् निर्दोष तथा ऊँचे स्थानपर बिठाकर, तदनन्तर उनके चरणोंको धोना चाहिए ॥ २२७ ॥ पवित्र पादोदकको शिरमें लगाकर पुनः गंध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलोंसे पूजन करना चाहिए ॥ २२८ ॥ तदनन्तर चरणोंके सामने पुष्पांजलि क्षेपण कर वंदना करे । तथा, आर्त और रौद्र ध्यान छोड़कर मनःशुद्धि करना चाहिए ॥ २२९ ॥ निष्ठुर और कर्कश आदि वचनोंके त्याग करनेको वचनशुद्धि जानना चाहिए । सब ओर संपुटित अर्थात् विनीत अंग रखनेवाले दातारके कायशुद्धि होती है ॥ २३० ॥

*चउदसमलपरिसुद्धं जं दाणं सोहिऊण जइणाए ।
संजयिजणस्स दिज्जइ सा णेया एसणासुद्धी ॥२३१॥

चौदह मल-दोषोंसे रहित, यतनासे शोधकर संयमी जनको जो आहारदान दिया जाता है, वह एषणा-शुद्धि जानना चाहिए ॥ २३१ ॥

१ ब. मलुद्धदया । २ प. ध. सत्तं । ३ ध. उच्च ।

(१) श्रद्धा भक्तिश्च विज्ञानं तुष्टिः शक्तिरलुब्धता ।
क्षमा च यत्र सप्तैते गुणा दाता प्रशस्यते ॥१५१॥

(२) स्थापनोच्चासनपाद्यपूजाप्रणमनैस्तथा ।
मनोवाक्कायशुद्ध्या वा शुद्धो दानविधिः स्मृतः ॥१५२॥—गुण० श्राव०

*झ. ध. ब. प्रतिषु गाथेयमधिकोपलभ्यते—
णह-जंतु-रोम-अट्ठी-कण-कुंडय-मंस-रुहिर-चम्माइं ।
कंद-फल-मूल-बीया छिण्णा मला चउद्दसा होंति ॥१॥—मूलाचार ४८४

विशेषार्थ—नख, जंतु, केश, हड्डी, मल, मूत्र, मांस, रुधिर, चर्म, कंद, फल, मूल, बीज और अशुद्ध आहार ये भोजन-सम्बन्धी चौदह दोष होते हैं।

दाणसमयम्मि एवं[1] सुत्तणुसारेण णव विहाणाणि।
भणियाणि मए एण्हिं दायव्वं वण्णइस्सामि ॥२३२॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन सूत्रके अनुसार मैंने दानके समयमें आवश्यक नौ विधानोंको कहा। अब दातव्य वस्तुका वर्णन करूंगा ॥ २३२ ॥

दातव्य-वर्णन

आहारोसह-सत्थाभयभेओ जं चउव्विहं दाणं।
तं वुच्चइ[2] दायव्वं णिद्दिट्ठमुवासयज्झयणे ॥२३३॥

आहार, औषध, शास्त्र और अभयके भेदसे जो चार प्रकारका दान है, वह दातव्य कहलाता है, ऐसा उपासकाध्ययनमें कहा गया है ॥ २३३ ॥

असणं पाणं खाइमं साइयमिदि चउविहो वराहारो।
पुव्वुत्त-णव-विहाणेहिं तिविहपत्तस्स दायव्वो ॥२३४॥

अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ये चार प्रकारका श्रेष्ठ आहार पूर्वोक्त नवधा भक्तिसे तीन प्रकारके पात्रको देना चाहिए ॥ २३४ ॥

अइवुड्ढ-बाल-मूयंध-बहिर-देसंतरीय-रोडाणं[3]।
जहजोग्गं दायव्वं करुणादाण त्ति भणिऊण ॥२३५॥

अति वृद्ध, बालक, मूक (गूँगा) अंध, वधिर (बहिरा) देशान्तरीय (परदेशी) और रोगी दरिद्री जीवोंको 'करुणादान दे रहा हूँ' ऐसा कहकर अर्थात् समझकर यथायोग्य आहार आदि देना चाहिए ॥ २३५ ॥

उववास-वाहि-परिसम-किलेस-[4]परिपीडयं मुणेऊण।
पत्थं सरीरजोग्गं भेसजदाणं पि दायव्वं ॥२३६॥

उपवास, व्याधि, परिश्रम और क्लेशसे परिपीड़ित जीवको जानकर अर्थात् देखकर शरीरके योग्य पथ्यरूप औषधदान भी देना चाहिए ॥ २३६ ॥

आगम-सत्थाइं लिहाविऊण दिज्जंति जं जहाजोग्गं।
तं जाण सत्थदाणं जिणवयणज्झावणं च तहा ॥२३७॥

जो आगम—शास्त्र लिखाकर यथायोग्य पात्रोंको दिये जाते हैं, उसे शास्त्रदान जानना चाहिए। तथा जिन-वचनोंका अध्यापन कराना-पढ़ाना भी शास्त्रदान है ॥ २३७ ॥

जं कीरइ परिरक्खा णिच्चं मरण-भयभीरुजीवाणं।
तं जाण अभयदाणं सिहामणिं सव्वदाणाणं ॥२३८॥

मरणसे भयभीत जीवोंका जो नित्य परिरक्षण किया जाता है, वह सर्व दानोंका शिखामणिरूप अभयदान जानना चाहिए ॥ २३८ ॥

दानफल-वर्णन

अण्णाणिणो वि जम्हा कज्जं ण कुणंति णिप्फलारंभं।
तम्हा दाणस्स फलं समासदो वण्णइस्सामि ॥२३९॥

चूंकि, अज्ञानीजन भी निष्फल आरम्भवाले कार्यको नहीं करते हैं, इसलिए मैं दानका फल संक्षेपसे वर्णन करूंगा ॥ २३९ ॥

१ झ. ब. एयं। २ इ. वुच्चइ,। ३ दरिद्राणाम्। ४ झ. पडि०।

जह उत्तमम्मि खित्ते[1] पइण्णमण्णं सुबहुफलं होइ ।
तह दाणफलं णेयं दिण्णं तिविहस्स पत्तस्स ॥२४०॥

जिस प्रकार उत्तम खेतमें बोया गया अन्न बहुत अधिक फलको देता है, उसी प्रकार त्रिविध पात्रको दिये गये दानका फल जानना चाहिए ॥ २४० ॥

जह मज्झिमम्मि खित्ते[2] अप्पफलं होइ वावियं बीयं ।
मज्झिमफलं विजाणह कुपत्तदिण्णं तहा दाणं ॥२४१॥

जिस प्रकार मध्यम खेतमें बोया गया बीज अल्प फल देता है, उसी प्रकार कुपात्रमें दिया गया दान मध्यम फलवाला जानना चाहिए ॥ २४१ ॥

जह ऊसरम्मि खित्ते[3] पइण्णबीयं ण किं पि [4]रुहेइ ।
फलवज्जियं वियाणह अपत्तदिण्णं तहा दाणं ॥२४२॥

जिस प्रकार ऊसर खेतमें बोया गया बीज कुछ भी नहीं ऊगता है, उसी प्रकार कुपात्रमें दिया गया दान भी फल-रहित जानना चाहिए ॥ २४२ ॥

कम्हि [5]अपत्तविसेसे दिण्णं दाणं दुहावहं होइ ।
जह विसहरस्स दिण्णं तिव्वविसं जायए खीरं ॥२४३॥

प्रत्युत किसी अपात्रविशेषमें दिया गया दान अत्यन्त दुःखका देनेवाला होता है। जैसे विषधर सर्पको दिया गया दूध तीव्र विषरूप हो जाता है ॥ २४३ ॥

मेहावीणं[6] एसा सामण्णपरूवणा मए उत्ता ।
इण्हिं पभणामि फलं समासओ मंदबुद्धीणं ॥२४४॥

मेधावी अर्थात् बुद्धिमान् पुरुषोंके लिए मैंने यह उपर्युक्त दानके फलका सामान्य प्ररूपण किया है। अब मन्दबुद्धिजनोंके लिए संक्षेपसे (किन्तु पहलेकी अपेक्षा विस्तारसे) दानका फल कहता हूँ ॥ २४४ ॥

मिच्छादिट्ठी भद्दो दाणं जो देइ उत्तमे पत्ते ।
तस्स फलेणुववज्जइ सो उत्तमभोयभूमीसु ॥२४५॥

जो मिथ्यादृष्टि भद्र अर्थात् मन्दकषायी पुरुष उत्तम पात्रमें दान देता है, उसके फलसे वह उत्तम भोगभूमियोंमें उत्पन्न होता है ॥ २४५ ॥

जो मज्झिमम्मि पत्तम्मि देइ दाणं खु वामदिट्ठी वि ।
सो मज्झिमासु जीवो उप्पज्जइ भोयभूमीसु ॥२४६॥

जो मिथ्यादृष्टि भी पुरुष मध्यम पात्रमें दान देता है, वह जीव मध्यम भोगभूमियोंमें उत्पन्न होता है ॥ २४६ ॥

जो पुण जहण्णपत्तम्मि देइ दाणं तहाविहो वि णरो ।
जायइ फलेण जहण्णसु भोयभूमीसु सो जीवो ॥२४७॥

और जो तथाविध अर्थात् उक्त प्रकारका मिथ्यादृष्टि भी मनुष्य जघन्य पात्रमें दान को देता है, वह जीव उस दानके फलसे जघन्य भोगभूमियोंमें उत्पन्न होता है ॥ २४७ ॥

जायइ कुपत्तदाणेण वामदिट्ठी कुभोयभूमीसु ।
अणुमोयणेण तिरिया वि उत्तट्ठाणं जहाजोग्गं ॥२४८॥

मिथ्यादृष्टि जीव कुपात्रको दान देनेसे कुभोगभूमियोंमें उत्पन्न होता है। दानकी अनुमोदना करनेसे तिर्यञ्च भी यथायोग्य उपर्युक्त स्थानोंको प्राप्त करते हैं, अर्थात् मिथ्यादृष्टि तिर्यञ्च उत्तम पात्र दानकी अनुमोदनासे उत्तम भोगभूमिमें, मध्यम पात्रदानकी अनु-

---

१, २, ३, झ. ब. छित्ते। ४ झ. किंचि रु होइ, ब. किंपि विरु होइ। ५ झ. ब. उ पत्त०। ६ प्रतिषु 'मेहाविऊण' इति पाठः।

मोदनासे मध्यम भोगभूमिमें, जघन्य पात्रदानकी अनुमोदनासे जघन्य भोगभूमिमें जाता है। इसी प्रकार कुपात्र और अपात्र दानकी अनुमोदना से भी तदनुकूल फलको प्राप्त होता है ॥ २४८ ॥

बद्धाउगा सुदिट्ठी[1] अणुमोयणेण तिरिया वि ।
णियमेणुववज्जंति य ते उत्तमभोगभूमीसु ॥२४९॥

बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि अर्थात् जिसने मिथ्यात्व अवस्थामें पहिले मनुष्यायुको बाँध लिया है, और पीछे सम्यग्दर्शनको उत्पन्न किया है, ऐसे मनुष्य पात्रदान देनेसे और उक्त प्रकार के ही तिर्यञ्च पात्र-दानकी अनुमोदना करनेसे नियमसे वे उत्तम भोगभूमियोंमें उत्पन्न होते हैं ॥ २४९ ॥

तत्थ वि दहप्पयारा कप्पदुमा दिंति उत्तमे भोए ।
खेत्त[2] सहावेण सया पुव्वज्जियपुण्णसहियाणं ॥२५०॥

उन भोगभूमियोंमें दश प्रकारके कल्पवृक्ष होते हैं, जो पूर्वोपार्जित पुण्य-संयुक्त जीवों को क्षेत्रस्वभावसे सदा ही उत्तम भोगोंको देते हैं ॥ २५० ॥

मज्जंग-तूर-भूसण-जोइस-गिह-भायणंग-दीवंगा ।
वत्थंग-भोयणंगा मालंगा सुरतरू दसहा ॥२५१॥

मद्यांग, तूर्यांग, भूषणांग, ज्योतिरंग, गृहांग, भाजनांग, दीपांग, वस्त्रांग, भोजनांग और मालांग ये दश प्रकारके कल्पवृक्ष होते हैं ॥ २५१ ॥

अइसरसमइसुगंधं दिट्ठं[3] चिय जं[4] जणेइ अहिलासं ।
इंदिय-बलपुट्ठियरं मज्जंगा पाणयं दिंति ॥२५२॥

अति सरस, अति सुगंधित, और जो देखने मात्रसे ही अभिलाषाको पैदा करता है, ऐसा इन्द्रिय-बलका पुष्टिकारक पानक (पेय पदार्थ) मद्यांगवृक्ष देते हैं ॥ २५२ ॥

तय-वितय घणं सुसिरं वज्जं तूरंगपायवा दिंति ।
वरमउड-कुंडलाइय-आभरणं भूसणदुमा वि ॥२५३॥

तूर्यांग जातिके कल्पवृक्ष तत, वितत, घन और सुषिर स्वरवाले बाजोंको देते हैं। भूषणांग जातिके कल्पवृक्ष उत्तम मुकुट, कुंडल आदि आभूषणोंको देते हैं ॥ २५३ ॥

ससि-सूरपयासाओ अहियपयासं कुणंति जोइदुमा ।
णाणाविहपासाए दिंति सया गिहदुमा दिव्वे ॥२५४॥

ज्योतिरंग जातिके कल्पवृक्ष चन्द्र और सूर्यके प्रकाशसे भी अधिक प्रकाशको करते हैं। गृहांगजातिके कल्पवृक्ष सदा नाना प्रकारके दिव्य प्रासादों (भवनों) को देते हैं ॥२५४॥

कच्चोल[5]-कलस-थालाइयाइं भायणदुमा पयच्छंति ।
उज्जोयं दीवदुमा कुणंति गेहस्स मज्झम्मि ॥२५५॥

भाजनांग जातिके कल्पवृक्ष वाटकी, कलश, थाली आदि भाजनोंको देते हैं। दीपांग जातिके कल्पवृक्ष घरके भीतर प्रकाशको किया करते हैं ॥ २५५ ॥

वर-पट्ट-चीण-खोमाइयाइं वत्थाइं दिंति वत्थदुमा ।
वर-चउविहमाहारं भोयणरुक्खा पयच्छंति ॥२५६॥

वस्त्रांग जातिके कल्पवृक्ष उत्तम रेशमी, चीनी और कोशे आदिके वस्त्रोंको देते हैं। भोजनांग जातिके कल्पवृक्ष उत्तम चार प्रकारके आहारको देते हैं ॥ २५६ ॥

---

१ इ. सद्दिट्ठी, ब. सदिट्ठी। २ झ. ब. छित्त०। इ. छेत्त०। ३ म. प. दिट्ठविय। ४ झ. जं इति पाठो नास्ति। ५ ब. कंचोल।

वर बहुल[1] परिमलामोयमोइयासामुहाउ मालाओ ।
मालादुमा पयच्छंति विविहकुसुमेहिं रइयाओ ।।२५७।।

मालांग जातिके कल्पवृक्ष नाना प्रकारके पुष्पोंसे रची हुई और प्रवर, बहुल, परिमल सुगंधसे दिशाओंके मुखोंको सुगंधित करनेवाली मालाओंको देते हैं ।। २५७ ।।

उक्किट्ठभोयभूमीसु जे णरा उदय-सुज्ज-समतेया ।
छधणुसहस्सुत्तुंगा हुंति तिपल्लाउगा सव्वे ।।२५८।।

उत्तम भोगभूमियोंमें जो मनुष्य उत्पन्न होते हैं, वे सब उदय होते हुए सूर्यके समान तेजवाले, छह हजार धनुष ऊँचे और तीन पल्यकी आयुवाले होते हैं ।। २५८ ।।

देहस्सुच्चत्तं मज्झिमासु चत्तारि धणुसहस्साइं ।
पल्लाणि दुण्णि आऊ पुण्णिंदुसमप्पहा पुरिसा ।।२५९।।

मध्यम भोगभूमियोंमें देहकी ऊँचाई चार हजार धनुष है, दो पल्यकी आयु है, और सभी पुरुष पूर्णचन्द्रके समान प्रभावाले होते हैं ।। २५९ ।।

दोधणुसहस्सुत्तुंगा[2] मणुया पल्लाउगा जहण्णासु ।
उत्तत्तकणयवण्णा[3] हवंति पुण्णाणुभावेण ।।२६०।।

जघन्य भोगभूमियोंमें पुण्यके प्रभावसे मनुष्य दो हजार धनुष ऊँचे, एक पल्यकी आयु-वाले और तपाये गये स्वर्णके समान वर्णवाले होते हैं ।। २६० ।।

जे पुण कुभोयभूमीसु सक्कर-समसायमट्टियाहारा[4] ।
फल-पुप्फाहारा केई तत्थ पल्लाउगा सव्वे ।।२६१।।

जो जीव कुभोगभूमियोंमें उत्पन्न होते हैं, उनमेंसे कितने ही वहाँपर स्वभावतः उत्पन्न होनेवाली शक्करके समान स्वादिष्ट मिट्टीका आहार करते हैं, और कितने ही वृक्षोंसे उत्पन्न होनेवाले फल-पुष्पोंका आहार करते हैं और ये सभी जीव एक पल्यकी आयुवाले होते हैं।।२६१।।

जायंति जुयल-जुयला उणवण्णदिणेहिं जोव्वणं तेहिं ।
समचउरससंठाणा वरवज्जसरीरसंघयणा[5] ।।२६२।।
बाहत्तरि[6]-कलसहिया चउसट्ठिगुणण्णिया तणुकसाया ।
बत्तीसलक्खणधरा उज्जमसीला विणीया य ।।२६३।।
णवमासाउगि सेसे गब्भं धरिऊण सूइ[7]-समयम्हि ।
सुहमिच्चुणा मरित्ता णियमा देवत्तु पावंति ।।२६४।।

भोगभूमिमें जीव युगल-युगलिया उत्पन्न होते हैं और वे उनचास दिनोंमें यौवन दशाको प्राप्त हो जाते हैं। वे सब समचतुरस्र संस्थानवाले और श्रेष्ठ वज्रवृषभशरीरसंहननवाले होते हैं ।। २६२ ।। वे भोगभूमियाँ पुरुष जीव बहत्तर कला-सहित और स्त्रियाँ चौसठ गुणों से समन्वित, मन्दकषायी, बत्तीस लक्षणोंके धारक, उद्यमशील और विनीत होते हैं ।। २६३ ।। नौ मास आयुके शेष रह जानेपर गर्भको धारण करके प्रसूति-समयमें सुख मृत्युसे मरकर नियमसे देवपनेको पाते हैं ।। २६४ ।।

जे पुण सम्माइट्ठी विरयाविरया वि तिविहपत्तस्स ।
जायंति दाणफलओ कप्पेसु महड्ढिया देवा ।।२६५।।

---

१ ब. बहल । २ इ. सहसा तुंगा । ३ म. उत्तमकंचणवण्णा । ४. इ—मट्टियायारा । ५ म.—संहणणा । ६ इ. बावत्तर, फ. ब. बावत्तरि । ७. इ सूय० ।

जो अविरत सम्यग्दृष्टि और देशसंयत जीव हैं, वे तीनों प्रकारके पात्रोंको दान देनेके फलसे स्वर्गोंमें महर्द्धिक देव होते हैं ॥ २६५ ॥

अच्छरसयमज्झगया तत्थाणुहविऊण विविहसुरसोक्खं ।
तत्तो चुया समाणा[1] मंडलियाईसु जायंते[2] ॥२६६॥

वहाँपर सैकड़ों अप्सराओंके मध्यमें रहकर नाना प्रकारके देव-सुखोंको भोगकर आयुके अन्तमें वहाँसे च्युत होकर मांडलिक राजा आदिकोंमें उत्पन्न होते हैं ॥ २६६ ॥

तत्थ वि बहुप्पयारं मणुयसुहं भुंजिऊण णिव्विग्घं ।
विगदभया[3] वेरग्गकारणं किंचि दट्ठूण ॥२६७॥
पडिबुद्धिऊण चइऊण णिवसिरिं संजमं च घित्तूण ।
उप्पाइऊण णाणं केई गच्छंति णिव्वाणं ॥२६८॥
अण्णे उ सुदेवत्तं सुमाणुसत्तं पुणो पुणो लहिऊण[4] ।
सत्तट्ठभवेहि तओ करंति कम्मक्खयं णियमा ॥२६९॥

वहाँपर भी नाना प्रकारके मनुष्य-सुखोंको निर्विघ्न भोगकर भय-रहित होते हुए वे कोई भी वैराग्यका कारण देखकर प्रतिबुद्धित हो, राज्यलक्ष्मीको छोड़कर और संयमको ग्रहण कर कितने ही केवलज्ञानको उत्पन्न कर निर्वाणको प्राप्त होते हैं और कितने ही जीव सुदेवत्व और सुमानुषत्वको पुनः-पुनः प्राप्तकर सात-आठ भवके पश्चात् नियमसे कर्मक्षयको करते हैं ॥ २६७–२६९ ॥

एवं पत्तविसेसं दाणविहाणं फलं च णाऊण ।
अतिहिस्स संविभागो कायव्वो देसविरदेहिं[5] ॥२७०॥

इस प्रकार पात्रकी विशेषताको, दानके विधानको और उसके फलको जानकर देश-विरती श्रावकोंको अतिथिका संविभाग अर्थात् दान अवश्य करना चाहिए ॥ २७० ॥

सल्लेखना-वर्णन

धरिऊण वत्थमेत्तं परिग्गहं छंडिऊण अवसेसं ।
सगिहे जिणालए वा तिविहाहारस्स वोसरणं ॥२७१॥
जं कुणइ गुरुसयासम्मि[6] सम्ममालोइऊण तिविहेण ।
सल्लेखणं चउत्थं सुत्ते सिक्खावयं भणियं ॥२७२॥

वस्त्रमात्र परिग्रहको रखकर और अवशिष्ट समस्त परिग्रहको छोड़कर अपने ही घरमें अथवा जिनालयमें रहकर जो श्रावक गुरुके समीपमें मन-वचन-कायसे अपनी भले प्रकार आलोचना करके पानके सिवाय शेष तीन प्रकारके आहारका त्याग करता है, उसे उपासका-ध्ययनसूत्रमें सल्लेखना नामका चौथा शिक्षाव्रत कहा गया है ॥ २७१–२७२ ॥

एवं वारसभेयं वयठाणं वण्णियं मए विदियं[7] ।
सामाइयं तइज्जं[8] ठाणं संखेवओ वोच्छं ॥२७३॥

इस प्रकार बारह भेदवाले दूसरे व्रतस्थानका मैंने वर्णन किया । अब सामायिक नामके तीसरे स्थानको मैं संक्षेपसे कहूँगा ॥ २७३ ॥

---

१ इ. समाणा, झ. समासा । २ प. जायंति । ३ ब. विगदब्भयाइ । ४ ब. लहिओ । ५ प. विरएहिं । ६ इ. पयासिम्मि । ७ इ. विइयं, ब. बीयं । ८ इ. तइयं, म. तिदीयं ।

सामायिकप्रतिमा

*होऊण सुई चेइयगिहम्मि सगिहे व चेइयाहिमुहो ।
अण्णत्थ सुइपएसे पुव्वमुहो उत्तरमुहो वा ।।२७४।।
जिणवयण-धम्म-चेइय-परमेट्ठि-जिणालयाण णिच्चंपि ।
जं वंदणं तियालं कीरइ[1] सामाइयं तं खु ।।२७५।।

स्नान आदिसे शुद्ध होकर चैत्यालयमें अथवा अपने ही घरमें प्रतिमाके सन्मुख होकर, अथवा अन्य पवित्र स्थानमें पूर्वमुख या उत्तरमुख होकर जिनवाणी, जिनधर्म, जिनबिम्ब, पंच परमेष्ठी और कृत्रिम-अकृत्रिम जिनालयोंकी जो नित्य त्रिकाल वंदना की जाती है, वह सामायिक नामका तीसरा प्रतिमास्थान है ।। २७४–२७५ ।।

काउस्सग्गम्हि ठिओ लाहालाहं च सत्तु-मित्तं च ।
संजोय-विप्पजोयं तिण-कंचण चंदणं वासिं[2] ।।२७६।।
जो पस्सइ समभावं मणम्मि धरिऊण पंचणवयारं ।
वर-अट्ठपाडिहेरेहिं संजुयं जिणसरूवं च ।।२७७।।
सिद्धसरूवं झायइ अहवा झाणुत्तमं ससंवेयं ।
खणमेक्कमविचलंगो उत्तमसामाइयं तस्स ।।२७८।।

जो श्रावक कायोत्सर्गमें स्थित होकर लाभ-अलाभको, शत्रु-मित्रको, इष्टवियोग-अनिष्ट संयोगको, तृण-कांचनको, चन्दनको और कुठारको समभावसे देखता है, और मनमें पंच नमस्कारमंत्रको धारण कर उत्तम अष्ट प्रातिहार्योंसे संयुक्त अर्हन्तजिनके स्वरूपको और सिद्ध भगवान्के स्वरूपको ध्यान करता है, अथवा संवेग-सहित अविचल-अंग होकर एक क्षण को भी उत्तम ध्यान करता है, उसके उत्तम सामायिक होती है ।। २७६–२७८ ।।

एवं तइयं ठाणं भणियं सामाइयं समासेण ।
पोसहविहिं चउत्थं ठाणं एत्तो पवक्खामि ।।२७९।।*

इस प्रकार सामायिक नामका तीसरा प्रतिमास्थान संक्षेपसे कहा । अब इससे आगे प्रोषधविधि नामके चौथे प्रतिमास्थानको कहूँगा ।। २७९ ।।

प्रोषधप्रतिमा

उत्तम-मज्झ-जहण्णं[3] तिविहं पोसहविहाणमुद्दिट्ठं ।
सगसत्तीए मासम्मि चउस्सु पव्वेसु[4] कायव्वं ।।२८०।।†

उत्तम, मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन प्रकारका प्रोषध-विधान कहा गया है। यह श्रावकको अपनी शक्तिके अनुसार एक मासके चारों पर्वोंमें करना चाहिए ।। २८० ।।

१ झ. करेइ । २ कुठारं । ३ इ. मज्झम-जहणं । ४ प. पव्वसु ।

* वैयग्र्यं त्रिविधं त्यक्त्वा त्यक्त्वाऽऽरम्भपरिग्रहम् ।
स्नानादिना विशुद्धांगशुद्धया सामायिकं भजेत् ॥१६४॥
गेहे जिनालयेऽन्यत्र प्रदेशे वाऽनघे शुचौ ।
उपविष्टः स्थितो वापि योग्यकालसमाश्रितम् ॥१६५॥
कायोत्सर्गस्थितो भूत्वा ध्यायेत्पंचपदीं हृदि ।
गुरून् पञ्चाथवा सिद्धस्वरूपं चिन्तयेत्सुधीः ॥१६७॥

† मासे चत्वारि पर्वाणि प्रोषधाख्यानि तानि च ।
यत्तत्रोपोषणं प्रोषधोपवासस्तदुच्यते ॥१६९॥—गुण० श्राव०

सत्तमि-तेरसि दिवसम्मि अतिहिजणभोयणावसाणम्मि ।
भोत्तूण भुंजणिज्जं तत्थ वि काऊण मुहसुद्धिं ॥२८१॥
पक्खालिऊण वयणं कर-चरणे णियमिऊण तत्थेव ।
पच्छा जिणिंदभवणं गंतूण जिणं णमंसित्ता ॥२८२॥
गुरुपुरओ किदियम्मं[1] वंदणपुव्वं कमेण काऊण ।
गुरुसक्खियमुववासं गहिऊण चउव्विहं विहिणा ॥२८३॥
वायण-कहाणुपेहण-सिक्खावण-चिंतणोवओगेहिं ।
णेऊण दिवससेसं अवराण्हियवंदणं किच्चा ॥२८४॥
रयणि समयम्हि ठिच्चा काउस्सग्गेण णिययसत्तीए ।
पडिलेहिऊण भूमिं अप्पपमाणेण संथारं ॥२८५॥
दाऊण किंचि रत्तिं सइऊण† जिणालए णियघरे वा ।
अहवा सयलं रत्तिं काउस्सग्गेण णेऊण ॥२८६॥
पच्चूसे उट्ठित्ता वंदणविहिणा जिणं णमंसित्ता ।
तह दव्व-भावपुज्जं जिण-सुय-साहूण काऊण ॥२८७॥
उत्तविहाणेण तहा दियहं रत्तिं पुणो वि गमिऊण ।
पारणदिवसम्मि पुणो पूयं काऊण पुव्वं व ॥२८८॥
गंतूण णिययगेहं अतिहिविभागं च तत्थ काऊण ।
जो भुंजइ तस्स फुडं पोसहविहि उत्तमं होइ ॥२८९॥ *

सप्तमी और त्रयोदशीके दिन अतिथिजनके भोजनके अन्तमें स्वयं भोज्य वस्तुका भोजनकर और वहींपर मुख-शुद्धिको करके, मुखको और हाथ-पैरोंको धोकर वहाँपर ही उपवास सम्बन्धी नियम करके पश्चात् जिनेन्द्र-भवन जाकर और जिनभगवान्‌को नमस्कार करके, गुरुके सामने वन्दनापूर्वक क्रमसे कृतिकर्मको करके, गुरुकी साक्षीसे विधिपूर्वक चारों प्रकारके आहारके त्यागरूप उपवासको ग्रहण कर शास्त्र-वाचन, धर्मकथा-श्रवण-श्रावण, अनुप्रेक्षा-चिन्तन, पठन-पाठन आदिके उपयोग द्वारा दिवस व्यतीत करके तथा आपराह्निक-वंदना करके, रात्रिके समय अपनी शक्तिके अनुसार कायोत्सर्गसे स्थित होकर, भूमिका प्रतिलेखन (संशोधन) करके, और अपने शरीरके प्रमाण विस्तर लगाकर रात्रिमें कुछ समय तक जिनालय अथवा अपने घरमें सोकर, अथवा सारी रात्रि कायोत्सर्गसे बिताकर प्रातःकाल उठकर वंदनाविधिसे जिन भगवान्‌को नमस्कार कर, तथा देव, शास्त्र और गुरुकी द्रव्य वा भावपूजन करके पूर्वोक्त विधानसे उसी प्रकार सारा दिन और सारी रात्रिको फिर

[1] ब. किरियम्मि । † ध. म. ब. प्रतिषु 'णाऊण' इति पाठः ।

* उत्तमो मध्यमश्चैव जघन्यश्चेति स त्रिधा ।
यथाशक्तिविधातव्यः कर्मनिर्मूलनक्षमः ॥१७०॥
सप्तम्यां च त्रयोदश्यां जिनार्चा पात्रसत्क्रियाम् ।
विधाय विधिवच्चैकभक्तं शुद्धवपुस्ततः ॥१७१॥
गुर्वादिसन्निधिं गत्वा चतुराहारवर्जनम् ।
स्वीकृत्य निखिलां रात्रिं नयेच्च सत्कथानकैः ॥१७२॥
प्रातः पुनः शुचिर्भूत्वा निर्माप्यार्हत्पूजनम् ।
सोत्साहस्तदहोरात्रं सद्ध्यानाध्ययनैर्नयेत् ॥१७३॥
तत्पारणाह्नि निर्माप्य जिनार्चा पात्रसत्क्रियाम् ।
स्वयं वा चैकभक्तं यः कुर्यात्तस्योत्तमो हि सः ॥१७४॥

भी बिताकर पारणाके दिन अर्थात् नवमी या पूर्णमासीको पुन: पूर्वके समान पूजन करके तत्पश्चात् अपने घर जाकर और वहाँ अतिथिको आहारदान देकर जो भोजन करता है, उसके निश्चयसे उत्तम प्रोषधविधि होती है ॥ २८१–२८९ ॥

*** जह उक्कस्सं तह मज्झिमं वि पोसहविहाणमुद्दिट्ठं ।**
णवर विसेसो सलिलं छंडित्ता[1] वज्जए सेसं ॥२९०॥
मुणिऊण गुरुवकज्जं सावज्जविवज्जियं णियारंभं ।
जइ कुणइ तं पि कुज्जा सेसं पुव्वं व णायव्वं ॥२९१॥

जिस प्रकारका उत्कृष्ट प्रोषध विधान कहा गया है, उसी प्रकारका मध्यम प्रोषध विधान भी जानना चाहिए। केवल विशेषता यह है कि जलको छोड़कर शेष तीनों प्रकारके आहारका त्याग करना चाहिए ॥ २९० ॥ जरूरी कार्यको समझकर सावद्य-रहित अपने घरू आरम्भको यदि करना चाहे, तो उसे भी कर सकता है। किन्तु शेष विधान पूर्वके समान ही जानना चाहिए ॥ २९१ ॥

आयंबिल[2] णिव्वयडी[3] एयट्ठाणं च एयभत्तं वा ।
जं कीरइ तं णेयं जहण्णयं पोसहविहाणं ॥२९२॥*

जो अष्टमी आदि पर्वके दिन आचाम्ल, निर्विकृति, एकस्थान, अथवा एकभक्तको करता है, उसे जघन्य प्रोषध विधान जानना चाहिए ॥२९२॥ (विशेषार्थ परिशिष्टमें देखो।)

†सिरण्हाणुव्वट्टण-गंध-मल्लकेसाइदेहसंकप्पं ।
अण्णं पि रागहेउं विवज्जए पोसहदिणम्मि ॥२९३॥

प्रोषधके दिन शिरसे स्नान करना, उबटना करना, सुगंधित द्रव्य लगाना, माला पहनना, बालों आदिका सजाना, देहका संस्कार करना, तथा अन्य भी रागके कारणोंको छोड़ देना चाहिए ॥ २९३ ॥

एवं चउत्थठाणं विवण्णियं पोसहं समासेण ।
एत्तो कमेण सेसाणि सुणह संखेवओ वोच्छं ॥२९४॥

इस प्रकार प्रोषध नामका चौथा प्रतिमास्थान संक्षेपसे वर्णन किया। अब इससे आगे शेष प्रतिमा-स्थानोंको संक्षेपसे कहूँगा, सो सुनो ॥ २९४ ॥

सचित्तत्यागप्रतिमा

जं वज्जिज्जइ हरियं तुय[4]-पत्त-पवाल-कंद-फल-बीयं ।
अप्पासुगं च सलिलं सचित्तणिव्वित्ति तं ठाणं ॥२९५॥‡

---

१ ब. छड्डित्ता। २ आयंबिल—अम्लं चतुर्थो रसः, स एव प्रायेण व्यंजने यत्र भोजने ओदन-कुल्माष-सक्तुप्रभृतिके तदाचामाम्लम्। आयंबिलमपि तिविहं उक्किट्ठ-जहण्णा-मज्झिमदएहिं। तिविहं जं विउलपूवाइ पकप्पए तत्थ ॥१०२॥ मिय-सिंधव-सुंठि मिरीमेही सोवच्चलं च बिडलवणे। हिंगुसुगंधिसु पाए पकप्पए साइयं वत्थु ॥१०३॥ अभिधानराजेन्द्र। ३ ब. णिग्वियडी। ४ इ. क्ष. तय०।

* मध्यमोऽपि भवेदेवं स त्रिधाहारवर्जनम्।
जलं मुक्त्वा जघन्यस्त्वेकभक्तादिरनेकधा ॥१७५॥
† स्नानमुद्वर्तनं गन्धं माल्यं चैव विलेपनम्।
यच्चान्यद् रागहेतुः स्याद्वर्ज्यं तत्प्रोषधोऽखिलम् ॥१७६॥
‡ मूलं फलं च शाकादि पुष्पं बीजं करीरकम्।
अप्रासुकं त्यजेन्नीरं सचित्तविरतो गृही ॥१७८॥—गुण० श्राव०

जहाँपर हरित त्वक् (छाल) पत्र, प्रवाल, कंद, फल, बीज, और अप्रासुक जल त्याग किया जाता है, वह सचित्त-विनिवृत्तिवाला पाँचवाँ प्रतिमास्थान है ॥ २९५ ॥

रात्रिभुक्तित्यागप्रतिमा

मण-वयण-काय-कय-[1]कारियाणुमोएहिं मेहुणं णवधा ।
दिवसम्मि जो विवज्जइ गुणम्मि सो सावओ छट्ठो ॥२९६॥ [१]

जो मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना, इन नौ प्रकारोंसे दिनमें मैथुनका त्याग करता है, वह प्रतिमारूप गुणस्थानमें छठा श्रावक है, अर्थात् छठी प्रतिमाधारी है ॥२९६॥

ब्रह्मचर्यप्रतिमा

पुव्वुत्तणवविहाणं पि मेहुणं सव्वदा[2] विवज्जंतो ।
इत्थिकहाइणिवित्तो[3] सत्तमगुणबंभयारी सो ॥२९७॥[२]

जो पूर्वोक्त नौ प्रकारके मैथुनको सर्वदा त्याग करता हुआ स्त्रीकथा आदिसे भी निवृत्त हो जाता है, वह सातवें प्रतिमारूप गुणका धारी ब्रह्मचारी श्रावक है ॥ २९७ ॥

आरम्भनिवृत्तप्रतिमा

जं किंचि गिहारंभं बहु थोगं[4] वा सया विवज्जेइ ।
आरंभणियत्तमई सो अट्ठमु सावओ भणिओ ॥२९८॥[३]

जो कुछ भी थोड़ा या बहुत गृहसम्बन्धी आरम्भ होता है, उसे जो सदाके लिए त्याग करता है, वह आरम्भसे निवृत्त हुई है बुद्धि जिसकी, ऐसा आरम्भत्यागी आठवाँ श्रावक कहा गया है ॥२९८ ॥

परिग्रहत्यागप्रतिमा

मोत्तूण वत्थमेत्तं परिग्गहं जो विवज्जए सेसं ।
तत्थ वि मुच्छं ण करेइ जाणइ सो सावओ णवमो ॥२९९॥[४]

जो वस्त्रमात्र परिग्रहको रखकर शेष सब परिग्रहको छोड़ देता है और स्वीकृत वस्त्रमात्र परिग्रहमें भी मूर्च्छा नहीं करता है, उसे परिग्रहत्यागप्रतिमाधारी नवाँ श्रावक जानना चाहिए ॥ २९९ ॥

अनुमतित्यागप्रतिमा

पुट्ठो वाऽपुट्ठो वा णियगेहि परेहिं च सगिहकज्जम्मि ।
अणुमणणं जो ण कुणइ वियाण सो सावओ दसमो ॥३००॥[५]

---

१ ब. किरियाणु० । २ ब. सव्वहा । ३ झ. ब. णियत्तो । ४ झ. थोवं ।

[१] स दिवा-ब्रह्मचारी यो दिवा स्त्रीसंगमं त्यजेत् ।

[२] स सदा ब्रह्मचारी यः स्त्रीसंगं नवधा त्यजेत् ॥१७९॥

[३] सः स्यादारम्भविरतो विरमेद्योऽखिलादपि ।
पापहेतोः सदाऽऽरम्भात्सेवाकृष्यादिकात्सदा ॥१८०॥

[४] निर्मूर्च्छं वस्त्रमात्रं यः स्वीकृत्य निखिलं त्यजेत् ।
बाह्यं परिग्रहं स स्याद्विरक्तस्तु परिग्रहात् ॥१८१॥

[५] पृष्टोऽपृष्टोऽपि नो दत्तेऽनुमतिं पापहेतुके ।
ऐहिकाखिलकार्ये योऽनुमतिविरतोऽस्तु सः ॥१८२॥—गुण० श्राव०

स्वजनोंसे और परजनोंसे पूछा गया, अथवा नहीं पूछा गया जो श्रावक अपने गृह-सम्बन्धी कार्यमें अनुमोदना नहीं करता है, उसे अनुमतित्याग प्रतिमाधारी दसवाँ श्रावक जानना चाहिए ॥ ३०० ॥

उद्दिष्टत्यागप्रतिमा

एयारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो ।
वत्थेक्कधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो विदिओ[1] ॥३०१॥(१)

ग्यारहवें प्रतिमास्थानमें गया हुआ मनुष्य उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है। उसके दो भेद हैं, प्रथम एक वस्त्रका रखनेवाला और दूसरा कोपीन (लंगोटी) मात्रपरिग्रहवाला॥३०१॥

*धम्मिल्लाणं चयणं[2] करेइ कत्तरि छुरेण वा पढमो ।
ठाणाइसु पडिलेहइ[3] उवयरणेण पयडप्पा ॥३०२॥
भुंजेइ पाणिपत्तम्मि भायणे वा सइं समुवइट्ठो ।
उववासं पुण णियमा चउव्विहं कुणइ पव्वेसु ॥३०३॥
पक्खालिऊण पत्तं पविसइ चरियाय पंगणे ठिच्चा ।
भणिऊण धम्मलाहं जायइ भिक्खं सयं चेव ॥३०४॥
सिग्घं लाहालाहे अदीणवयणो णियत्तिऊण तओ ।
अण्णमि गिहे वच्चइ दरिसइ मोणेण कायं[4] वा ॥३०५॥
जइ अद्धवहे[5] कोइ वि भणइ पत्थेइ भोयणं कुणह ।
भोत्तूण णिययभिक्खं तस्सण्णं भुंजए सेसं ॥३०६॥
अह ण भणइ तो भिक्खं भमेज्ज णियपोट्टपूरणपमाणं ।
पच्छा एयम्मि गिहे जाएज्ज पासुगं सलिलं ॥३०७॥
जं किं पि पडियभिक्खं भुंजिज्जो सोहिऊण जत्तेण ।
पक्खालिऊण पत्तं गच्छिज्जो गुरुसयासम्मि ॥३०८॥
जइ एवं ण रएज्जो काउंरिसगिहम्मि[6] चरियाए ।
पविसत्ति एयभिक्खं पवित्तिणियमणं[7] ता कुज्जा ॥३०९॥
गंतूण गुरुसमीवं पच्चक्खाणं चउव्विहं विहिणा ।
गहिऊण तओ सव्वं आलोचेज्जा पयत्तेण ॥३१०॥*

प्रथम उत्कृष्ट श्रावक (जिसे कि क्षुल्लक कहते हैं) धम्मिल्लोंका चयन अर्थात् हजामत कैंचीसे अथवा उस्तरेसे कराता है। तथा, प्रयत्नशील या सावधान होकर पीछी आदि उपकरण-से स्थान आदिका प्रतिलेखन अर्थात् संशोधन करता है ॥ ३०२ ॥ पाणि-पात्रमें या थाली आदि भाजनमें (आहार रखकर) एक वार बैठकर भोजन करता है। किन्तु चारों पर्वोंमें

---

१ झ. ब. बिइओ। २ ब. वयणं। ३ ब. लेहइ मि। ४ ब. कायव्वं। ५ प. अट्ठवहे। ६ काउंरिसिगोहणम्मि। ७ ध. णियमेणं।

(१) गेहादि व्याश्रमं त्यक्त्वा गुर्वन्ते व्रतमाश्रितः ।
भैक्ष्याशीः यस्तपस्तप्येदुद्दिष्टविरतो हि सः ॥१८३॥

* उद्दिष्टविरतो द्वेधा स्याद्याद्यो वस्त्रखण्डभाक् ।
संमूर्ध्वजानां वपनं कर्त्तनं चैव कारयेत् ॥१८४॥
गच्छेद्याकारितो भोक्तुं कुर्यात्तन्निरतां यथाशनम् ।
पाणिपात्रेऽन्यपात्रे वा भजेद्भुक्तिं निविष्टवान् ॥१८५॥
भुक्त्वा प्रक्षाल्य पादं (त्रं) च गत्वा च गुरुसन्निधिम् ।
चतुर्धान्नपरित्यागं कृत्वाऽऽलोचनमाश्रयेत् ॥१८६॥—गुण० श्रा०

चतुर्विध आहारको त्यागकर उपवास नियमसे करता है ॥ ३०३ ॥ पात्रको प्रक्षालन करके चर्याके लिए श्रावकके घरमें प्रवेश करता है और आंगनमें ठहरकर 'धर्म-लाभ' कहकर स्वयं ही भिक्षा माँगता है ॥ ३०४ ॥ भिक्षा-लाभके अलाभमें अर्थात् भिक्षा न मिलनेपर, अदीन-मुख हो वहाँसे शीघ्र निकलकर दूसरे घरमें जाता है और मौनसे अपने शरीरको दिखलाता है ॥ ३०५ ॥ यदि अर्ध-पथमें, अर्थात् मार्गके बीचमें ही कोई श्रावक मिले और प्रार्थना करे कि भोजन कर लीजिए, तो पूर्व घरसे प्राप्त अपनी भिक्षाको खाकर, शेष अर्थात् जितना पेट खाली रहे, तत्प्रमाण उस श्रावकके अन्नको खावे ॥ ३०६ ॥ यदि कोई भोजनके लिए न कहे, तो अपने पेटके पूरण करनेके प्रमाण भिक्षा प्राप्त करने तक परिभ्रमण करे, अर्थात् अन्य अन्य श्रावकोंके घर जावे। आवश्यक भिक्षा प्राप्त करनेके पश्चात् किसी एक घरमें जाकर प्रासुक जल माँगे ॥ ३०७ ॥ जो कुछ भी भिक्षा प्राप्त हुई हो, उसे शोधकर भोजन करे और यत्नके साथ अपने पात्रको प्रक्षालनकर गुरुके पासमें जावे ॥ ३०८ ॥ यदि किसी-को उक्त विधिसे गोचरी करना न रुचे, तो वह मुनियोंके गोचरी कर जानेके पश्चात् चर्याके लिए प्रवेश करे, अर्थात् एक भिक्षाके नियमवाला उत्कृष्ट श्रावक चर्याके लिए किसी श्रावक जनके घरमें जावे और यदि इस प्रकार भिक्षा न मिले, तो उसे प्रवृत्ति-नियमन करना चाहिए, अर्थात् फिर किसीके घर न जाकर उपवास का नियम कर लेना चाहिए ॥ ३०९ ॥ पश्चात् गुरुके समीप जाकर विधिपूर्वक चतुर्विध (आहारके त्यागरूप) प्रत्याख्यान ग्रहण कर पुनः प्रयत्नके साथ सर्वदोषोंकी आलोचना करे ॥ ३१० ॥

एमेव होइ बिइओ णवरिविसेसो कुणिज्ज णियमेण।
लोचं धरिज्ज पिच्छं भुंजिज्जो पाणिपत्तम्मि ॥३११॥(१)

इस प्रकार ही अर्थात् प्रथम उत्कृष्ट श्रावकके समान ही द्वितीय उत्कृष्ट श्रावक होता है, केवल विशेषता यह है कि उसे नियमसे केशोंका लोंच करना चाहिए, पीछी रखना चाहिए और पाणिपात्रमें खाना चाहिए ॥३११॥

दिणपडिम-वीरचरिया-तियालजोगेसु णत्थि अहियारो।
सिद्धंत-रहस्साण वि अज्झयणं देसविरदाणं[1] ॥३१२॥(२)

दिनमें प्रतिमायोग धारण करना अर्थात् नग्न होकर दिनभर कायोत्सर्ग करना, वीर-चर्या अर्थात् मुनिके समान गोचरी करना, त्रिकाल योग अर्थात् गर्मीमें पर्वतके शिखरपर, बर-सातमें वृक्षके नीचे, और सर्दीमें नदीके किनारे ध्यान करना, सिद्धान्त-ग्रन्थोंका अर्थात् केवली, श्रुतकेवली-कथित गणधर, प्रत्येकबुद्ध और अभिन्नदशपूर्वी साधुओंसे निर्मित ग्रन्थोंका अध्ययन और रहस्य अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्रका अध्ययन, इतने कार्योंमें देशविरती श्रावकोंका अधिकार नहीं है ॥ ३१२ ॥

उद्दिट्ठपिंडविरओ दुवियप्पो सावओ समासेण।
एयारसम्मि ठाणे भणिओ सुत्ताणुसारेण ॥३१३॥

---

१ प. ब. विरयाणं।

(१) द्वितीयोऽपि भवेदेवं स तु कौपीनमात्रवान्।
कुर्याल्लोचं धरेत्पिच्छं पाणिपात्रेऽशनं भजेत् ॥१८७॥

(२) वीरचर्या-दिनच्छाया सिद्धान्ते निह्नसंश्रुतौ।
त्रैकालिके योऽवयोगेऽस्य विद्यते नाधिकारिता ॥१८८॥

—गुण० श्राव०

ग्यारहवें प्रतिमास्थानमें उपासकाध्ययन-सूत्रके अनुसार संक्षेपसे मैंने उद्दिष्ट आहार-के त्यागी दोनों प्रकारके श्रावकोंका वर्णन किया ॥ ३१३ ॥

रात्रिभोजनदोष-वर्णन

एयारसेसु पढमं वि[1] जदो णिसिभोयणं कुणंतस्स ।
ठाणं ण ठाइ तम्हा णिसिभुत्तिं परिहरे णियमा ॥३१४॥

चूँकि, रात्रिको भोजन करनेवाले मनुष्यके ग्यारह प्रतिमाओंमेंसे पहली भी प्रतिमा नहीं ठहरती है, इसलिए नियमसे रात्रिभोजनका परिहार करना चाहिए ॥ ३१४ ॥

चम्मट्ठि-कीड-उंदुर[3]-भुयंग-केसाइ असणमज्झम्मि ।
पडियं ण किं पि पस्सइ भुंजइ सव्वं पि णिसिसमये ॥३१५॥

भोजनके मध्य गिरा हुआ चर्म, अस्थि, कीट-पतंग, सर्प और केश आदि रात्रिके समय कुछ भी नहीं दिखाई देता है, और इसलिए रात्रिभोजी पुरुष सबको खा जाता है ॥ ३१५ ॥

दीउज्जोयं जइ कुणइ तह वि चउरिंदिया अपरिमाणा ।
णिवडंति दिट्ठिराएण मोहिया असणमज्झम्मि ॥३१६॥

यदि दीपक जलाया जाता है, तो भी पतंगे आदि अगणित चतुरिन्द्रिय जीव दृष्टिराग-से मोहित होकर भोजनके मध्यमें गिरते हैं ॥ ३१६ ॥

इयएरिसमाहारं भुंजंतो आदणासमिह लोए ।
पाउणइ परभवम्मि चउगइ संसारदुक्खाइं ॥३१७॥

इस प्रकारके कीट-पतंगयुक्त आहारको खानेवाला पुरुष इस लोकमें अपनी आत्मा-का या अपने आपका नाश करता है, और परभवमें चतुर्गतिरूप संसारके दुःखोंको पाता है ॥ ३१७ ॥

एवं बहुप्पयारं[4] दोसं[5] णिसिभोयणम्मि णाऊण ।
तिविहेण राइभुत्ती परिहरियव्वा हवे तम्हा ॥३१८॥

इस प्रकार रात्रिभोजनमें बहुत प्रकारके दोष जानकरके मन, वचन, कायसे रात्रि भोजनका परिहार करना चाहिए ॥ ३१८ ॥

श्रावकके अन्य कर्त्तव्य

विणओ विज्जावच्चं कायकिलेसो य पुज्जणविहाणं ।
सत्तीए जहजोग्गं कायव्वं देसविरएहिं ॥३१९॥(१)

देशविरत श्रावकोंको अपनी शक्तिके अनुसार यथायोग्य विनय, वैयावृत्त्य, काय-क्लेश और पूजन-विधान करना चाहिए ॥ ३१९ ॥

विनयका वर्णन

दंसण-णाण[2]चरित्ते तव उवयारम्मि पंचहा विणओ ।
पंचमगइगमणत्थं[6] कायव्वो देसविरएण ॥३२०॥(२)

---

१ ब. पि । २ ब. वाइ । ३ ब. दुदुर । ध. दुंदुर । ४ ध. प्पयारे । ५ ध. दोसे । ६ ध. गमणत्थे ।

(१) विनयः स्याद्वैयावृत्त्यं कायक्लेशस्तथार्चना ।
कर्त्तव्या देशविरतैर्यथाशक्ति यथागमम् ॥१९०॥

(२) दर्शनज्ञानचारित्रैस्तपसाऽप्युपचारतः ।
विनयः पंचधा स स्यात्समस्तगुणभूषणः ॥१९१॥

दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तपविनय, और उपचारविनय, यह पाँच प्रकारका विनय पंचमगति गमन अर्थात् मोक्ष-प्राप्तिके लिए श्रावकको करना चाहिए ॥ ३२० ॥

णिस्संकिय-संवेगाइ जे गुणा वण्णिया मए[1] पुव्वं ।
तेसिमणुपालणं जं वियाण सो दंसणो विणओ ॥३२१॥(१)

निःशंकित, संवेग आदि जो गुण मैंने पहले वर्णन किये हैं, उनके परिपालनको दर्शन-विनय जानना चाहिए ॥ ३२१ ॥

णाणे णाणुवयरणे य णाणवंतम्मि तह य भत्तीए ।
जं पडियरणं कीरइ णिच्चं तं णाणविणओ हु ॥३२२॥(२)

ज्ञानमें, ज्ञानके उपकरण शास्त्र आदिकमें, तथा ज्ञानवंत पुरुषमें भक्तिके साथ नित्य जो अनुकूल आचरण किया जाता है, वह ज्ञानविनय है ॥ ३२२ ॥

पंचविहं चारित्तं अहियारा जे य वण्णिया तस्स ।
जं तेसिं बहुमाणं वियाण चारित्तविणओ सो ॥३२३॥

परमागममें पाँच प्रकारका चारित्र और उसके जो अधिकारी या धारण करनेवाले वर्णन किये गये हैं, उनके आदर-सत्कारको चारित्रविनय जानना चाहिए ॥ ३२३ ॥

बालो यं बुड्ढो यं संकप्पं वज्जिऊण तवसीणं[2] ।
जं पणिवायं कीरइ तवविणयं तं वियाणीहि[3] ॥३२४॥(३)

यह बालक है, यह वृद्ध है, इस प्रकारका संकल्प छोड़कर तपस्वी जनोंका जो प्रणिपात अर्थात् आदरपूर्वक वंदन आदि किया जाता है, उसे तप विनय जानना चाहिए ॥ ३२४ ॥

उवयारिओ वि विणओ मण-वचि-काएण होइ तिवियप्पो ।
सो पुण दुविहो भणिओ पच्चक्ख-परोक्खभेएण ॥३२५॥(४)

औपचारिक विनय भी मन, वचन, कायके भेदसे तीन प्रकारकी होती है और वह तीनों प्रकारका विनय प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है ॥ ३२५ ॥

जं दुप्परिणामाओ मणं[1] णियत्ताविऊण सुहजोए ।
ठाविज्जइ सो विणओ जिणेहिं माणस्सिओ भणिओ ॥३२६॥(५)

जो मनको खोटे परिणामोंसे हटाकर शुभयोगमें स्थापन किया जाता है अर्थात् लगाया जाता है, उसे जिन भगवान्ने मानसिक विनय कहा है ॥ ३२६ ॥

हिय-मिय पुज्जं[4] सुत्ताणुवीचि अफरसमकक्कसं वयणं ।
संजयिजणम्मि जं चाडुभासणं वाचिओ वीणओ ॥३२७॥(६)

---

१ इ. मया । २ म. तवस्सीणं । ३ झ. प. वियाणेहिं । ४ ध. पुज्जा ।

(१) निःशंकित्वादयः पूर्वं ये गुणा वर्णिता मया ।
यत्तेषां पालनं स स्याद्विनयो दर्शनात्मकः ॥११२॥

(२) ज्ञाने ज्ञानोपचारे च·····················

(३) यहाँका पाठ मुद्रित प्रतिमें नहीं है और उसकी आदर्शभूत पंचायती मन्दिर देहलीकी हस्तलिखित प्रतिमें भी पत्र टूट जानेसे पाठ उपलब्ध नहीं है ।—संपादक ।

(४) मनोवाक्काय भेदेन·····················
प्रत्यक्षेतरभेदेन सापि स्याद्द्विविधा पुनः ।

(५) दुर्ध्यानात्समाकृष्य शुभध्यानेन धार्यते ।
मानसं त्वनिशं प्रोक्तो मानसो विनयो हि सः ॥१९७॥

(६) वचो हितं मितं पूज्यमनुवीचिवचोऽपि च ।
यद्यतिमनुवर्तेत वाचिको विनयोऽस्तु सः ॥१९८॥

हित, मित, पूज्य, शास्त्रानुकूल तथा हृदयपर चोट नहीं करनेवाले कोमल वचन कहना और संयमी जनोंमें चाटु (नर्म) भाषण करना सो वाचिक विनय है ॥ ३२७ ॥

किरियम्मब्भुट्ठाणं णवणंजलि आसणुवकरणदाणं।
एते पच्चुग्गमणं च गच्छमाणे अणुव्वजणं ॥३२८॥(१)
कायाणुरूवमद्दणकरणं कालाणुरूवपडियरणं।
संथारभणियकरणं उवयरणाणं च पडिलिहणं ॥३२९॥
इच्चेवमाइ काइयविणओ रिसि-सावयाण कायव्वो।
जिणवयणमणुगणंतेण देसविरएण जहजोग्गं ॥३३०॥(२)

साधु और श्रावकोंका कृतिकर्म अर्थात् वंदना आदि करना, उन्हें देख उठकर खड़े होना, नमस्कार करना, अंजली जोड़ना, आसन और उपकरण देना, अपनी तरफ आते देखकर उनके सन्मुख जाना, और जानेपर उनके पीछे पीछे चलना, उनके शरीरके अनुकूल मर्दन करना, समयके अनुसार अनुकरण या आचरण करना, संस्तर आदि करना, उनके उपकरणोंका प्रतिलेखन करना, इत्यादिक कायिक विनय है। यह कायिक विनय जिनवचनका अनुकरण करनेवाले देशविरती श्रावकको यथायोग्य करना चाहिए ॥ ३२८–३३० ॥

इय पच्चक्खो एसो भणिओ गुरुणा विणा वि आणाए।
अणुवट्टिज्जए जं तं परोक्खविणओ त्ति विण्णेओ ॥३३१॥(३)

इस प्रकारसे यह तीनों प्रकारका प्रत्यक्ष विनय कहा। गुरुके विना अर्थात् गुरुजनोंके नहीं होनेपर भी उनकी आज्ञाके अनुसार मन, वचन, कायसे जो अनुवर्तन किया जाता है, वह परोक्ष-विनय है, ऐसा जानना चाहिए ॥ ३३१ ॥

विणएण ससंकुज्जलजसोहधवलियदियंतओ पुरिसो।
सव्वत्थ हवइ सुहओ तहेव आदिज्जवयणो य ॥३३२॥(४)

विनयसे पुरुष शशांक (चन्द्रमा) के समान उज्ज्वल यशःसमूहसे दिगन्तको धवलित करता है। विनयसे वह सर्वत्र सुभग अर्थात् सब जगह सबका प्रिय होता है और तथैव आदेयवचन होता है, अर्थात् उसके वचन सब जगह आदरपूर्वक ग्रहण किये जाते हैं ॥ ३३२ ॥

जे केइ वि उवएसा इह-परलोए सुहावहा संति।
विणएण गुरुजणाणं[1] सव्वे पाउणइ ते पुरिसा ॥३३३॥(५)

जो कोई भी उपदेश इस लोक और परलोकमें जीवोंको सुखके देनेवाले होते हैं, उन सबको मनुष्य गुरुजनोंकी विनयसे प्राप्त करते हैं ॥ ३३३ ॥

देविंद-चक्कहर-मंडलीयरायाइजं सुहं लोए।
तं सव्वं विणयफलं णिव्वाणसुहं तहा[2] चेव ॥३३४॥

---

१ प्रतिषु 'गुरुजणाओ' इति पाठः। २ प. तहच्चेव।

(१) गुरुस्तुतिक्रियायुक्ता नमनोच्चासनार्पणम्।
सम्मुखो गमनं चैव तथा वाऽनुव्रजक्रिया ॥१९९॥

(२) अंगसंवाहनं योग्यप्रतीकारादिनिर्मितिः।
विधीयते यतीनां यत्कायिको विनयो हि सः ॥२००॥

(३) प्रत्यक्षोऽप्ययमेतस्य परोक्षस्तु विनापि वा।
गुरूंस्तदाज्ञयैव स्यात्प्रवृत्तिः धर्मकर्मसु ॥२०१॥

(४) शशांकनिर्मला कीर्तिः सौभाग्यं भाग्यमेव च।
आदेयवचनत्वं च भवेद्विनयतः सताम् ॥२०२॥

(५) विनयेन समं किंचिन्नास्ति मित्रं जगत्त्रये।
यस्मात्तेनैव विद्यानां रहस्यमुपलभ्यते ॥२०३॥—गुण० श्राव०

संसारमें देवेन्द्र, चक्रवर्त्ती, और मांडलिक राजा आदिके जो सुख प्राप्त हैं, वह सब विनयका ही फल है। और इसी प्रकार मोक्षका सुख पाना भी विनयका ही फल है ॥ ३३४ ॥

सामण्णा वि य विज्जा ण विणयहीणस्स सिद्धिमुवयाइ।
किं पुण णिव्वुइविज्जा विणयविहीणस्स सिज्झेइ¹ ॥३३५॥

जब साधारण विद्या भी विनय-रहित पुरुषके सिद्धिको प्राप्त नहीं होती है, तो फिर क्या मुक्तिको प्राप्त करानेवाली विद्या विनय-विहीन पुरुषके सिद्ध हो सकती है ? अर्थात् कभी नहीं सिद्ध हो सकती ॥ ३३५ ॥

सत्तू वि मित्तभावं जम्हा उवयाइ विणयसीलस्स।
विणओ तिविहेण तओ कायव्वो देसविरएण ॥३३६॥(१)

चूँकि, विनयशील मनुष्यका शत्रु भी मित्रभावको प्राप्त हो जाता है, इसलिए श्रावकको मन, वचन, कायसे विनय करना चाहिए ॥ ३३६ ॥

वैयावृत्यका वर्णन

अइबाल-वुड्ढ-रोगाभिभूय-तणुकिलेससत्ताणं।
चाउव्वण्णे संघे जहजोग्गं तह मणुण्णाणं ॥३३७॥(२)
कर-चरण-पिट्ठ-सिरसाणं मद्दण-अब्भंग-सेवकिरियाहिं।
उव्वत्तण-परियत्तण-पसारणाकुंचणाईहिं ॥३३८॥
पडिजग्गणेहिं² तणुजोय-भत्त-पाणेहिं भेसजेहिं तहा।
उच्चराईण विकिंचणेहिं तणुधोवणेहिं च ॥३३९॥
संथारसोहणेहिं य विज्जावच्चं सया पयत्तेण।
कायव्वं सत्तीए णिव्विदिगिच्छेण भावेण ॥३४०॥

मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका, इस चार प्रकारके चतुर्विध संघमें अतिबाल, अतिवृद्ध, रोगसे पीड़ित अथवा अन्य शारीरिक क्लेशसे संयुक्त जीवोंका, तथा मनोज्ञ अर्थात् लोकमें प्रभावशाली साधु या श्रावकोंका यथायोग्य हाथ, पैर, पीठ और शिरका दबाना, तेल-मर्दन करना, स्नानादि कराना, अंग सेकना, उठाना, बैठाना, अंग पसारना, सिकोड़ना, करवट दिलाना, सेवा-शुश्रूषा वा आदि वा समयोचित कार्योंके द्वारा, शरीरके योग्य पथ्य अन्न-जल द्वारा, तथा औषधियोंके द्वारा उच्चार (मल) प्रस्रवण (मूत्र) आदिके दूर करनेसे, शरीरके धोनेसे, और संस्तर (बिछौना) के शोधनेसे सदा प्रयत्नपूर्वक ग्लानि-रहित भावसे शक्तिके अनुसार वैयावृत्य करना चाहिए ॥ ३३७–३४० ॥

णिस्संकिय-संवेगाइय जे गुणा वण्णिया मणो³विसया।
ते होंति पायडा पुण⁴ विज्जावच्चं करंतस्स ॥३४१॥
देह-तव-णियम-संजम-सील-समाही य अभयदाणं च।
गइ मइ बलं च दिण्णं विज्जावच्चं करंतेण ॥३४२॥(३)

---

१ इ. सिज्झेइ, झ. सिज्झइइ, ब. सब्भिइइ। २ इ. पडित्तग्गा०, ब. पडिज्जग्ग०। ३ व. मुणो। ४ ध. गुण।

(१) विद्वेषिणोऽपि मित्रत्वं प्रयान्ति विनयाद्यतः।
तस्मात्त्रेधा विधातव्यो विनयो देशसंयतैः ॥२०४॥

(२) बालवार्धक्यरोगादिक्लिष्टे संघे चतुर्विधे।
वैयावृत्त्यं यथाशक्तिर्विधेयं देशसंयतैः ॥२०५॥

(३) वपुस्तपोबलं शीलं गति-बुद्धि-समाधयः।
निर्मलं नियमादि स्याद्वैयावृत्यकृतार्पणम् ॥२०६॥—गुण० श्रा०

निःशंकित आदि और संवेग आदि जो मनोविषयक गुण पहले वर्णन किये गये हैं, वे सब गुण वैयावृत्त्य करनेवाले जीवके प्रकट होते हैं ।।३४१।। वैयावृत्त्यको करनेवाले श्रावकके द्वारा देह, तप, नियम, संयम और शीलका समाधान, अभय दान तथा गति, मति और बल दिया जाता है ।। ३४२ ।।

भावार्थ—साधु जन या श्रावक आदि जब रोग आदिसे पीड़ित होकर अपने व्रत, संयम आदिके पालनेमें असमर्थ हो जाते हैं, यहाँ तक कि पीड़ाकी उग्रतासे उनकी गति, मति आदि भी भ्रष्ट होने लगती है और वे मृतप्राय हो जाते हैं, उस समय सावधानीके साथ की गई वैयावृत्ति उनके लिए संजीविनी वटीका काम करती है, वे मरनेसे बच जाते हैं, गति, मति यथापूर्व हो जाती है और वे पुनः अपने व्रत, तप संयम आदिकी साधनाके योग्य हो जाते हैं, इसलिए ग्रन्थ-कारने यह ठीक ही कहा है कि जो वैयावृत्त्य करता है, वह रोगी साधु आदिको अभयदान, व्रत-संयम-समाधान और गति-मति प्रदान करता है, यहाँ तक कि वह जीवन-दान तक देता है और इस प्रकार वैयावृत्त्य करनेवाला सातिशय अक्षय पुण्यका भागी होता है ।

गुणपरिणामो जायइ जिणिंद-आणा य पालिया होइ ।
जिणसमय-तिलयभूओ लब्भइ अयत्तो वि गुणरासी ।।३४३।।
भमइ जए जसकित्ती सज्जणसुइ-हियय-णयण-सुहजणणी ।
अण्णेवि य होंति गुणा विज्जावच्चेण इहलोए ।।३४४।।(१)

वैयावृत्त्य करनेसे गुण-परिणमन होता है, अर्थात् नवीन सद्‌गुणोंका प्रादुर्भाव और विकास होता है, जिनेन्द्र-आज्ञाका परिपालन होता है, और अयत्न अर्थात् प्रयत्नके बिना भी गुणोंका समूह प्राप्त होता है तथा वह जिन-शासनका तिलकभूत प्रभावक व्यक्ति होता है ।। ३४३ ।। सज्जन पुरुषोंके श्रोत्र, नयन और हृदयको सुख देनेवाली उसकी यशःकीर्ति जगमें फैलती है, तथा अन्य भी बहुतसे गुण वैयावृत्त्यसे इस लोकमें प्राप्त होते हैं ।। ३४४ ।।

परलोए वि सरूवो चिराउसो रोय-सोय-परिहीणो ।
बल-तेय-सत्तजुत्तो जायइ अखिलप्पयाओ वा ।।३४५।।
जल्लोसहि-सव्वोसहि-अक्खीणमहाणसाइरिद्धीओ ।
अणिमाइगुणा य तहा विज्जावच्चेण पाउणइ ।।३४६।।
किं जंपिएण बहुणा तिलोइसंखोहकारयमहंतं ।
तित्थयरणामपुण्णं विज्जावच्चेण अज्जेइ ।।३४७।।

वैयावृत्त्यके फलसे परलोकमें भी जीव सुरूपवान्, चिरायुष्क, रोग-शोकसे रहित, बल, तेज और सत्त्वसे युक्त तथा पूर्ण प्रतापी होता है ।। ३४५ ।। वैयावृत्त्यसे जल्लौषधि, सर्वोषधि, और अक्षीणमहानस आदि ऋद्धियाँ, तथा अणिमा आदि अष्ट गुण प्राप्त होते हैं ।।३४६।। अधिक कहनेसे क्या, वैयावृत्त्य करनेसे यह जीव तीन लोकमें संक्षोभ अर्थात् हर्ष और आश्चर्य को करनेवाला महान् तीर्थङ्कर नामका पुण्य उपार्जन करता है ।। ३४७ ।।

तरुणियण-णयण-मणहारिरूव-बल-तेय-सत्तसंपण्णो ।
जाओ विज्जावच्चं पुव्वं काऊण वसुदेवो ।।३४८।।

वसुदेवका जीव पूर्वभवमें वैयावृत्त्य कर तरुणीजनोंके नयन और मनको हरण करने वाले रूप, बल, तेज और सत्त्वसे सम्पन्न वसुदेव नामका कामदेव हुआ ।। ३४८ ।।

---

(१) **वैयावृत्त्यकृतः किञ्चिद्दुर्लभं न जगत्त्रये ।**
विद्या कीर्तिर्यशोलक्ष्मीः धीः सौभाग्यगुणेष्वपि ।।२०७।।—गुण० श्रा०

वारवईए[1] विज्जाविच्चं किच्चा असंजदेणावि ।
तित्थयरणामपुण्णं समज्जियं वासुदेवेण ॥३४९॥

द्वारावतीमें व्रत-संयमसे रहित असंयत भी वासुदेव श्रीकृष्णने वैयावृत्य करके तीर्थंकर नामक पुण्यप्रकृतिका उपार्जन किया ॥ ३४९ ॥

एवं णाऊण फलं विज्जावच्चस्स परमभत्तीए ।
णिच्छयजुत्तेण सया कायव्वं देसविरएण ॥३५०॥

इस प्रकार वैयावृत्यके फलको जानकर दृढ़ निश्चय होकर परम भक्तिके साथ श्रावकको सदा वैयावृत्य करना चाहिए ॥ ३५० ॥

कायक्लेशका वर्णन

आयंबिल णिव्वियडी एयट्ठाणं छट्ठमाइखवणेहिं ।
जं कीरइ तणुतावं कायकिलेसो मुणेयव्वो ॥३५१॥(१)

आचाम्ल, निर्विकृति, एकस्थान, (एकाशन) चतुर्थभक्त अर्थात् उपवास, षष्ठ भक्त अर्थात् वेला, अष्टमभक्त अर्थात् तेला आदिके द्वारा जो शरीरको कृश किया जाता है, उसे कायक्लेश जानना चाहिए ॥ ३५१ ॥

मेहाविणरा एएण चेव बुज्झंति[2] बुद्धिविहवेण ।
ण य मंदबुद्धिणो तेण किं पि वोच्छामि सविसेसं ॥३५२॥

बुद्धिमान् मनुष्य तो इस संक्षिप्त कथनसे ही अपनी बुद्धिके वैभव द्वारा कायक्लेशके विस्तृत स्वरूपको समझ जाते हैं। किन्तु मन्दबुद्धि जन नहीं समझ पाते हैं, इसलिए कायक्लेशका कुछ विस्तृत स्वरूप कहूँगा ॥ ३५२ ॥

पंचमी व्रतका वर्णन

आसाढ कत्तिए फग्गुणे य सियपंचमीए गुरुमूले ।
गहिऊण विहिं विहिणा पुव्वं काऊण जिणपूजा[3] ॥३५३॥
पडिमासमेक्कखमणेण जाव वासाणि पंच मासा य ।
अविच्छिएणा[4] कायव्वा मुत्तिसुहं जायमाणेण ॥३५४॥

आषाढ़, कार्तिक या फाल्गुन मासमें शुक्ला पंचमीके दिन पहले जिन-पूजनको करके पुनः गुरुके पाद-मूलमें विधिपूर्वक विधिको ग्रहण करके, अर्थात् उपवासका नियम लेकर, प्रतिमास एक क्षमणके द्वारा अर्थात् एक उपवास करके पाँच वर्ष और पाँच मास तक मुक्ति-सुखको चाहनेवाले श्रावकोंको अविच्छिन्न अर्थात् विना किसी नागाके लगातार यह पंचमीव्रत करना चाहिए ॥ ३५३–३५४ ॥

अवसाणे पंच घडाविऊण पडिमाओ जिणवरिंदाणं ।
तह पंच पोत्थयाणि य लिहाविऊणं ससत्तीए ॥३५५॥
तेसिं पइट्ठयाले जं किं पि पइट्ठजोग्गमुवयरणं ।
तं सव्वं कायव्वं पत्तेयं पंच पंच संखाए ॥३५६॥

व्रत पूर्ण हो जानेपर जिनेन्द्र भगवान्की पाँच प्रतिमाएँ बनवाकर, तथा पाँच पोथियों (शास्त्रों) को लिखाकर अपनी शक्तिके अनुसार उनकी प्रतिष्ठाके लिए जो कुछ भी प्रतिष्ठा

१ द्वारावत्याम् । २ ब. बुब्भंति । ध. जुज्झति । ३ प. पुज्जा । ४ ध. अविछिण्णा ।

(१) आचाम्लं निर्विकृत्यैक भक्त-षष्ठाष्टमादिकम् ।
यथाशक्तिश्च क्रियेत कायक्लेशः स उच्यते ॥२०८॥

के योग्य उपकरण आवश्यक हों, वे सब प्रत्येक पाँच पाँचकी संख्यासे बनवाना चाहिए ॥ ३५५-३५६ ॥

सहिरण्ण पंचकलसे पुरओ वित्थारिऊण वत्थमुहे ।
पक्कण्णं बहुभेयं फलाणि विविहाणि तह चेव ॥३५७॥
दाणं च जहाजोग्गं दाऊण चउव्विहस्स संघस्स ।
उज्जवणविही एवं कायव्वा देसविरएण ॥३५८॥

हिरण्य-सुवर्ण सहित अर्थात् जिनके भीतर सोना, चाँदी, माणिक आदि रखे गये हैं, और जिनके मुख वस्त्रसे बँधे हुए हैं, ऐसे पाँच कलशोंको जिनेन्द्र-वेदिकाके सामने रखकर, तथैव नाना प्रकारके पकवान और विविध फलोंको भी रखकर और चतुर्विध संघको यथायोग्य दान देकर देशविरत श्रावकोंको इस प्रकार व्रत उद्यापन विधि करना चाहिए ॥ ३५७–३५८ ॥

उज्जवणविही ण तरइ काउं जइ को वि अत्थपरिहीणो ।
तो विउणा कायव्वा उववासविही पयत्तेण ॥३५९॥

यदि कोई धन-हीन श्रावक उद्यापनकी विधि करनेके लिए समर्थ न हो, तो उसे विधि-पूर्वक यत्नके साथ उपवास-विधि दुगुनी करना चाहिए ॥ ३५९ ॥

जइ अंतरम्मि कारणवसेण एक्को व दो व उववासा[1] ।
ण कओ तो मूलाओ पुणो वि सा होइ कायव्वा ॥३६०॥

यदि व्रत करते हुए बीचमें किसी कारणवश एक या दो उपवास न किये जा सके हों, तो मूलसे अर्थात् प्रारम्भसे लेकर पुनः वही उपवास विधि करना चाहिए ॥ ३६० ॥

एस कमो णायव्वो सव्वविहीणं भणिज्जमाणाणं ।
एवं णाऊण फुडं ण पमाओ होइ कायव्वो ॥३६१॥

यह क्रम आगे कहे जानेवाले सभी व्रत-विधानोंका जानना चाहिए, ऐसा भले प्रकार जानकर कभी भी ग्रहण किये गये व्रतमें प्रमाद नहीं करना चाहिए ॥ ३६१ ॥

पंचमिउववासविहिं किच्चा देविंद-चक्कवट्टित्ते ।
भोत्तूण दिव्वभोए पच्छा पाउणदि णिव्वाणं ॥३६२॥

श्रावक इस पंचमीव्रतके उपवास-विधानको करके देवेन्द्र और चक्रवर्त्तियोंके दिव्य भोग भोगकर पीछे निर्वाण पदको प्राप्त करता है ॥ ३६२ ॥

रोहिणीव्रत-वर्णन

विहिणा गहिऊण विहिं रोहिणिरिक्खम्मि पंच वासाणि ।
पंच य मासा जाव उ [2]उववासं तम्मि रिक्खम्मि ॥३६३॥
काऊणुज्जवणं पुण पुव्वविहाणेण होइ कायव्वं ।
णवरि विसेसो पडिमा कायव्वा वासुपुज्जस्स ॥३६४॥

रोहिणी नक्षत्रमें विधिपूर्वक व्रत-विधिको ग्रहण कर पाँच वर्ष और पाँच मास तक उसी नक्षत्रमें उपवासको ग्रहण कर, पुनः अर्थात् व्रतपूर्ण होनेके पश्चात् पूर्वोक्त विधानसे उसका उद्यापन करना चाहिए। यहाँ केवल विशेषता यह है कि प्रतिमा वासुपूज्य भगवान्‌की बनवाना चाहिए ॥ ३६३–३६४ ॥

तस्स फलेणित्थी वा पुरिसो सोयं[3] ण पिच्छइ कया वि ।
भोत्तूण विउलभोए पच्छा पाउणइ णिव्वाणं ॥३६५॥

---

१ ध. उववासो । २ झ. जाओ । ३ शोकं ।

इस रोहिणी व्रतके फलसे स्त्री हो, या पुरुष, वह कभी भी शोकको नहीं देखता है, अर्थात् उसका जीवन रोग-शोक-रहित सुखसे व्यतीत होता है और वह विपुल भोगोंको भोगकर पीछे निर्वाण-सुखको प्राप्त होता है ॥ ३६५ ॥

अश्विनीव्रत-वर्णन

गहिऊणस्सिणिरिक्खम्मि विहिं रिक्खेसु सत्तवीसेसु ।
रिक्खं पडि एक्केक्को उववासो होइ कायव्वो ॥३६६॥
एवं काऊण विहिं सत्तीए जो करेइ उज्जवणं ।
भुत्तूणब्भुदयसुहं सो पावइ अक्खयं सुक्खं ॥३६७॥

अश्विनी नक्षत्रमें व्रत-विधिको ग्रहण कर पुनः सत्ताईस नक्षत्रोंमें प्रत्येक अश्विनी नक्षत्र पर एक-एक उपवास करना चाहिए। इस प्रकार अश्विनी व्रतकी विधिको करके जो अपनी शक्तिके अनुसार उद्यापन करता है, वह अभ्युदय अर्थात् स्वर्गके सुखको भोगकर अक्षय मुक्ति-सुखको प्राप्त करता है ॥ ३६६–३६७ ॥

सौख्यसम्पत्तिव्रत-वर्णन

एया पडिवा बीया उ दुण्णि तीया उ तिण्णि चउत्थीओ[1] ।
चत्तारि पंचमीओ पंच य छट्ठीउ छट्ठेव ॥३६८॥
सत्तेव सत्तमीओ अट्ठट्ठम्मिओ य णव य णवमीओ ।
दस दसमीओ य तहा एयारस एयारसीओ य ॥३६९॥
बारस य बारसीओ तेरह तह तेरसीओ णायव्वा ।
चोद्दस य चोद्दसीओ पण्णारस पुण्णिमाओ य ॥३७०॥
उववासा कायव्वा जहुत्तसंखाकमेण एयासु ।
एसा णामेण विही विण्णेया सुक्खसंपत्ती ॥३७१॥
एयस्से संजायइ फलेण अब्भुदयसुक्खसंपत्ती ।
कमसो मुत्तिसुहस्स वि तम्हा कुज्जा पयत्तेण ॥३७२॥

प्रतिपदा आदिक तिथियोंमें यथोक्त संख्याके क्रमसे प्रतिपदाका एक, द्वितीया-के दो, तृतीयाके तीन, चतुर्थीके चार, पंचमीके पाँच, षष्ठीके छह, सप्तमीके सात, अष्टमीके आठ, नवमीके नौ, दशमीके दश, एकादशीके ग्यारह, द्वादशीके बारह, त्रयोदशीके तेरह, चतुर्दशी-के चौदह, और पूर्णमासीके पन्द्रह उपवास करना चाहिए। इस उपवास-विधिका नाम सौख्य-संपत्तिव्रत जानना चाहिए। इस व्रत-विधिके फलसे अभ्युदय-सुखकी संप्राप्ति होती है और क्रमसे मुक्तिसुखकी भी प्राप्ति होती है। इसलिए प्रयत्नके साथ इस व्रतको करना चाहिए। ॥ ३६८–३७२ ॥

नन्दीश्वरपंक्तिव्रत-वर्णन

काऊण अट्ठ एयंतराणि रइयरणगेसु चत्तारि ।
दहिमुहसेलेसु पुणो अंजणजिणचेइए छट्ठं ॥३७३॥
णंदीसरम्मि दीवे एवं चउसु वि दिसासु कायव्वा ।
उववासा एस विही णंदीसरपंति णामेण ॥३७४॥
जं किं पि देवलोए महड्ढिदेवाण माणुसाण सुहं ।
भोत्तूण सिद्धिसोक्खं पाउणइ फलेण एयस्स ॥३७५॥

---

१ ब. चोत्थीओ ।

नन्दीश्वर द्वीपमें एक दिशासम्बन्धी आठ रतिकर पर्वतोंमें विद्यमान जिन-बिम्ब सम्बन्धी आठ एकान्तर उपवास करके, पुनः चार दधिमुख नामक शैलोंमें विद्यमान जिनबिम्ब सम्बन्धी चार एकान्तर उपवास करके, पुनः एक अंजनगिरिस्थ जिनबिम्ब सम्बन्धी षष्ठम-भक्त अर्थात् एक वेला करे। इस प्रकार चारों ही दिशाओंमें उपवास करना चाहिए। इस उपवास-विधिका नाम नन्दीश्वर पंक्ति व्रत है। इस व्रतके फलसे देवलोकमें महर्द्धिक देवों-के जो कुछ भी सुख हैं, और मनुष्योंके जितने सुख हैं, उन्हें भोगकर यह जीव सिद्धि-सुखको प्राप्त होता है। ॥३७३–३७५॥

विमानपंक्तिव्रत-वर्णन

एयंतरोववासा चत्तारि चउद्दिसासु काऊण।
छट्ठं मज्झे एवं तिसट्ठिखुत्तो विहिं कुज्जा ॥३७६॥
पट्ठवणे णिट्ठवणे छट्ठं मज्झम्मि अट्ठयं च तहा।
एस विही णायव्वा विमाणपंति त्ति णामेण ॥३७७॥

चारों दिशाओंमें स्थित चार श्रेणीबद्ध विमान सम्बन्धी चार एकान्तर उपवास करके, पुनः मध्यमें स्थित इन्द्रक विमान सम्बन्धी एक षष्ठभक्त अर्थात् वेला करे। इस प्रकार यह विधि तिरेसठ बार करना चाहिए। प्रस्थापन अर्थात् व्रत-प्रारम्भ करनेके दिन और निष्ठापन अर्थात् व्रत समाप्त होनेके दिन वेला करे, तथा मध्यमें अष्टम भक्त अर्थात् तेला करे। इस उपवास-विधिका नाम विमान-पंक्ति व्रत जानना चाहिए ॥ ३७६–३७७ ॥

फलमेयस्से भोत्तूण देव-मणुएसु इंदियजसुक्खं।
पच्छा पावइ मोक्खं थुणिज्जमाणो सुरिंदेहिं ॥३७८॥

इस व्रत-विधानके फलसे यह जीव देव और मनुष्योंमें इन्द्रिय-जनित सुख भोगकर पीछे देवेन्द्रोंसे स्तुति किया जाता हुआ मोक्षको पाता है ॥ ३७८ ॥

उद्देसमेत्तमेयं कीरइ अण्णं पि जं ससत्तीए।
सुत्तुत्ततवविहाणं कायकिलेसु त्ति तं विंति ॥३७९॥

व्रतोंका यह उद्देशमात्र वर्णन किया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य भी सूत्रोक्त तप-विधानको जो अपनी शक्तिके अनुसार करता है, उसे आचार्योंने कायक्लेश इस नामसे कहा है ॥ ३७९ ॥

जिण-सिद्ध-सूरि-पाठय-साहूणं जं सुयस्स विहवेण।
कीरइ विविहा पूजा वियाण तं पूजणविहाणं ॥३८०॥(१)

अर्हन्त जिनेन्द्र, सिद्ध भगवान्, आचार्य, उपाध्याय और साधुओंकी तथा शास्त्रकी जो वैभवसे नाना प्रकारकी पूजा की जाती है, उसे पूजन-विधान जानना चाहिए ॥ ३८० ॥

णाम-ट्ठवणा-दव्वे खित्ते काले वियाण भावे य।
छव्विहपूया भणिया समासओ जिणवरिंदेहिं ॥३८१॥(२)

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा संक्षेपसे छह प्रकारकी पूजा जिनेन्द्रदेवने कही है ॥ ३८१ ॥

(१) **गुरूणामपि पंचानां या यथाभक्ति-शक्तितः।**
क्रियतेऽनेकधा पूजा सोऽर्चनाविधिरुच्यते ॥२११॥
(२) **स नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-कालाख्य भावतः।**
षोढार्चा विधिरुद्दिष्टो विधेयो देशसंयतैः ॥२१२॥—गुण० श्रा०

नामपूजा

उच्चारिऊण णामं अरुहाईणं विसुद्धदेसम्मि ।
पुप्फाणि जं खिविज्जंति वण्णिया[1] णामपूया सा ॥३८२॥(१)

अरहन्त आदिका नाम उच्चारण करके विशुद्ध प्रदेशमें जो पुष्प क्षेपण किये जाते हैं, वह नाम पूजा जानना चाहिए ॥ ३८२ ॥

स्थापना पूजा

सब्भावासब्भावा दुविहा ठवणा जिणेहिं पण्णत्ता ।
सायारवंतवत्थुम्मि जं गुणारोवणं पढमा ॥३८३॥
अक्खय-वराडओ वा अमुगो एसो[2] त्ति णिययबुद्धीए ।
संकप्पिऊण वयणं एसा विइया असब्भावा ॥३८४॥(२)

जिन भगवान्‌ने सद्भावस्थापना और असद्भावस्थापना, यह दो प्रकारकी स्थापना पूजा कही है। आकारवान् वस्तुमें जो अरहन्त आदिके गुणोंका आरोपण करना, सो यह पहली सद्भावस्थापना पूजा है। और, अक्षत, वराटक (कौड़ी या कमलगट्टा) आदिमें अपनी बुद्धिसे यह अमुक देवता है ऐसा संकल्प करके उच्चारण करना, सो यह असद्भावस्थापना पूजा जानना चाहिए ॥ ३८३-३८४ ॥

हुंडावसप्पिणीए विइया ठवणा ण होदि[3] कायव्वा ।
लोए कुलिंगमइमोहिए जदो होइ संदेहो ॥३८५॥(३)

हुंडावसर्पिणी कालमें दूसरी असद्भावस्थापना पूजा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि कुलिंग-मतियोंसे मोहित इस लोकमें संदेह हो सकता है ॥ ३८५ ॥

कारावगिंदपडिमा पइट्ठलक्खणविहिं फलं चेव ।
एदे पंचहियारा णायव्वा पढमठवणाए ॥३८६॥(४)

पहली सद्भावस्थापना-पूजामें कारापक अर्थात् प्रतिमाको बनवाकर उसकी प्रतिष्ठा करानेवाला, इन्द्र अर्थात् प्रतिष्ठाचार्य, प्रतिमा, प्रतिष्ठाकी लक्षणविधि, और प्रतिष्ठाका फल, ये पाँच अधिकार जानना चाहिए ॥ ३८६ ॥

कारापक-लक्षण

भागी वच्छल्ल-पहावणा-खमा-सच्च-मद्दवोवेदो ।
जिणसासण-गुरुभत्तो सुत्ते कारावगो भणिदो ॥३८७॥

---

१ ब वाणिया । २ इ. ब. एसु । ३ य. ध. होई ।

(१) नामोच्चारोऽर्हतादीनां प्रदेशे परितः शुचौ ।
यःपुष्पाक्षतनिक्षेपा क्रियते नामपूजनम् ॥२१३॥

(२) सद्भावेतरभेदेन स्थापना द्विविधा मता ।
सद्भावस्थापना भावे साकारे गुणरोपणम् ॥२१४॥
उपलादौ निराकारे शुचौ संकल्पपूर्वकम् ।
स्थापनं यदसद्भावः स्थापनेति तदुच्यते ॥२१५॥

(३) हुंडावसर्पिणीकाले द्वितीया स्थापना बुधैः ।
न कर्त्तव्या यतो लोके समूढसंशयो भवेत् ॥२१६॥

(४) निर्मापकेन्द्रप्रतिमा प्रतिष्ठालक्षम तत्फलम् ।
अधिकाराश्च पंचैते सद्भावस्थापने स्मृताः ॥२१७॥—गुणभूषण श्रावकाचार

भाग्यवान्, वात्सल्य, प्रभावना, क्षमा, सत्य और मार्दव गुणसे संयुक्त, जिन अर्थात् देव, शासन अर्थात् शास्त्र और गुरुकी भक्ति करनेवाला प्रतिष्ठाशास्त्रमें कारापक कहा गया है।। ३८७

इंद्र-लक्षण

देस-कुल-जाइसुद्धो णिरुवम-अंगो विसुद्धसम्मत्तो ।
पढमाणिओयकुसलो पइट्ठलक्खणविहिविदण्णू ।।३८८।।
सावयगुणोववेदो उवासयज्झयणसत्थथिरबुद्धी ।
एवं गुणो पइट्ठाइरिओ जिणसासणे भणिओ ।।३८९।।

जो देश, कुल और जातिसे शुद्ध हो, निरुपम अंगका धारक हो, विशुद्ध सम्यग्दृष्टि हो, प्रथमानुयोगमें कुशल हो, प्रतिष्ठाकी लक्षण-विधिका जानकार हो, श्रावकके गुणोंसे युक्त हो, उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) शास्त्रमें स्थिरबुद्धि हो, इस प्रकारके गुणवाला जिनशासनमें प्रतिष्ठाचार्य कहा गया है ।। ३८८—३८९ ।।

प्रतिमा-विधान

***मणि-कणय-रयण-रुप्पय-पित्तल-मुत्ताहलोवलाईहिं ।**
पडिमालक्खणविहिणा जिणाइपडिमा घडाविज्जा ।।३९०।।

मणि, स्वर्ण, रत्न, चाँदी, पीतल, मुक्ताफल (मोती) और पाषाण आदिसे प्रतिमाकी लक्षणविधिपूर्वक अरहंत, सिद्ध आदिकी प्रतिमा बनवाना चाहिए ।। ३९० ।।

बारह-अंगंगी जा[1] दंसणतिलया चरित्तवत्थहरा ।
चोद्दहपुव्वाहरणा ठावेयव्वा य सुयदेवी ।।३९१।।
अहवा जिणागमं पुत्थएसु सम्मं लिहाविऊण तओ ।
सुहतिहि-लग्ग-मुहुत्ते आरंभो होइ कायव्वो ।।३९२।।

जो श्रुतज्ञानके बारह अंग-उपांगवाली है, सम्यग्दर्शनरूप तिलकसे विभूषित है, चारित्ररूप वस्त्रकी धारक है, और चौदह पूर्वरूप आभरणोंसे मंडित है, ऐसी श्रुतदेवी भी स्थापित करना चाहिए ।। ३९१ ।। अथवा जिनागमको पुस्तकोंमें सम्यक् प्रकार लिखाकर तत्पश्चात् शुभ तिथि, शुभ लग्न और शुभ मुहूर्तमें प्रतिष्ठाका आरम्भ करना चाहिए ।। ३९२ ।।

प्रतिष्ठा-विधान

अट्ठदसहत्थमेत्तं भूमिं संसोहिऊण जइणाए ।
तस्सुवरि मंडओ पुण कायव्वो तप्पमाणेण ।।३९३।।
चउतोरण-चउदारोवसोहिओ विविहवत्थकयभूसो ।
धुव्वंतधय-वडाओ णाणापुप्फोवहारड्ढो ।।३९४।।
लंबंतकुसुमदामो वंदणमालाहिभूसियदुवारो ।
दारुवरि उहयकोणेसु पुण्णकलसेहि रमणीओ ।।३९५।।
तस्सबहुमज्झदेसे पइट्ठसत्थम्मि वुत्तमाणेण ।
समचउरंसं पीठं सव्वत्थ समं च काऊण ।।३९६।।
चउसु वि दिसासु तोरण-वंदणमालोववेददाराणि ।
[2]णंदावत्ताणि तहा दिंडाणि रइऊण कोणेसु ।।३९७।।
पडिचीणणेत्तपट्टाइएहिं वत्थेहिं बहुविहेहिं तहा ।
उल्लोविऊण उवरिं चंदोवयमणिविहाणेहिं ।।३९८।।

---

१ ध. अंगंगिज्जा । २ झ. वउजावत्ताणि, म. प. छत्तावत्ताणि । ध. छज्जावत्ताणि ।

*स्वर्णरत्नमणिरौप्यनिर्मितं स्फाटिकामलशिलाभवं तथा ।
उत्थिताम्बुजमहासनांगितं जैनबिम्बमिह शस्यते बुधैः ।।६९।।—वसुबिन्दुप्रतिष्ठापाठ

संभूसिऊण चंदद्धचंदबुब्बुयवरायलाईहिं ।
मुत्तादामेहिं तहा किंकिणिजालेहिं विविहेहिं ॥३९९॥
छत्तेहिं चामरेहिं य दप्पण-भिंगार-तालवट्टेहिं ।
कलसेहि पुप्फवडिलिय-सुपइट्ठय-दीवणिवहेहिं ॥४००॥
एवं रयणं काऊण तओ अब्भंतरम्मि भागम्मि ।
रइऊण विविहभंडेहिं वेइयं चउसु कोणेसु ॥४०१॥

आठ-दस हाथ प्रमाण लम्बी चौड़ी भूमिको यतनाके साथ भले प्रकार शुद्ध करके उसके ऊपर तत्प्रमाण मंडप बनाना चाहिए। वह मंडप चार तोरणोंसे और चार द्वारोंसे सुशोभित हो, नाना प्रकारके वस्त्रोंसे विभूपित हो, जिसपर ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही हों, जो नाना पुष्पोपहारोंसे युक्त हो, जिसमें पुष्प-मालाएँ लटक रही हों, जिसके दरवाजे वंदन-मालाओंसे विभूपित हों जो द्वारके ऊपर दोनों कोनोंमें जल-परिपूर्ण कलशोंसे रमणीक हो। उस मंडपके बहुमध्यदेशमें अर्थात् ठीक बीचोंबीच प्रतिष्ठाशास्त्रमें कहे हुए प्रमाणसे समचतुरस्र अर्थात् चौकोण पीठ (चबूतरा) बनाकर और उसे सर्वत्र समान करके, चारों ही दिशाओंमें तोरण और वंदनमालाओंसे संयुक्त द्वारोंको बनाकर, तथा कोनोंमें दृढ़, मजबूत और स्थिर नंद्यावर्त बनाकर, चीनपट्ट (चाइना सिल्क), कोशा आदि नाना प्रकारके नेत्राकर्षक वस्त्रोंसे निर्मित चन्द्रकान्तमणि तुल्य चतुष्कोण चँदोवेको तानकर, चन्द्र, अर्धचन्द्र, बुद्बुद, वराटक (कौड़ी) आदिसे तथा मोतियोंकी मालाओंसे, नाना प्रकारकी छोटी घंटियोंके समूहसे, छत्रोंसे, चमरोंसे, दर्पणोंसे, भृङ्गारोंसे, तालवृन्तोंसे, कलशोंसे, पुष्प-पटलोंसे सुप्रतिष्ठक (स्वस्तिक) और दीप-समूहोंसे आभूषित करे। इस प्रकारकी रचना करके पुनः उस चबूतरेके आभ्यन्तर भागमें चारों कोणोंमें विविध भाँड़ों (बर्तनों) से वेदिका बनाना चाहिए ॥ ३९३–४०१ ॥

इंदो तह दायारो पासुयसलिलेण धारणादियहे[1] ।
पक्खालिऊण देहं पच्छा भोत्तूण महुरण्णं ॥४०२॥
उववासं पुण पोसहविहिणा गहिऊण गुरुसयासम्मि ।
णव-धवलवत्थभूसो सिरिखंडविलित्तसव्वंगो ॥४०३॥
आहरण-वासियाईहिं भूसियंगो सगं सबुद्धीए ।
सक्कोहमिइ वियप्पिय विसेज्ज जागावणिं इंदो ॥४०४॥

धारणाके दिन अर्थात् प्रतिष्ठा करते समय उपवास ग्रहण करनेके पहले इन्द्र (प्रतिष्ठाचार्य) और दातार (प्रतिष्ठा-कारापक) प्रासुक जलसे देहको प्रक्षालन कर अर्थात् स्नान कर तत्पश्चात् मधुर अन्नको खाकर, पुनः गुरुके पासमें प्रोपधविधिसे उपवासको ग्रहणकर, नवीन उज्ज्वल श्वेत वस्त्रोंसे विभूषित हो, श्रीखंड चन्दनसे सर्व अंगको लिप्त कर, आभरण और वासिका (सुगंधित द्रव्य या चूर्ण आदि)से विभूषित-अंग होकर, अपने आपको अपनी बुद्धिसे मैं इन्द्र हूँ, ऐसा संकल्प करके वह इन्द्र (और प्रतिष्ठाकारक) यज्ञावनि अर्थात् प्रतिष्ठामंडपमें प्रवेश करे ॥ ४०२–४०४ ॥

पुव्वुत्तवेइमज्झे लिहेज्ज चुण्णेण पंचवण्णेण[2] ।
पिहुकण्णियं पइट्ठाकलावविहिणा सुकंदुत्थं[3] ॥४०५॥

१ इ दियहं, झ ध दियहे, ब प दियहो। २ *पंचवर्णचूर्ण*-श्वेतमुक्ताचूर्ण, पीत-हारिद्रपीतमणिचूर्ण, हरित्-वैडर्यरत्नचूर्ण, रक्त-माणिक्य-ताम्रमणिचूर्ण, कृष्ण-गरुत्मणिचूर्ण, (वसुविन्दु प्रतिष्ठापाठ)। ३ इ झ ध फ सुकंदुट्ठं, ब सुकंदुट्टं। नीलोत्पलमित्यर्थः।

रंगावलिं च मज्झे ठविज्ज सियवत्थपरिवुडं पीठं ।
उचिदेसु तह पइट्ठोवयरणदव्वं च ठावेसु ॥४०६॥

प्रतिष्ठा-मंडपमें जाकर तत्रस्थ पूर्वोक्त वेदिकाके मध्यमें पंच वर्णवाले चूर्णके द्वारा प्रतिष्ठाकलापकी विधिसे पृथु अर्थात् विशाल कर्णिकावाले नील कमलको लिखे और उसमें रंगावलिको भरकर उसके मध्यमें श्वेत वस्त्रसे परिवृत पीठ अर्थात् सिंहासन या ठौनाको स्थापित कर तथा प्रतिष्ठामें आवश्यक उपकरण द्रव्य उचित स्थानोंपर रखे ॥ ४०५–४०६ ॥

एवं काऊण तओ ईसाणदिसाए वेइयं दिव्वं ।
रइऊण ण्हवणपीठं तिस्से मज्झम्मि ठावेज्जो ॥४०७॥
अरुहाईणं पडिमं विहिणा संठाविऊण तस्सुवरिं ।
धूलीकलसहिसेयं कराविए सुत्तहारेण ॥४०८॥
वत्थादियसम्माणं कायव्वं होदि तस्स सत्तीए ।
***पोक्खणविहिं च मंगलरवेण कुज्जा तओ कमसो ॥४०९॥**

इस प्रकार उपर्युक्त कार्य करके पुनः ईशान दिशामें एक दिव्य वेदिका रचकर, उसके मध्यमें एक स्नान-पीठ अर्थात् अभिषेकार्थ सिंहासन या चौकी वगैरहको स्थापित करे। और उसके ऊपर विधिपूर्वक अरहंत आदिकी प्रतिमाको स्थापित कर सूत्रधार अर्थात् प्रतिमा बनानेवाले कारीगरके द्वारा धूलीकलशाभिषेक करावे। तत्पश्चात् उस सूत्रधारका अपनी शक्तिके अनुसार वस्त्रादिकसे सन्मान करना चाहिए। तत्पश्चात् क्रमशः प्रोक्षणविधिको मांगलिक वचन गीतादिसे करे। (धूलीकलशाभिषेक और प्रोक्षणविधिके जाननेके लिए परिशिष्ट देखिए) ॥ ४०७–४०९ ॥

तप्पाओग्गुवयरणं अप्पसमीवं णिविसिऊण तओ ।
आगरसुद्धिं कुज्जा पइट्ठसत्थुत्तमग्गेण ॥४१०॥

तत्पश्चात् आकर-शुद्धिके योग्य उपकरणोंको अपने समीप रखकर प्रतिष्ठाशास्त्रमें कहे हुए मार्गके अनुसार आकर शुद्धिको करे। (आकरशुद्धिके विशेष स्वरूपको जाननेके लिए परिशिष्ट देखिए) ॥ ४१० ॥

एवं काऊण तओ खुहियसमुद्दोव्व गज्जमाणेहिं ।
वरभेरि-करड-काहल-जय-घंटा-संख-णिवहेहिं ॥४११॥
गुलुगुलुगुलंत तविलेहिं कंसतालेहिं झमझमंतेहिं ।
घुम्मंत पडह-मद्दल[1]-हुडुक्कमुक्खेहिं विविहेहिं ॥४१२॥
गिज्जंत संधिबंधाइएहिं गेएहिं[2] बहुपयारेहिं ।
वीणावंसेहिं तहा आणायसद्देहिं रम्मेहिं ॥४१३॥
बहुहाव-भाव-विब्भम-विलास-कर-चरण-तणुवियारेहिं ।
णच्चंत णवरसुब्भिण्ण-णाडएहिं विविहेहिं ॥४१४॥
थोत्तेहि मंगलेहि य उच्छाहसएहि महुरवयणस्स ।
धम्माणुरायरत्तस्स चाउव्वण्णस्स संघस्स ॥४१५॥
भत्तीए पिच्छमाणस्स तओ उच्चाइऊण जिणपडिमं ।
उस्सिय[3]सियायवत्तं सियचामरधुव्वमाण[4]सव्वंगं ॥४१६॥
आरोविऊण सीसे काऊण पयाहिणं जिणगेहस्स ।
विहिणा ठविज्ज पुव्वुत्तवेइयामज्झपीठम्मि ॥४१७॥

१ ब. मंद्दल। २ इ. गएहिं, ब. गोएहिं। ३ ब. उब्भिय। ४ इ. दोलिमाण०।

चिट्ठेज्ज जिणगुणारोवणं कुणंतो जिणिंदपडिबिंबे ।
इट्ठविलग्गस्सुदए चंदणतिलयं तश्रो दिज्जा ॥४१८॥
सव्वावयवेसु पुणो मंतण्णासं कुणिज्ज पडिमाए ।
विविहच्चणं च कुज्जा कुसुमेहिं बहुप्पयारेहिं ॥४१६॥
दाऊण मुहपडं धवलवत्थजुयलेण मयणफलसहियं ।
अक्खय-चरु-दीवेहि य धूवेहिं फलेहिं विविहेहिं ॥४२०॥
बलिवत्तिएहिं जावारएहि[1] य सिद्धत्थपण्णरुक्खेहिं ।
पुव्वुत्तुवयरणेहि य[2] रएज्ज पुज्जं सविहवेण ॥४२१॥

इस प्रकार आकरशुद्धि करके पुनः क्षोभित हुए समुद्रके समान गर्जना करते हुए उत्त-मोत्तम भेरी, करड, काहल, जयजयकार शब्द, घंटा और शंखोंके समूहोंसे, गुल-गुल शब्द करते हुए तबलोंसे, झम-झम शब्द करते हुए कंसतालोंसे, घुम-घुम शब्द करते हुए नाना प्रकार-के ढोल, मृदंग, हुड्डुक्क आदि मुख्य-मुख्य बाजोंसे, सुर-आलाप करते हुए संधिबँधादिकोंसे अर्थात् सारंगी आदिसे, और नाना प्रकारके गीतोंसे, सुरम्य वीणा, बाँसुरीसे तथा सुन्दर आणक अर्थात् वाद्यविशेषके शब्दोंसे नाना प्रकारके हाव, भाव, विभ्रम, विलास तथा हाथ, पैर और शरीरके विकारोंसे अर्थात् विविध नृत्योंसे नाचते हुए नौ रसोंको प्रकट करनेवाले नाना नाटकों-से, स्तोत्रोंसे, मांगलिक शब्दोंसे, तथा उत्साह-शतोंसे अर्थात् परम उत्साहके साथ मधुरभाषी, धर्मानुराग-रक्त और भक्तिसे उत्सवको देखनवाले चातुर्वर्ण संघके सामने, जिसके ऊपर श्वेत आतपत्र (छत्र) तना है, और श्वेत चामरोंके ढोरनेसे व्याप्त है सर्व अंग जिसका, ऐसी जिन-प्रतिमाको वह प्रतिष्ठाचार्य अपने मस्तकपर रखकर और जिनेन्द्रगृहकी प्रदक्षिणा करके, पूर्वोक्त वेदिकाके मध्य-स्थित सिंहासनपर विधिपूर्वक प्रतिमाको स्थापित कर, जिनेन्द्र-प्रति-बिम्बमें अर्थात् जिन-प्रतिमामें जिन-भगवान्के गुणोंका आरोपण करता हुआ, पुनः इष्ट लग्नके उदयमें अर्थात् शुभ मुहूर्तमें प्रतिमाके चन्दनका तिलक लगावे। पुनः प्रतिमाके सर्व अंगोपांगों-में मंत्रन्यास करे और विविध प्रकारके पुष्पोंसे नाना पूजनोंको करे। तत्पश्चात् मदनफल (मैनफल या मैनार) सहित धवल वस्त्र-युगलसे प्रतिमाके मुखपट देकर अर्थात् वस्त्रसे मुखको आवृत कर, अक्षत, चरु, दीपसे, विविध धूप और फलोंसे, बलि-वर्त्तिकोंसे अर्थात् पूजार्थ निर्मित अगरबत्तियोंसे जावारकोंसे, सिद्धार्थ (सरसों) और पर्ण वृक्षोंसे तथा पूर्वोक्त उपकरणोंसे पूर्ण वैभवके साथ या अपनी शक्तिके अनुसार पूजा रचे ॥४११–४२१॥

रत्तिं जग्गिज्ज[3] पुणो तिसट्ठि[4]सलायपुरिसकुकहाहिं ।
संघेण समं पुज्जं पुणो वि कुज्जा पहायम्मि ॥४२२॥

पुनः संघके साथ तिरेसठ शलाका पुरुषोंकी सुकथालापोंसे रात्रिको जगे अर्थात् रात्रि-जागरण करे और फिर प्रातःकाल संघके साथ पूजन करे ॥४२२॥

एवं चत्तारि दिणाणि जाव कुज्जा तिसंझ जिणपूजा ।
*णेत्तुम्मीलणपुज्जं चउत्थण्हवणं तश्रो कुज्जा ॥४२३॥

इस प्रकार चार दिन तक तीनों संध्याओंमें जिन-पूजन करे। तत्पश्चात् नेत्रोन्मीलन पूजन और चतुर्थ अभिषेक करे ॥४२३॥

१ म. जुवारेहिं। २ ध. प. परए। ३ ब. ब. जग्गेज्ज। प. जग्गेज, ४ ब. तेसट्ठि।

*विदध्यात्तेन गन्धेन चामीकरशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलनं शक्रः पूरकेन शुभोदये ॥४१८॥—वसुबिन्दुप्रतिष्ठापाठ

एवं ण्हवणं काऊण सत्थमग्गेण संघमज्झम्मि ।
तो वक्खमाणविहिणा जिणपयपूया य कायव्वा ॥४२४॥

इस प्रकार शास्त्रके अनुसार संघके मध्यमें जिनाभिषेक करके आगे कही जानेवाली विधिसे जिनेन्द्र भगवान्‌के चरण-कमलोंकी पूजा करना चाहिए ॥४२४॥

गहिऊण सिसिरकर-किरण-णियर-धवलयर-रययभिंगारं ।
मोत्तिय-पवाल-मरगय-सुवण्ण-मणि खचिय[1]वरकंठं ॥४२५॥
सयवत्त-कुसुम[2] कुवलय-रजपिंजर-सुरहि-विमल-जलभरियं ।
जिणचरण-कमलपुरओ खिविज्जि ओ तिण्णि धाराओ ॥४२६॥

मोती, प्रवाल, मरकत, सुवर्ण और मणियोंसे जटित श्रेष्ठ कण्ठवाले, शतपत्र (रक्त कमल) कुसुम, और कुवलय (नील कमल) के परागसे पिंजरित एवं सुरभित विमल जलसे भरे हुए शिशिरकर (चन्द्रमा) की किरणोंके समूहसे भी अति धवल रजत (चांदी) के भृङ्गार (झारी) को लेकर जिनभगवान्‌के चरण-कमलोंके सामने तीन धाराएँ छोड़ना चाहिए। ॥ ४२५–४२६ ॥

कप्पूर-कुंकुमायरु-तुरुक्कमीसेण चंदणरसेण ।
वरवहलपरिमलामोयवासियासासमूहेण ॥४२७॥
वासाणुमग्गसंपत्तमुइयमत्तालिरावमुहलेण ।
सुरमउडघिट्टचलणं[3] भत्तीए समलहिज्ज जिणं ॥४२८॥

कपूर, कुंकुम, अगर, तगरसे मिश्रित, सर्वश्रेष्ठ विपुल परिमल (सुगन्ध) के आमोदसे आशासमूह अर्थात् दशों दिशाओंको आवासित करनेवाले और सुगन्धिके मार्गके अनुकरणसे आये हुए प्रमुदित एवं मत्त भ्रमरोंके शब्दोंसे मुखरित, चंदनरसके द्वारा, (निरन्तर नमस्कार किये जानेके कारण) सुरोंके मुकुटोंसे जिनके चरण घिस गये हैं, ऐसे श्रीजिनेन्द्रकी भक्तिसे विलेपन करे ॥४२७–४२८॥

ससिकंतखंडविमलेहिं विमलजलसित्त अइ[4]सुयंधेहिं ।
जिणपडिमपइट्ठयज्जियविसुद्धपुण्णंकुरेहिं व ॥४२९॥
वर कलम-सालितंडुलचएहिं सुखंडिय[5] दीहसयलेहिं ।
मणुय-सुरासुरमहियं पुज्जिज्ज जिणिंदपयजुयलं ॥४३०॥

चन्द्रकान्तमणिके खंड समान निर्मल, तथा विमल (स्वच्छ) जलसे धोये हुए और अतिसुगंधित, मानों जिनप्रतिमाकी प्रतिष्ठासे उपार्जन किये गये विशुद्ध पुण्यके अंकुर ही हों, ऐसे अखंड और लंबे उत्तम कलमी और शालिधान्यसे उत्पन्न तन्दुलोंके समूहसे, मनुष्य सुर और असुरोंके द्वारा पूजित श्रीजिनेन्द्रके चरण-युगलको पूजे ॥४२९–४३०॥

मालइ-कयंब-कणयारि-चंपयासोय-वउल-तिलएहिं ।
मंदार-णायचंपय-पउमुप्पल-सिंदुवारेहिं ॥४३१॥
कणवीर-मल्लियाहिं[6] कचणार-मचकुंद-किंकराएहिं ।
सुरवणज[7] जूहिया-पारिजा[8]य-जासवण-टगरेहिं ॥४३२॥
सोवण्ण-रुप्पि-मेहिय[9]-मुत्तादामेहिं बहुवियप्पेहिं ।
जिणपय-पंकयजुयलं पुज्जिज्ज सुरिंदसयमहियं ॥४३३॥

---

१ ब. खविय । २ ध. प. कमल । ३ म. चरणं । ४ झ. मिउ । ५ ब. सुछडिय । ६ ध. प. मल्लिया । ७ झ. ब. ध. प. सुरपुण्ण । ८ ध. प. पारियाय । ९ ब. सेहिय । (निवृत्त इत्यर्थः)

मालती, कदम्ब, कर्णकार (कनैर), चंपक, अशोक, बकुल, तिलक, मन्दार, नाग-चम्पक, पद्म (लाल कमल), उत्पल (नीलकमल), सिंदुवार (वृक्षविशेष या निर्गुण्डी), कर्ण-वीर (कर्नेर) मल्लिका, कचनार, मचकुन्द, किंकरात (अशोक वृक्ष), देवोंके नन्दन-वनमें उत्पन्न होनेवाले कल्पवृक्ष, जुही, पारिजातक, जपाकुसुम, और तगर (आदि उत्तम वृक्षोंसे उत्पन्न) पुष्पोंसे, तथा सुवर्ण, चाँदीसे निर्मित फूलोंसे और नाना प्रकारके मुक्ताफलों-की मालाओंके द्वारा, सौ जातिके इन्द्रोंसे पूजित जिनेन्द्रके पद-पंकज-युगलको पूजें ॥४३१-४३३॥

दहि-दुद्ध-सप्पिमिस्सेहिं कलमभत्तेहिं बहुप्पयारेहिं ।
तेवट्ठि-विंजणेहिं य बहुविहपक्कण्णभेएहिं ॥४३४॥
रुप्पय-सुवण्ण-कंसाइथालिणिहिएहिं विविहभक्खेहिं ।
पुज्जं वित्थारिज्जो भत्तीए जिणिंदपयपुरओ ॥४३५॥

चाँदी, सोना और काँसे आदिकी थालियोंमें रखे हुए दही, दूध और घीसे मिले हुए नाना प्रकारके चाँवलोंके भातसे, तिरेसठ प्रकारके व्यंजनोंसे, तथा नाना प्रकारकी जातिवाले पकवानोंसे और विविध भक्ष्य पदार्थोंसे भक्तिके साथ जिनेन्द्र-चरणोंके सामने पूजाको विस्तारे अर्थात् नैवेद्यसे पूजन करे ॥४३४-४३५॥

दीवेहिं णियपहोहामियक्क[1]तेएहि धूमरहिएहिं ।
मंदं चलमंदाणिलवसेण णच्चंत अच्चीहिं ॥४३६॥
घणपडलकम्मणिवहव्व दूर[2]मवसारियंधयारेहिं ।
जिणचरणकमलपुरओ कुणिज्ज रयणं सुभत्तीए ॥४३७॥

अपने प्रभासमूहसे अमित (अगणित) सूर्योंके समान तेजवाले, अथवा अपने प्रभा-पुञ्जसे सूर्यके तेजको भी तिरस्कृत या निराकृत करनेवाले, धूम-रहित, तथा धीरे-धीरे चलती हुई मन्द वायुके वशसे नाचती हुई शिखाओंवाले, और मेघ-पटलरूप कर्म-समूहके समान दूर भगाया है अंधकारको जिन्होंने, ऐसे दीपकोंसे परमभक्तिके साथ जिन-चरण-कमलोंके आगे पूजनकी रचना करे, अर्थात् दीपसे पूजन करे ॥४३६-४३७॥

कालायरु-णह-चंदह-कप्पूर[3]-सिल्हारसाइदव्वेहिं[4] ।
णिप्पण्णधूमवत्तीहिं[5]परिमलाय[6]त्तियालीहिं ॥४३८॥
उग्गसिहादेसियसग्ग-मोक्खमग्गेहि बहलधूमेहिं ।
धूविज्ज जिणिंदपयारविंदजुयलं सुरिंदणुयं ॥४३९॥

कालागुरु, अम्बर, चन्द्रक, कर्पूर, शिलारस (शिलाजीत) आदि सुगंधित द्रव्योंसे बनी हुई, जिसकी सुगन्धसे लुब्ध होकर भ्रमर आ रहे हैं, तथा जिसकी ऊँची शिखा मानों स्वर्ग और मोक्षका मार्ग ही दिखा रही है, और जिसमेंसे बहुतसा धुआँ निकल रहा है, ऐसी धूपकी बत्तियों-से देवेन्द्रोंसे पूजित श्री जिनेन्द्रके पादारविंद-युगलको धूपित करे, अर्थात् उक्त प्रकारकी धूपसे पूजन करे ॥४३८-४३९॥

जंबीर-मोच-दाडिम-कवित्थ[7]-पणस-णालिएरेहिं ।
हिंताल-ताल-खज्जूर-णिंबु-नारंग-चारेहिं[8] ॥४४०॥
पूईफल-तिंदु-आमलय-जंबु-विल्लाइसुरहिमिट्ठेहिं ।
जिणपयपुरओ रयणं फलेहि कुज्जा सुपक्केहिं ॥४४१॥

१ निराकृत इत्यर्थः । २ प. ब. ध. मुवसा० । ३ झ. ब. तुरुक्क । ४ फ. ब. दिव्वेहिं । ५ प. वत्ताहिं । ६ इ. पंति०, झ. यट्टि०, ब. यड्डि० । ७ ब. कपिह । ८ झ. वारेहि ।

जंबीर (नीबू विशेष), मोच (केला), दाडिम (अनार), कपित्थ (कवीट या कैंथा), पनस, नारियल, हिंताल, ताल, खजूर, निम्ब्र, नारंगी, अचार (चिरोंजी), पूगीफल (सुपारी), तेन्दु, आँवला, जामुन, विल्वफल आदि अनेक प्रकारके सुगंधित, मिष्ट और सुपक्व फलोंसे जिन-चरणोंके आगे रचना करे अर्थात् पूजन करे। ॥४४०–४४१॥

अट्ठविहमंगलाणि य बहुविहपूजोवयरणदव्वाणि ।
धूवदहणाइ[1] तहा जिणपूयत्थं[2] वितीरिज्जा ॥४४२॥

आठ प्रकारके मंगल-द्रव्य, और अनेक प्रकारके पूजाके उपकरण द्रव्य, तथा धूप-दहन (धूपायन) आदि जिन-पूजनके लिए वितरण करे ॥४४५॥

एवं चलपडिमाए ठवणा भणिया थिराए एमेव ।
णवरिविसेसो आगरसुद्धिं कुज्जा सुठाणम्मि ॥४४३॥
चित्तपडिलेवपडिमाए दप्पणं दाविऊण पडिबिंबे[3] ।
तिलयं दाऊण तओ मुहवत्थं दिज्ज पडिमाए ॥४४४॥
आगरसुद्धिं च करेज्ज दप्पणे अह व अण्णपडिमाए ।
एत्तियमेत्तविसेसो सेसविही जाण पुव्वं व ॥४४५॥

इस प्रकार चलप्रतिमाकी स्थापना कही गई है, स्थिर या अचल प्रतिमाकी स्थापना भी इसी प्रकार की जाती है। केवल इतनी विशेषता है कि आकरशुद्धि स्वस्थानमें ही करे। (भित्ति या विशाल पाषाण और पर्वत आदिपर) चित्रित अर्थात् उकेरी गई, प्रतिलेपित अर्थात् रंग आदिसे बनाई या छापी गई प्रतिमाका दर्पणमें प्रतिबिम्ब दिखाकर और मस्तकपर तिलक देकर तत्पश्चात् प्रतिमाके मुखवस्त्र देवे। आकरशुद्धि दर्पणमें करे अथवा अन्य प्रतिमामें करे। इतना मात्र ही भेद है, अन्य नहीं। शेषविधि पूर्वके समान ही जानना चाहिए ॥४४३–४४५॥

एवं चिरंतणाणं पि कट्टिमाकट्टिमाण पडिमाणं ।
जं कीरइ बहुमाणं ठवणापुज्जं हि तं जाण ॥४४६॥

इसी प्रकार चिरन्तन अर्थात् अत्यन्त पुरातन कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिमाओंका भी जो बहुत सम्मान किया जाता है, अर्थात् पुरानी प्रतिमाओंका जीर्णोद्धार, अविनय आदिसे रक्षण, मेला, उत्सव आदि किया जाता है, वह सब स्थापना पूजा जानना चाहिए ॥४४६॥

जे पुव्वसमुद्दिट्ठा ठवणापूयाए पंच अहियारा ।
चत्तारि तेसु भणिया अवसाणे पंचमं भणिमो ॥४४७॥

स्थापना-पूजाके जो पाँच अधिकार पहले (गाथा नं० ३८९ में) कहे थे, उनमेसे आदिके चार अधिकार तो कह दिये गये हैं, अवशिष्ट एक पूजाफल नामका जो पंचम अधिकार है, उसे इस पूजन अधिकारके अन्तमें कहेंगे ॥४४७॥

द्रव्य-पूजा

दव्वेण य दव्वस्स य जा पूजा जाण दव्वपूजा सा ।
दव्वेण गंध-सलिलाइपुव्वभणिएण कायव्वा ॥४४८॥

जलादि द्रव्यसे प्रतिमादि द्रव्यकी जो पूजा की जाती है, उसे द्रव्य पूजा जानना चाहिए। वह द्रव्यसे अर्थात् जल-गंध आदि पूर्वमें कहे गये पदार्थ-समूहसे (पूजन-सामग्रीसे) करना चाहिए ॥४४८॥

---

१ झ. ब. भूयाणाईहि । २ झ. ब. पूयट्ठं । ३ ब. बिंबो ।

जलगंधादिकैर्द्रव्यैः पूजनं द्रव्यपूजनम् ।
द्रव्यस्याप्यथवा पूजा सा तु द्रव्यार्चना मता ॥२१६॥—गुण० श्रा०

तिविहा दव्वे पूजा सच्चित्ताचित्तमिस्सभेएण ।
पच्चक्खजिणाईणं सचित्तपूजा[1] जहाजोग्गं ॥४४९॥
तेसिं च सरीराणं दव्वसुदस्स वि अचित्तपूजा सा ।
जा[2] पुण दोण्हं कीरइ णायव्वा मिस्सपूजा सा ॥४५०॥(१)

द्रव्य-पूजा, सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारकी है। प्रत्यक्ष उपस्थित जिनेन्द्र भगवान् और गुरु आदिका यथायोग्य पूजन करना सो सचित्तपूजा है। उनके अर्थात् जिन, तीर्थंकर आदिके, शरीरकी, और द्रव्यश्रुत अर्थात् कागज आदिपर लिपिबद्ध शास्त्रकी जो पूजा की जाती है, वह अचित्त पूजा है। और जो दोनोंका पूजन किया जाता है वह मिश्रपूजा जानना चाहिए ॥४४९-४५०॥

अहवा आगम-णोआगमाइभेएण बहुविहं दव्वं ।
णाऊण दव्वपूजा कायव्वा सुत्तमग्गेण ॥४५१॥

अथवा आगमद्रव्य, नो आयमद्रव्य आदिके भेदसे अनेक प्रकारके द्रव्यनिक्षेपको जानकर शास्त्र-प्रतिपादित मार्गसे द्रव्यपूजा करना चाहिए ॥४५१॥

क्षेत्र-पूजा

जिणजम्मण-णिक्खमणे णाणुप्पत्तीए तित्थचिण्हेसु ।
णिसिहीसु खेत्तपूजा पुव्वविहाणेण कायव्वा ॥४५२॥(२)

जिन भगवान्‌की जन्मकल्याणकभूमि, निष्क्रमणकल्याणकभूमि, केवलज्ञानोत्पत्ति-स्थान, तीर्थचिह्न स्थान और निषीधिका अर्थात् निर्वाण-भूमियोंमें पूर्वोक्त विधानसे क्षेत्रपूजा करना चाहिए, अर्थात् यह क्षेत्रपूजा कहलाती है ॥४५२॥

काल-पूजा

गब्भावयार-जम्माहिसेय-णिक्खमण-णाण-णिव्वाणं ।
जम्हि दिणे संजादं[3] जिणण्हवणं तद्दिणे कुज्जा ॥४५३॥
इच्छुरस-सप्पि-दहि-खीर-गंध-जलपुण्णविविहकलसेहिं ।
णिसिजागरणं च संगीय-णाडयाईहिं कायव्वं ॥४५४॥
णंदीसरट्ठदिवसेसु तहा अण्णेसु उचियपव्वेसु ।
जं कीरइ जिणमहिमं विण्णेया कालपूजा सा ॥४५५॥(३)

जिस दिन तीर्थङ्करोंके गर्भावतार, जन्माभिषेक, निष्क्रमणकल्याणक, ज्ञानकल्याणक और निर्वाणकल्याणक हुए हैं, उस दिन इक्षुरस, घृत, दधि, क्षीर, गंध और जलसे परिपूर्ण विविध अर्थात् अनेक प्रकारके कलशोंसे, जिन भगवान्‌का अभिषेक करे तथा संगीत, नाटक आदिके द्वारा जिनगुणगान करते हुए रात्रि-जागरण करना चाहिए। इसी प्रकार नन्दीश्वर

---

१ ब. ध. पुज्जा। २ ध. जो। ३ प. ध. संजायं।

(१) चेतनं वाऽचेतनं वा मिश्रद्रव्यमिति त्रिधा ।
साक्षाज्जिनादयो द्रव्यं चेतनाख्यं तदुच्यते ॥२२०॥
तद्वपुर्द्रव्यं शास्त्रं वाऽचित्तं मिश्रं तु तद्द्वयम् ।
तस्य पूजनतो द्रव्यपूजनं च त्रिधा मतम् ॥२२१॥

(२) जन्म-निःक्रमणज्ञानोत्पत्तिक्षेत्रे जिनेशिनाम् ।
निषिध्यास्वपि कर्त्तव्या क्षेत्रे पूजा यथाविधि ॥२२२॥

(३) कल्याणपंचकोत्पत्तिर्यस्मिन्नन्हि जिनेशिनाम् ।
तदन्हि स्थापना पूजाऽवश्यं कार्या सुभक्तितः ॥२२३॥
पर्वण्यष्टाह्निकेऽन्यस्मिन्नपि भक्त्या स्वशक्तितः ।
महामहविधानं यत्तत्कालार्चनमुच्यते ॥२२४॥—गुण० श्रा०

पर्वके आठ दिनोंमें तथा अन्य भी उचित पर्वोंमें जो जिन-महिमा की जाती है, वह कालपूजा जानना चाहिए ॥४५३–४५५॥

भाव-पूजा

काऊणाणंतचउट्ठयाइगुणकित्तणं जिणाईणं ।
जं वंदणं तियालं कीरइ भावच्चणं तं खु ॥४५६॥
पंचणमोक्कारपएहिं अहवा जावं कुणिज्ज सत्तीए[1] ।
अहवा जिणिंदथोत्तं वियाण भावच्चणं तं पि ॥४५७॥
पिंडत्थं च पयत्थं रूवत्थं रूववज्जियं अहवा ।
जं झाइज्जइ झाणं भावमहं तं विणिद्दिट्ठं ॥४५८॥(१)

परम भक्तिके साथ जिनेन्द्रभगवान्के अनन्तचतुष्टय आदि गुणोंका कीर्त्तन करके जो त्रिकाल वंदना की जाती है, उसे निश्चयसे भावपूजा जानना चाहिए ॥४५६॥ अथवा पंच णमोकार पदोंको द्वारा अपनी शक्तिके अनुसार जाप करे। अथवा जिनेन्द्रके स्तोत्र अर्थात् गुणगान करनेको भावपूजन जानना चाहिए ॥४५७॥ अथवा पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत रूप जो चार प्रकारका ध्यान किया जाता है, उसे भी भावपूजा कहा गया है ॥४५८॥

पिंडस्थ-ध्यान

सियकिरणविप्फुरंतं अट्ठमहापाडिहेरपरियरियं ।
झाइज्जइ जं णिययं[2] पिंडत्थं जाण तं झाणं ॥४५९॥(२)

श्वेत किरणोंसे विस्फुरायमान, और अष्ट महाप्रातिहार्योंसे परिवृत (संयुक्त) जो निजरूप अर्थात् केवली तुल्य आत्मस्वरूपका ध्यान किया जाता है, उसे पिंडस्थ ध्यान जानना चाहिए ॥४५९॥

अहवा णाहिं च वियप्पिऊण[3] मेरुं अहोविहायम्मि ।
झाइज्ज[4] अहोलोयं तिरियम्मं तिरियए बीए ॥४६०॥
उड्ढम्मि उड्ढलोयं कप्पविमाणाणि संधपरियंते[5] ।
गेविज्जमया गीवं अणुद्दिसं हणुपएसम्मि ॥४६१॥
विजयं च वइजयंतं जयंतमवराजियं च सव्वत्थं ।
झाइज्ज मुहपएसे णिलाडदेसम्मि सिद्धसिला ॥४६२॥(३)

---

१ म. सुभत्तीए। २ म. णियरूवं। ३ इ. वियप्पेऊण। ४ इ. झाइज्जइ। ५ ध. परेयंतं प. परियंतं।

(१) स्मृत्वानन्तगुणोपेतं जिनं सन्ध्यात्रयेऽर्चयेत् ।
वन्दना क्रियते भक्त्या तद्भावार्चनमुच्यते ॥२२५॥
जाप्यः पंचपदानां वा स्तवनं वा जिनेशिनः ।
क्रियते यद्यथाशक्तिस्तद्वा भावार्चनं मतम् ॥२२६॥
पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।
तद्ध्यानं ध्यायते यद्वा भावपूजेति सम्मतम् ॥२२७॥

(२) शुद्धस्फटिकसंकाशं प्रातिहार्याष्टकान्वितम् ।
यद् ध्यायतेऽर्हतो रूपं तद् ध्यानं पिण्डसंज्ञकम् ॥२२८॥
अधोभागमधोलोकं मध्यांशं मध्यमं जगत् ।
नाभौ प्रकल्पयेन्मेरुं स्वर्गाणां स्कन्धमूर्ध्वतः ॥२२९॥

(३) ग्रैवेयका स्वग्रीवायां हन्वामनुदिशान्यपि ।
विजयाद्यान् खं पंच सिद्धस्थानं ललाटके ॥२३०॥
मूर्ध्नि लोकाग्रमित्येवं लोकत्रितयसन्निभम् ।
चिन्तनं यत्स्वदेहस्थं पिण्डस्थं तदपि स्मृतम् ॥२३१॥—गुण० श्राव०

तस्सुवरि सिद्धणिलयं जह सिहरं जाण उत्तमंगम्मि ।
एवं जं णियदेहं झाइज्जइ तं पि पिंडत्थं ॥४६३ ॥

अथवा, अपने नाभिस्थानमें मेरुपर्वतकी कल्पना करके उसके अधोविभागमें अधोलोकका ध्यान करे, नाभिपार्श्ववर्ती द्वितीय तिर्यग्विभागमें तिर्यग्लोकका ध्यान करे। नाभिसे ऊर्ध्वभागमें ऊर्ध्वलोकका चिन्तवन करे? स्कन्धपर्यन्त भागमें कल्पविमानोंका, ग्रीवास्थानपर नवग्रैवेयकोंका, हनुप्रदेश अर्थात् ठोड़ीके स्थानपर नव अनुदिशोंका, मुखप्रदेशपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धिका ध्यान करे। ललाट देशमें सिद्धशिला, उसके ऊपर उत्तमांगमें लोकशिखरके तुल्य सिद्धक्षेत्रको जानना चाहिए। इस प्रकार जो निज देहका ध्यान किया जाता है, उसे भी पिंडस्थ ध्यान जानना चाहिए ॥४६०–४६३॥

पदस्थ-ध्यान

जं झाइज्जइ उच्चारिऊण परमेट्ठिमंतपयममलं ।
एयक्खरादि विविहं पयत्थझाणं मुणेयव्वं ॥४६४॥(१)

एक अक्षरको आदि लेकर अनेक प्रकारके पंच परमेष्ठीवाचक पवित्र मंत्रपदोंका उच्चारण करके जो ध्यान किया जाता है, उसे पदस्थ ध्यान जानना चाहिए ॥४६४॥

विशेषार्थ—ओं यह एक अक्षरका मंत्र है। अर्हं, सिद्ध ये दो अक्षरके मंत्र हैं। ओं नमः यह तीन अक्षर का मंत्र है। अरहंत, अर्हं नमः, यह चार अक्षरका मंत्र है। अ सि आ उ सा यह पाँच अक्षरका मंत्र है। ओं नमः सिद्धेभ्यः यह छह अक्षरका मंत्र है। इसी प्रकार ओं, ह्रीं नमः, ॐ ह्रीं अर्हं नमः, ओं ह्रीं श्रीं अर्हं नमः, अर्हंत, सिद्ध, अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुभ्यो नमः, इत्यादि पंचपरमेष्ठी या जिन, तीर्थंकर वाचक नामपदोंका ध्यान पदस्थ ध्यानके ही अन्तर्गत है।

सुण्णं अयारपुरओ झाइज्जो उड्ढरेह-बिंदुजुयं ।
पावंधयारमहणं समंतओ फुरियसियतेयं ॥४६५॥(२)

पापरूपी अन्धकारका नाश करनेवाला और चारों ओरसे सूर्यके समान स्फुरायमान शुक्ल तेजवाला ऐसा तथा ऊर्ध्वरेफ और बिन्दुसे युक्त अकारपूर्वक हकारका, अर्थात् अर्हं इस मंत्रका ध्यान करे ॥४६५॥

अ सि आ उ सा सुवण्णा झायव्वा णंतसत्तिसंपण्णा ।
चउपत्तकमलमज्झे पढमाइकमेण णिविसिऊणं ॥४६६॥(३)

चार पत्रवाले कमलके भीतर प्रथमादि क्रमसे अनन्त शक्ति-सम्पन्न अ, सि, आ, उ, सा इन सुवर्णोंको स्थापित कर ध्यान करना चाहिए। अर्थात् कमलके मध्यभागस्थ कर्णिकामें अं (अरहंत) को, पूर्व दिशाके पत्रपर सि (सिद्ध) को, दक्षिण दिशाके पत्रपर आ (आचार्य) को पश्चिम दिशाके पत्रपर उ (उपाध्याय) को और उत्तर दिशाके पत्रपर सा (साधु) को स्थापित कर उनका ध्यान करे ॥४६६॥

ते चिय वण्णा अट्ठदल पंचकमलाण मज्झदेसेसु ।
णिसिऊण सेसपरमेट्ठि अक्खरा चउसु पत्तेसु ॥४६७॥

---

(१) एकाक्षरादिकं मंत्रमुच्चार्य परमेष्ठिनाम् ।
क्रमस्य चिन्तनं यत्तत्पदस्थध्यानसंज्ञकम् ॥२३२॥

(२) अकारपूर्वकं शून्यं रेफानुस्वारपूर्वकम् ।
पापान्धकारनिर्णाशं ध्यातव्यं तु सितप्रभम् ॥२३३॥

(३) चतुर्दलस्य पद्मस्य कर्णिकायंत्रमन्तरम् ।
पूर्वादिदिक्क्रमान्न्यस्य पदाद्यक्षरपंचकम् ॥२३४॥—गुण० श्राव०

रयणत्तय-तव-पडिमा-वण्णा णिविसिऊण सेसपत्तेसु ।
सिर-वयण-कंठ-हियए णाहिपएसम्मि झायव्वा ।।४६८।।
अहवा णिलाडदेसे पढमं बीयं विसुद्धदेसम्मि ।
दाहिणदिसाइ णिविसिऊण सेसकमलाणि झाएज्जो ।।४६९।।(१)

पुनः अष्टदलवाले कमलके मध्यदेशमें दिशासम्बन्धी चार पत्रोंपर उन्हीं वर्णोंको स्थापित करके, अथवा पंच परमेष्ठीके वाचक अन्य अक्षरोंको स्थापित करके तथा विदिशा सम्बन्धी शेष चार पत्रोंपर रत्नत्रय और तपवाचक पदोंके प्रथम वर्णोंको अर्थात् दर्शनका द, ज्ञानका ज्ञा, चारित्रका चा और तपका त इन अक्षरोंको क्रमशः स्थापित करके इस प्रकार के अष्ट दलवाले कमलका शिर, मुख, कंठ, हृदय और नाभिप्रदेश, इन पाँच स्थानोंमें ध्यान करना चाहिए। अथवा प्रथम कमलको ललाट देशमें, द्वितीय कमलको विशुद्ध देश अर्थात् मस्तकपर, और शेष कमलोंको दक्षिण आदि दिशाओंमें स्थापित करके उनका ध्यान करना चाहिए ।।४६७–४६९।।

अट्ठदलकमलमज्झे झाएज्ज णहं दुरेहबिंदुजुयं ।
सिरिपंचणमोकारेहिं वलइयं पत्तरेहासु[1] ।।४७०।।
णिसिऊण णमो अरहंताणं पत्ताइमट्ठवग्गेहिं ।
भणिऊण वेढिऊण य मायाबीएण तं तिउणं ।।४७१।।(२)

अष्ट दलवाले कमलके भीतर कर्णिकामें दो रेफ और बिन्दुसे युक्त हकारके अर्थात् 'र्ह्रं' पदको स्थापन करके कर्णिकाके बाहर पत्ररेखाओंपर पंच णमोकार पदोंके द्वारा वलय बनाकर उनमें क्रमशः 'णमो अरहंताणं' आदि पाँचों पदोंको स्थापित करके और आठों पत्रोंको आठ वर्णोंके द्वारा चित्रित करके पुनः उसे मायाबीजके द्वारा तीन बार वेष्टित करके उसका ध्यान करे ।।४७०–४७१।।

आयास-फलिहसंणिह-तणुप्पहासलिलणिहिणिब्बुडंतं ।
णर-सुरतिरीडमणिकिरणसमूहरंजियपयंबुरुहो ।।४७२।।
वरअट्ठपाडिहेरेहिं परिउट्ठो समवसरणमज्झगओ ।
परमप्पाणंतचउट्टयण्णिओ पवणमग्गट्ठो ।।४७३।।(३)

---

[1] ब. रेहेसु ।

(१) तथाष्टपत्रपद्मानां तदेवाक्षरपंचकम् ।
पूर्ववन्न्यस्य दृग्ज्ञानचारित्रतपसामपि ।।२३५।।
विदिक्पत्राद्यक्षरं न्यस्य ध्यायेन्मूर्ध्नि गले हृदि ।
नाभौ वक्त्रेऽथवा पूर्वं ललाटे मूर्ध्नि वापरम् ।।२३६।।
चत्वारि यानि पद्मानि दक्षिणादिदिशास्वपि ।
विन्यस्य चिन्तयेन्नित्यं पापनाशनहेतवः ।।२३७।।

(२) मध्येऽष्टपत्रपद्मस्य खं द्विरेफं सबिन्दुकम् ।
स्वरपंचपदावेष्ट्यं विन्यस्यास्य दलेषु तु ।।२३८।।
भृत्वा वर्गाष्टकं पत्रं प्रान्ते न्यस्यादिमं पदम् ।
मायाबीजेन संवेष्ट्यं ध्येयमेतत्सुशर्मदम् ।।२३९।।

(३) आकाशस्फटिकाभासः प्रातिहार्याष्टकान्वितः ।
सर्वामरैः सुसंसेव्योऽप्यनन्तगुणलक्षितः ।।२४०।।
नभोमार्गेऽथवोक्तेन वर्जितः क्षीरनीरधेः ।
मध्ये शशांकसंकाशनीरे जातस्थितो जिनः ।।२४१।।—गुण० श्रा०

एरिसओ च्चिय परिवारवज्जिओ खीरजलहिमज्झे वा ।
वरखीरवण्णकंदुत्थ[1] कण्णियामज्झदेसट्ठो ॥४७४॥
खीरुवहिसलिलधाराहिसेयधवलीकयंगसव्वंगो ।
जं झाइज्जइ एवं रूवत्थं जाण तं झाणं ॥४७५॥ (१)

आकाश और स्फटिकमणिके समान स्वच्छ एवं निर्मल अपने शरीरकी प्रभारूपी सलिलनिधि (समुद्र) में निमग्न, मनुष्य और देवोंके मुकुटोंमें लगी हुई मणियोंकी किरणोंके समूहसे अनुरंजित हैं चरण-कमल जिनके, ऐसे, तथा श्रेष्ठ आठ महाप्रातिहार्योंसे परिवृत, समवसरणके मध्यमें स्थित, परम अनन्त चतुष्टयसे समन्वित, पवन मार्गस्थ अर्थात् आकाशमें स्थित, अरहन्त भगवान्का जो ध्यान किया जाता है, वह रूपस्थ ध्यान है। अथवा ऐसे ही अर्थात् उपर्युक्त सर्व शोभासे समन्वित किन्तु समवसरणादि परिवारसे रहित, और क्षीरसागरके मध्यमें स्थित, अथवा उत्तम क्षीरके समान धवल वर्णके कमलकी कर्णिकाके मध्यदेशमें स्थित, क्षीरसागरके जलकी धाराओंके अभिषेकसे धवल हो रहा है सर्वांग जिनका, ऐसे अरहन्त परमेष्ठीका जो ध्यान किया जाता है, उसे रूपस्थ ध्यान जानना चाहिए ॥४७२–४७५॥

रूपातीत-ध्यान

वण्ण रस-गंध-फासेहिं वज्जिओ णाण-दंसणसरूवो ।
जं झाइज्जइ एवं तं झाणं रूवरहियं ति ॥४७६॥(२)

वर्ण, रस, गंध और स्पर्शसे रहित, केवल ज्ञान-दर्शन स्वरूप जो सिद्ध परमेष्ठीका या शुद्ध आत्माका ध्यान किया जाता है, वह रूपातीत ध्यान है ॥४७६॥

अहवा आगम-णोआगमाइ[2] भेएहिं सुत्तमग्गेण ।
णाऊण भावपुज्जा कायव्वा देसविरएहिं ॥४७७॥

अथवा आगमभावपूजा और नोआगमभावपूजा आदिके भेदसे शास्त्रानुसार भावपूजाको जानकर वह श्रावकोंको करना चाहिए ॥४७७॥

एसा छव्विहपूजा णिच्चं धम्माणुरायरत्तेहिं ।
जहजोग्गं कायव्वा सव्वेहिं पि देसविरएहिं ॥४७८॥(३)

इस प्रकार यह छह प्रकारकी पूजा धर्मानुरागरक्त सर्व देशव्रती श्रावकोंको यथायोग्य नित्य ही करना चाहिए ॥४७८॥

एयारसंगधारी जीहसहस्सेण सुरवरिंदो वि ।
पूजाफलं ण सक्कइ णिस्सेसं वण्णिउं जम्हा ॥४७९॥
तम्हा हं णियसत्तीए थोयवयणेण किं पि वोच्छामि ।
धम्माणुरायरत्तो भवियजणो होइ जं सव्वो[3] ॥४८०॥

जब कि ग्यारह अंगका धारक, देवोंमें सर्वश्रेष्ठ इन्द्र भी सहस्र जिह्वाओंसे पूजाके समस्त फलको वर्णन करनेके लिए समर्थ नहीं है, तब मैं अपनी शक्तिके अनुसार थोड़ेसे वचन द्वारा कुछ कहूँगा, जिससे कि सर्व भव्य जन धर्मानुरागमें अनुरक्त हो जावें ॥४७९–४८०॥

---

१ ब. कंदुट्ट। २ झ. ब. णोआगमेहिं। ३ ध. सव्वे।

(१) क्षीराम्भोधिः क्षीरधाराशुभ्राशेषाङ्गसङ्गमः ।
एवं यच्चिन्त्यते तत्स्याद् ध्यानं रूपस्थनामकम् ॥२४२॥

(२) गन्धवर्णरसस्पर्शवर्जितं बोधदृङ्मयम् ।
यच्चिन्त्यतेऽर्हद्रूपं तद्ध्यानं रूपवर्जितम् ॥२४३॥

(३) इत्येषा षड्विधा पूजा यथाशक्ति स्वभक्तितः ।
यथाविधिर्विधातव्या प्रयतैर्देशसंयतैः ॥२४४॥—गुण० श्राव०

[1]कुत्थुंभरिदलमेत्ते[2] जिणभवणे जो ठवेइ जिणपडिमं ।
सरिसवमेत्तं पि लहेइ सो णरो तित्थयरपुण्णं ॥४८१॥
जो पुण जिणिंदभवणं समुण्णयं परिहि-तोरणसमग्गं ।
णिम्मावइ तस्स फलं को सक्कइ वण्णिउं सयलं ॥४८२॥(१)

जो मनुष्य कुंथुम्भरी (धनिया) के दलमात्र अर्थात् पत्र बराबर जिनभवन बनवाकर उसमें सरसोंके बराबर भी जिनप्रतिमाको स्थापन करता है, वह तीर्थंकर पद पानेके योग्य पुण्यको प्राप्त करता है, तब जो कोई अति उन्नत और परिधि, तोरण आदिसे संयुक्त जिनेन्द्र-भवन बनवाता है, उसका समस्त फल वर्णन करनेके लिए कौन समर्थ हो सकता है ॥४८१–४८२॥

जलधाराणिक्खेवेण पावमलसोहणं हवे णियमं ।
चंदणलेवेण णरो जावइ सोहग्गसंपण्णो ॥४८३॥

पूजनके समय नियमसे जिन भगवान्‌के आगे जलधाराके छोड़नेसे पापरूपी मैलका संशोधन होता है। चन्दनरसके लेपसे मनुष्य सौभाग्यसे सम्पन्न होता है ॥४८३॥

जायइ अक्खयणिहि-रयणसामिओ अक्खएहि अक्खोहो ।
अक्खीणलद्धिजुत्तो अक्खयसोक्खं च पावेइ ॥४८४॥

अक्षतोंसे पूजा करनेवाला मनुष्य अक्षय नौ निधि और चौदह रत्नोंका स्वामी चक्रवर्ती होता है, सदा अक्षोभ अर्थात् रोग-शोक-रहित निर्भय रहता है, अक्षीण लब्धिसे सम्पन्न होता है और अन्तमें अक्षय मोक्ष-सुखको पाता है ॥४८४॥

कुसुमेहिं कुसेसयवयणु तरुणीजणणयण-कुसमवरमाला–
वलएणच्चियदेहो जयइ कुसुमाउहो चेव ॥४८५॥

पुष्पोंसे पूजा करनेवाला मनुष्य कमलके समान सुन्दर मुखवाला, तरुणीजनोंके नयनों-से और पुष्पोंकी उत्तम मालाओंके समूहसे समर्चित देहवाला कामदेव होता है ॥४८५॥

जायइ णिविज्जदाणेण[3] सत्तिगो कंति-तेय संपण्णो ।
लावण्णजलहिवेलातरंगसंपावियसरीरो ॥४८६॥

नैवेद्यके चढ़ानेसे मनुष्य शक्तिमान्, कान्ति और तेजसे सम्पन्न, और सौन्दर्यरूपी समुद्रकी वेला (तट) वर्ती तरंगोंसे संप्लावित शरीरवाला अर्थात् अतिसुन्दर होता है ॥४८६॥

दीवेहिं दीवियासेसजीवदव्वाइतच्चसब्भावो ।
सब्भावजणियकेवलपईवतेएण होइ णरो ॥४८७॥

दीपोंसे पूजा करनेवाला मनुष्य, सद्भावोंके योगसे उत्पन्न हुए केवलज्ञानरूपी प्रदीपके तेजसे समस्त जीवद्रव्यादि तत्त्वोंके रहस्यको प्रकाशित करनेवाला अर्थात् केवलज्ञानी होता है ॥४८७॥

धूवेण सिसिरयरधवलकित्तिधवलियजयत्तओ पुरिसो ।
जायइ फलेहि संपत्तपरमणिव्वाणसोक्खफलो ॥४८८॥

१ ध. कुत्थुंबरी दलय । प. कुत्थंभरिदलमेत्ते अर्धकठूंवरिफलमात्रे । २ धणियादलमात्रे । ३ ब. णिवेज्ज ।

(१) कुंस्तुवरखण्डमात्रं यो निर्माप्य जिनालयम् ।
स्थापयेत्प्रतिमां स स्यात् त्रैलोक्यस्तुतिगोचरः ॥२४५॥
यस्तु निर्मापयेत्तुङ्गं जिनं चैत्यं मनोहरम् ।
वक्तुं तस्य फलं शक्तः कथं सर्वविदोऽखिलम् ॥२४६॥ – गुण० श्राव०

धूपसे पूजा करनेवाला मनुष्य चन्द्रमाके समान धवल कीर्तिसे जगत्त्रयको धवल करनेवाला अर्थात् त्रैलोक्यव्यापी यशवाला होता है। फलोंसे पूजा करनेवाला मनुष्य परम निर्वाणका सुखरूप फल पानेवाला होता है ॥४८८॥

घंटाहिं घंटसद्दाउलेसु पवरच्छराणमज्झम्मि ।
संकीडइ सुरसंघायसेविओ वरविमाणेसु ॥४८९॥

जिनमन्दिरमें घंटा समर्पण करनेवाला पुरुष घंटाओंके शब्दोंसे आकुल अर्थात् व्याप्त, श्रेष्ठ विमानोंमें सुर-समूहसे सेवित होकर प्रवर-अप्सराओंके मध्यमें क्रीड़ा करता है ॥४८९॥

छत्तेहिं[1] एयछत्तं भुंजइ पुहवी सवत्तपरिहीणो[2] ।
चामरदाणेण तहा विज्जिज्जइ चमरणिवहेहिं ॥४९०॥

छत्र-प्रदान करनेसे मनुष्य, शत्रुरहित होकर पृथिवीको एक-छत्र भोगता है। तथा चमरोंके दानसे चमरोंके समूहों द्वारा परिवीजित किया जाता है, अर्थात् उसके ऊपर चमर ढोरे जाते हैं ॥४९०॥

अहिसेयफलेण णरो अहिसिंचिज्जइ सुदंसणस्सुवरिं ।
खीरोयजलेण सुरिंदप्पमुहदेवेहिं भत्तीए ॥४९१॥

जिनभगवान्के अभिषेक करनेके फलसे मनुष्य सुदर्शनमेरुके ऊपर क्षीरसागरके जलसे सुरेन्द्र प्रमुख देवोंके द्वारा भक्तिके साथ अभिषिक्त किया जाता है ॥४९१॥

विजयपडाएहिं णरो संगाममुहेसु विजइओ होइ ।
छक्खंडविजयणाहो णिप्पडिवक्खो जसस्सी[3] य ॥४९२॥

जिन-मन्दिरमें विजय-पताकाओंके देनेसे मनुष्य संग्रामके मध्य विजयी होता है। तथा षट्खंडरूप भारतवर्षका निष्प्रतिपक्ष स्वामी और यशस्वी होता है ॥४९२॥

किं जंपिएण बहुणा तीसु वि लोएसु किं पि जं सोक्खं ।
पूजाफलेण सव्वं पाविज्जइ णत्थि संदेहो ॥४९३॥

अधिक कहनेसे क्या लाभ है, तीनों ही लोकोंमें जो कुछ भी सुख है, वह सब पूजाके फलसे प्राप्त होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥४९३॥

अणुपालिऊण एवं सावयधम्मं तओवसाणम्मि ।
सल्लेहणं च विहिणा काऊण समाहिणा कालं ॥४९४॥
सोहम्माइसु जायइ कप्पविमाणेसु अच्चुयंतेसु ।
उववादगिहे कोमलसुयंधसिलसंपुडस्संते[4] ॥४९५॥
अंतोमुहुत्तकालेण तओ पज्जत्तिओ समाणेइ ।
दिव्वामलदेहधरो जायइ णवजुव्वणो चेव ॥४९६॥
समचउरससंठाणो रसाइधाऊहिं वज्जियसरीरो ।
दिणयरसहस्सतेओ णवकुवलयसुरहिणिस्सासो ॥४९७॥

इस प्रकार श्रावकधर्मको परिपालन कर और उसके अन्तमें विधिपूर्वक सल्लेखना करके समाधिसे मरण कर अपने पुण्यके अनुसार सौधर्म स्वर्गको आदि लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त कल्पविमानोंमें उत्पन्न होता है। वहाँके उपपादगृहोंके कोमल एवं सुगंधयुक्त शिला-सम्पुटके मध्य में जन्म लेकर अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा अपनी छहों पर्याप्तियोंको सम्पन्न कर लेता है तथा अन्तर्मुहूर्तके ही भीतर दिव्य निर्मल देहका धारक एवं नवयौवनसे युक्त हो जाता है। वह देव

१ झ. छत्तिहिं। २ सपत्नपरिहीनः। ३ ब. जसंसी। ४ भ. प. संपुडस्संतो।

समचतुरस्र संस्थानका धारक, रसादि धातुओंसे रहित शरीरवाला, सहस्र सूर्योंके समान तेजस्वी, नवीन नीलकमलके समान सुगंधित निःश्वासवाला होता है ॥४९४-४९७॥

पडिबुज्झिऊण सुत्तुट्ठिओ व्व संखाइमहुरसद्देहिं ।
दट्ठूण सुरविभूइं विंभियहियओ पलोएइ ॥४९८॥
किं सुमिणदंसणमिणं ण वेत्ति जा चिट्ठए वियप्पेण ।
आयंति तक्खणं चिय थुइमुहला आयरक्खाई ॥४९९॥
जय जीव णंद वड्ढाइचारुसद्देहि सोयरम्मेहिं ।
अच्छरसयाउ[1] वि तओ कुणंति चाडूणि विविहाणि[2] ॥५००॥

सोकर उठे हुए राजकुमारके समान वह देव शंख आदि बाजोंके मधुर शब्दोंसे जागकर देव-विभूतिको देखकर और आश्चर्यसे चकितहृदय होकर इधर-उधर देखता है । क्या यह स्वप्न-दर्शन है, अथवा नहीं, या यह सब वास्तविक है, इस प्रकार विकल्प करता हुआ वह जब तक बैठता है कि उसी क्षण स्तुति करते हुए आत्मरक्षक आदि देव आकर, जय (विजयी हो), जीव (जीते रहो), नन्द (आनन्दको प्राप्त हो), वर्द्धस्व (वृद्धिको प्राप्त हो), इत्यादि श्रोत्र-सुखकर सुन्दर शब्दोंसे नाना चाटुकार करते हैं । तभी सैकड़ों अप्सराएँ भी आकर उनका अनुकरण करती हैं ॥४९८-५००॥

एवं थुणिज्जमाणो[3] सहसा णाऊण ओहिणाणेण ।
गंतूण ण्हाणगेहं वुड्डुणवाविहिं ण्हाऊण ॥५०१॥
आहरणगिहम्मि तओ सोलसहाभूसणं च गहिऊण ।
पूजोवयरणसहिओ गंतूण जिणालए सहसा ॥५०२॥
वरवज्जविविहमंगलरवेहिं गंधक्खयाइदव्वेहिं ।
महिऊण जिणवरिंदं थुत्तसहस्सेहिं थुणिऊण ॥५०३॥
गंतूण सभागेहं अणेयसुरसंकुलं परमरम्मं ।
सिंहासणस्स उवरिं चिट्ठइ देवेहिं थुव्वंतो ॥५०४॥
उस्सियसियायवत्तो सियचामरधुव्वमाणसव्वंगो ।
पवरच्छराहिं कीडइ दिव्वट्ठगुणप्पहावेण ॥५०५॥
दीवेसु सायरेसु य सुरसरितीरेसु[4] सेलसिहरेसु ।
अखलियगमणागमणो देवुज्जाणाइसु रमेइ ॥५०६॥

इस प्रकार देव और देवांगनाओंसे स्तुति किया गया वह देव सहसा उत्पन्न हुए अवधिज्ञानसे अपना सब वृत्तान्त जानकर, स्नानगृहमें जाकर स्नान-वापिकामें स्नान कर तत्पश्चात् आभरणगृहमें जाकर सोलह प्रकारके आभूषण धारण कर पुनः पूजनके उपकरण लेकर सहसा या शीघ्र जिनालयमें जाकर उत्तम बाजोंसे, तथा विविध प्रकारके मांगलिक शब्दोंसे और गंध, अक्षत आदि द्रव्योंसे जिनेन्द्र भगवान्‌का पूजन कर, और सहस्रों स्तोत्रोंसे स्तुति करके तत्पश्चात् अनेक देवोंसे व्याप्त और परम रमणीक सभा-भवनमें जाकर अनेक देवोंसे स्तुति किया जाता हुआ, श्वेत छत्रको धारण करता हुआ और श्वेत चमरोंसे कम्पमान या रोमांचित है सर्व अंग जिसका, ऐसा वह देव सिंहासनके ऊपर बैठता है । (वहाँपर वह) उत्तम अप्सराओंके साथ क्रीड़ा करता है, और अणिमा, महिमा आदि दिव्य आठ गुणोंके प्रभावसे द्वीपोंमें, समुद्रोंमें, गंगा आदि नदियोंके तीरोंपर, शैलोंके शिखरोंपर, तथा नन्दनवन आदि देवोद्यानोंमें अस्खलित (प्रतिबन्ध-रहित) गमनागमन करता हुआ आनन्द करता है ॥५०१-५०६॥

---

१ झ. अच्छरसहिओ, ब. अच्छरसमओ । २ ध. विविहाणं । ३ प. माणा । ४ इ. सरित्तीसु ।

आसाढ कत्तिए फग्गुणे य णंदीसरट्ठदिवसेसु ।
विविहं करेइ महिमं णंदीसरचेइय[1]गिहेसु ॥५०७॥
पंचसु मेरूसु तहा विमाणजिणचेइएसु विविहेसु ।
पंचसु कल्लाणेसु य करेइ पुज्जं बहुवियप्पं ॥५०८॥
इच्चाइबहुविणोएहिं तत्थ विणेऊण सगट्ठिई तत्तो ।
उव्वट्टिओ समाणो चक्कहराईसु जाएइ ॥५०९॥

वह देव आषाढ़, कार्त्तिक और फाल्गुन मासमें नन्दीश्वर पर्वके आठ दिनोंमें, नन्दीश्वर द्वीपके जिन चैत्यालयोंमें जाकर अनेक प्रकारकी पूजा महिमा करता है। इसी प्रकार पाँचों मेरुपर्वतोंपर, विमानोंके जिन चैत्यालयोंमें, और अनेकों पंच कल्याणकोंमें नाना प्रकारकी पूजा करता है। इस प्रकार इन पुण्य-वर्धक और आनन्दकारक नाना विनोदोंके द्वारा स्वर्गमें अपनी स्थितिको पूरी करके वहाँसे च्युत होता हुआ वह देव मनुष्यलोकमें चक्रवर्त्ती आदिकोंमें उत्पन्न होता है ॥५०७–५०९॥

भोत्तूण मणुयसोक्खं पस्सिय वेरग्गकारणं किं चि ।
मोत्तूण रायलच्छी तणं व गहिऊण चारित्तं ॥५१०॥
काऊण तवं घोरं लद्धीओ तप्फलेण लद्धूण ।
अट्ठगुणे[2]सरियत्तं च किं ण सिज्झइ[3] तवेण जए ॥५११॥

मनुष्य लोकमें मनुष्योंके सुखको भोगकर और कुछ वैराग्यका कारण देखकर, राज्यलक्ष्मीको तृणके समान छोड़कर, चारित्रको ग्रहण कर, घोर तपको करके और तपके फलसे विक्रियादि लब्धियोंको प्राप्त कर अणिमादि आठ गुणोंके ऐश्वर्यको प्राप्त होता है। जगमें तपसे क्या नहीं सिद्ध होता ? सभी कुछ सिद्ध होता है ॥५१०–५११॥

बुद्धि तवो वि य लद्धी विउव्वणलद्धी तहेव ओसहिया ।
रस-बल-अक्खीणा वि य रिद्धीओ सत्त पण्णत्ता ॥५१२॥
अणिमा महिमा लघिमा पागम्म वसित्त कामरूवित्तं ।
ईसत्त पावणं तह अट्ठगुणा वण्णिया समए ॥५१३॥

बुद्धिऋद्धि, तपऋद्धि, विक्रियाऋद्धि, औषधऋद्धि, रसऋद्धि, बलऋद्धि और अक्षीण महानस ऋद्धि, इस प्रकार ये सात ऋद्धियाँ कही गई हैं ॥५१२॥ अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राकाम्य, वशित्व, कामरूपित्व, ईशत्व, और प्राप्यत्व, ये आठ गुण परमागममें कहे गये हैं ॥५१३॥

एवं काऊण तवं पासुयठाणम्मि तह य गंतूण ।
पलियंकं बंधित्ता काउस्सग्गेण वा ठिच्चा ॥५१४॥
जइ खाइयसद्दिट्ठी पुव्वं खवियाउ सत्त पयडीओ ।
सुर-णिरय-तिरिक्खाऊ तम्हि भवे णिट्ठियं चेव ॥५१५॥
अह वेदगसद्दिट्ठी पमत्तठाणम्मि अप्पमत्ते वा ।
खरिऊण धम्मझाणं सत्त वि णिट्ठवइ पयडीओ ॥५१६॥
काऊण पमत्तेयरपरियत्त[4]सयाणि खवयपाउग्गो ।
होऊण अप्पमत्तो विसोहिमाऊरिऊण खणं ॥५१७॥
करणं अधापवत्तं पढमं पडिवज्जिऊण सुक्कं च ।
जायइ अपुव्वकरणो कसायखवणुज्जओ[5] वीरो ॥५१८॥

१ प. घरेसु । २ झ. ध. प. गुणी । ३ क. सज्झुं । ध. प. सज्झं (साध्यमित्यर्थः)
४ ध. प. परियत्त । ५ इ. ध. णुजिओ ।

इस प्रकार वह मुनि तपश्चरण करके, तथा प्रासुक स्थानमें जाकर और पर्यंकासन बाँधकर अथवा कायोत्सर्गसे स्थित होकर, यदि वह क्षायिक-सम्यग्दृष्टि है, तो उसने पहले ही अनन्तानुबन्धी-चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक, इन सात प्रकृतियोंका क्षय कर दिया है, अतएव देवायु, नारकायु और तिर्यगायु इन तीनों प्रकृतियोंको उसी भवमें नष्ट अर्थात् सत्त्व-व्युच्छिन्न कर चुका है। और यदि वह वेदकसम्यग्दृष्टि है, तो प्रमत्त गुणस्थानमें, अथवा अप्रमत्त गुणस्थानमें धर्मध्यानका आश्रय करके उक्त सातों ही प्रकृतियोंका नाश करता है। पुनः प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानमें सैकड़ों परिवर्तनोंको करके, क्षपक श्रेणिके प्रायोग्य सातिशय अप्रमत्त संयत होकर क्षणमात्रमें विशोधिको आपूरित करके और प्रथम अधःप्रवृत्तकरणको और शुक्लध्यानको प्राप्त होकर कषायोंके क्षपण करनेके लिए उद्यत वह वीर अपूर्वकरण संयत हो जाता है ॥५१४–५१८॥

एक्केक्कं ठिदिखंडं[1] पाडइ अंतोमुहुत्तकालेण।
ठिदिखंड[2]पडणकाले अणुभागसयाणि पाडेइ ॥५१९॥
गच्छइ विसुद्धमाणो पडिसमयमणंतगुणविसोहीए।
अणियट्टिगुणं तत्थ वि सोलह पयडीओ पाडेइ ॥५२०॥

अपूर्वकरण गुणस्थानमें वह अन्तर्मुहूर्तकालके द्वारा एक-एक स्थितिखंडको गिराता है। एक स्थितिखंडके पतनकालमें सैकड़ों अनुभागखंड़ोंका पतन करता है। इस प्रकार प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिसे विशुद्ध होता हुआ अनिवृत्तिकरण गुणस्थानको प्राप्त होता है। वहाँपर पहले सोलह प्रकृतियोंको नष्ट करता है ॥५१९–५२०॥

विशेषार्थ—वे सोलह प्रकृतियाँ ये हैं—नरकगति, नरकगत्यानपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, उद्योत, आतप, एकेन्द्रियजाति, साधारण, सूक्ष्म और स्थावर। इन प्रकृतियोंको अतिवृत्तिकरण गुणस्थानके प्रथम भागमें क्षय करता है।

अट्ठ कसाए च तओ णवुसयं तहेव इत्थिवेयं च।
छण्णोकसाय पुरिसं कमेण कोहं पि संछुहइ ॥५२१॥
कोहं माणे माणं मायाए तं पि छुहइ लोहम्मि।
बायरलोहं[3] पि तओ कमेण णिट्ठवइ तत्थेव ॥५२२॥

सोलह प्रकृतियोंका क्षय करनेके पश्चात् आठ मध्यम कषायोंको, नपुंसकवेदको, तथा स्त्रीवेदको, हास्यादि छह नोकषायोंको और पुरुषवेदका नाश करता है और फिर क्रमसे संज्वलन क्रोधको भी संक्षुभित करता है। पुनः संज्वलनक्रोधको संज्वलनमानमें, संज्वलनमानको संज्वलन मायामें और संज्वलन मायाको भी बादर-लोभमें संक्रामित करता है। तत्पश्चात् क्रमसे बादर लोभको भी उसी अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें निष्ठापन करता है, अर्थात् सूक्ष्म लोभरूपसे परिणत करता है ॥५२१–५२२॥

अणुलोहं वेदंतो संजायइ सुहुमसंपरायो सो।
खविऊण सुहुमलोहं खीणकसाओ तओ होइ ॥५२३॥
तत्थेव सुक्कझाणं बिदियं पडिवज्जिऊण तो तेण।
णिद्दा-पयलाउ दुए दुचरिमसमयम्मि पाडेइ ॥५२४॥

१ ब. कंडं। २ ब. कंड। ३ झ. लोहम्मि। प. लोयम्मि।

णाणंतरायदसयं दंसण चत्तारि चरिमसमयम्मि ।
हणिऊण तक्खणे च्चिय सजोगिकेवलिजिणो होइ ॥५२५॥

तभी सूक्ष्मलोभका वेदन करनेवाला वह सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्त्ती सूक्ष्मसाम्पराय संयत होता है। तत्पश्चात् सूक्ष्म लोभका भी क्षय करके वह क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानमें जाकर क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ होता है। वहाँपर ही द्वितीय शुक्लध्यानको प्राप्त करके उसके द्वारा बारहवें गुणस्थानके द्विचरम समयमें निद्रा और प्रचला, इन दो प्रकृतियोंको नष्ट करता है। चरम समयमें ज्ञानावरण कर्मकी पाँच, अन्तरायकर्मकी पाँच और दर्शनावरणकी चक्षुदर्शन आदि चार इन चौदह प्रकृतियोंका क्षय करके वह तत्क्षण ही सयोगि-केवली जिन हो जाता है ॥५२३–५२५॥

तो सो तियालगोयर-अणंतगुणपज्जयप्पयं वत्थुं ।
जाणइ पस्सइ जुगवं णवकेवललद्धिसंपण्णो ॥५२६॥
दाणे लाहे भोए परिभोए वीरिए सम्मत्ते ।
णवकेवललद्धीओ दंसण णाणे चरित्ते य ॥५२७॥

तब वह नव केवललब्धियोंसे सम्पन्न होकर त्रिकाल-गोचर अनन्त गुण-पर्यायात्मक वस्तुको युगपत् जानता और देखता है। क्षायिकदान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक परिभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक दर्शन (केवल दर्शन), क्षायिक ज्ञान, (केवल ज्ञान), और क्षायिक चारित्र (यथाख्यात चारित्र), ये नव केवललब्धियाँ हैं ॥५२६–५२७॥

उक्कस्सं च जहण्णं पज्जायं विहरिऊण सिज्झेइ ।
सो अकयसमुग्घाओ जस्साउसमाणि कम्माणि ॥५२८॥
जस्स ण हु आउसरिसाणि णामागोयाणि वेयणीयं च ।
सो कुणइ समुग्घायं णियमेण जिणो ण संदेहो ॥५२९॥

वे सयोगि केवली भगवान् उत्कृष्ट और जघन्य पर्याय-प्रमाण विहार करके, अर्थात् तेरहवें गुणस्थानका उत्कृष्ट काल—आठ वर्ष और अन्तर्मूहूर्तकम पूर्वकोटी वर्षप्रमाण है और जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है, सो जिस केवलीकी जितनी आयु है, तत्प्रमाण काल तक नाना देशोंमें विहार कर और धर्मोपदेश देकर सिद्ध होते हैं। (इनमें कितने ही सयोगिकेवली समुद्घात करते हैं और कितने ही नहीं करते हैं।) सो जिस केवलीके आयु कर्मकी स्थितिके बराबर शेष नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मकी स्थिति होती है, वे तो समुद्घात किये बिना ही सिद्ध होते हैं। किन्तु जिनके नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म आयुके बराबर नहीं हैं, वे सयोगिकेवली जिन नियमसे समुद्घात करते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥५२८–५२९॥

छम्मासाउगसेसे उप्पण्णं जस्स केवलं होज्ज[1] ।
सो कुणइ समुग्घायं इयरो पुण होइ भयणिज्जो ॥५३०॥

छह मासकी आयु अवशेष रहनेपर जिसके केवलज्ञान उत्पन्न होता है, वे केवली समुद्घात करते हैं, इतर केवली भजनीय हैं, अर्थात् समुद्घात करते भी हैं और नहीं भी करते हैं ॥५३०॥

अंतोमुहुत्तसेसाउगम्मि दंडं कवाड पयरं च ।
जगपूरणमथ पयरं कवाड दंडं णियतणुपमाणं च ॥५३१॥
एवं पएसपसरण-संवरणं कुणइ अट्ठसमएहिं ।
होहिंति जोइचरिमे अघाइकम्माणि सरिसाणि ॥५३२॥

---

१ इ. म. णाणं ।

सयोगिकेवली अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण आयुके शेष रह जानेपर (शेष कर्मोंकी स्थितिको समान करनेके लिए) आठ समयोंके द्वारा दंड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण, पुनः प्रतर, कपाट, दंड और निज देह-प्रमाण, इस प्रकार आत्म-प्रदेशोंका प्रसारण और संवरण करते हैं। तब सयोगिकेवली गुणस्थानके अन्तमें अघातिया कर्म सदृश स्थितिवाले हो जाते हैं ॥५३१–५३२॥

बायरमण-वचिजोगे रुंभइ तो थूलकायजोगेण ।
सुहुमेण तं पि रुंभइ सुहुमे मण-वयणजोगे य ॥५३३॥
तो सुहुमकायजोगे वट्टंतो झाइए तइयसुक्कं ।
रुंभित्ता तं पि पुणो अजोगिकेवलिजिणो होइ ॥५३४॥

तेरहवें गुणस्थानके अन्तमें सयोगिकेवली जिनेन्द्र बादरकाययोगसे बादर मनोयोग और बादर वचनयोगका निरोध करते हैं। पुनः सूक्ष्म-काययोगसे सूक्ष्म मनोयोग और सूक्ष्म वचनयोगका निरोध करते हैं। तब सूक्ष्म काययोगमें वर्तमान सयोगिकेवली जिन तृतीय शुक्लध्यानको ध्याते हैं और उसके द्वारा उस सूक्ष्म काययोगका भी निरोध करके वे चौदहवें गुणस्थानवर्त्ती अयोगिकेवली जिन हो जाते हैं ॥५३३–५३४॥

बावत्तरि पयडीओ चउत्थसुक्केण तत्थ घाएइ ।
दुचरिमसमयम्हि तओ तेरस चरिमम्मि णिद्दवइ ॥५३५॥
तो तम्मि चेव समये लोयग्गे उड्ढगमणसब्भाओ ।
संचिट्ठइ असरीरो पवरट्ठगुणप्पओ णिच्चं ॥५३६॥

उस चौदहवें गुणस्थानके द्विचरम समयमें चौथे शुक्लध्यानसे बहत्तर प्रकृतियोंका घात करता है और अन्तिम समयमें तेरह प्रकृतियोंका नाश करता है। उस ही समयमें ऊर्ध्वगमन स्वभाववाला यह जीव शरीर-रहित और प्रकृष्ट अष्ट-गुण-सहित होकर नित्यके लिए लोकके अग्र भागपर निवास करने लगता है ॥५३५–५३६॥

सम्मत्त णाण दंसण वीरिय सुहमं तहेव अवगहणं ।
अगुरुलहुमव्वाबाहं सिद्धाणं वण्णिया गुणट्ठेदे ॥५३७॥*

सम्यक्त्व, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाधत्व, ये सिद्धोंके आठ गुण वर्णन किये गये हैं ॥५३७॥

जं किं पि सोक्खसारं तिसु वि लोएसु मणुय-देवाणं ।
तमणंतगुणं पि ण एयसमयसिद्धाणुभूयसोक्खसमं ॥५३८॥

तीनों ही लोकोंमें मनुष्य और देवोंके जो कुछ भी उत्तम सुखका सार है, वह अनन्त-गुणा हो करके भी एक समयमें सिद्धोंके अनुभव किये गये सुखके समान नहीं है ॥५३८॥

सिज्झइ तइयम्मि भवे पंचमए कोवि सत्तमट्ठमए ।
भुंजिवि सुर-मणुयसुहं पावेइ कमेण सिद्धपयं ॥५३९॥

(उत्तम रीतिसे श्रावकोंका आचार पालन करनेवाला कोई गृहस्थ) तीसरे भवमें सिद्ध होता है, कोई क्रमसे देव और मनुष्योंके सुखको भोगकर पाँचवें, सातवें या आठवें भवमें सिद्ध पदको प्राप्त करते हैं ॥५३९॥

---

* म और इ प्रतिमें ये दो गाथाएं और अधिक पाई जाती हैं :—

मोहक्खएण सम्मं केवलणाणं हणेइ अण्णाणं ।
केवलदंसण दंसण अणंतविरियं च अन्तराएण ॥१॥
सुहुमं च णामकम्मं आउहणणेण हवइ अवगहणं ।
गोयं च अगुरुलहुयं अव्वाबाहं च वेयणीयं च ॥२॥

प्रशस्ति

आसी ससमय-परसमयविदू सिरिकुंदकुंदसंताणे ।
भव्वयणकुमुयवणसिसिरयरो सिरिणंदिणामेण ॥५४०॥

श्री कुन्दकुन्दाचार्यकी आम्नायमें स्व-समय और पर-समयका ज्ञायक, और भव्यजन-रूप कुमुदवनके विकसित करनेके लिए चन्द्र-तुल्य श्रीनन्दि नामक आचार्य हुए ।।५४०।।

कित्ती जस्सिंदुसुब्भा सयलभुवणमज्झे जहिच्छं भमित्ता,
णिच्चं सा सज्जणाणं हियय-वयण-सोए णिवासं करेई ।
जो सिद्धंतंबुरासिं सुणयतरणमासेज्ज लीलावतिण्णो ।
वण्णेउं को समत्थो सयलगुणगणं से वियड्ढो[1] वि लोए ॥५४१॥

जिसकी चन्द्रसे भी शुभ्र कीर्त्ति सकल भुवनके भीतर इच्छानुसार परिभ्रमण कर पुनः वह सज्जनोंके हृदय, मुख और श्रोत्रमें नित्य निवास करती है, जो सुनयरूप नावका आश्रय करके सिद्धान्तरूप समुद्रको लीलामात्रसे पार कर गये, उस श्रीनन्दि आचार्यके सकल गुण-गणोंको कौन विचक्षण वर्णन करनेके लिए लोकमें समर्थ है ? ।।५४१।।

सिस्सो तस्स जिणिंदसासणरओ सिद्धंतपारंगओ,
खंती-मद्दव-लाहवाइदसहाधम्मम्मि णिच्चुज्जओ ।
पुण्णेंदुज्जलकित्तिपूरियजओ चारित्तलच्छीहरो,
संजाओ णयणंदिणाममुणिणो भव्वासयाणंदओ ॥५४२॥

उस श्रीनन्दि आचार्यका शिष्य, जिनेन्द्र-शासनमें रत, सिद्धान्तका पारंगत, क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दश प्रकारके धर्ममें नित्य उद्यत, पूर्णचन्द्रके समान उज्ज्वल कीर्त्तिसे जगको पूरित करनेवाला, चारित्ररूपी लक्ष्मीका धारक और भव्य जीवोंके हृदयोंको आनन्द देनेवाला ऐसा नयनन्दि नामका मुनि हुआ ।।५४२।।

सिस्सो तस्स जिणागम-जलणिहिवेलातरंगधोयमणो ।
संजाओ सयलजए विक्खाओ णेमिचन्दु त्ति ।।५४३।।

उस नयनन्दिका शिष्य, जिनागम रूप जलनिधिकी वेला-तरंगोंसे धुले हुए हृदय-वाला नेमिचन्द्र इस नामसे सकल जगत्में विख्यात हुआ ।।५४३।।

तस्स पसाएण मए आइरियपरंपरागयं सत्थं ।
वच्छल्लयाए रइयं भवियाणमुवासयज्झयणं ॥५४४॥

उन नेमिचन्द्र आचार्यके प्रसादसे मैंने आचार्य-परम्परासे आया हुआ यह उपासका-ध्ययन शास्त्र वात्सल्य भावनासे प्रेरित होकर भव्य जीवोंके लिए रचा है ।।५४४।।

जं किं पि एत्थ भणियं अयाणमाणेण पवयणविरुद्धं ।
खमिऊण पवयणधरा सोहित्ता तं पयासंतु ॥५४५॥

अजानकार होनेसे जो कुछ भी इसमें प्रवचन-विरुद्ध कहा गया हो, सो प्रवचनके धारक (जानकार) आचार्य मुझे क्षमाकर और उसे शोधकर प्रकाशित करें ।।५४५।।

छच्च सया पण्णासुत्तराणि एयस्स गंथपरिमाणं ।
वसुणंदिणा णिबद्धं वित्थरियव्वं वियड्ढेहिं ।।५४६।।

वसुनन्दिके द्वारा रचे गये इस ग्रन्थका परिमाण (अनुष्टुप् श्लोकोंकी अपेक्षा) पचास अधिक छह सौ अर्थात् छह सौ पचास (६५०) है । विचक्षण पुरुषोंको इस ग्रंथका विस्तार करना चाहिए, अथवा जो बात इस ग्रन्थमें संक्षेपसे कही गई है, उसे वे लोग विस्तारके साथ प्रतिपादन करें ।।५४६।।

इत्युपासकाध्ययनं वसुनन्दिना कृतमिदं समाप्तम् ।

---

1 ब. सेवियड्ढो म. सेवियंतो । (विदग्ध इत्यर्थः)

प रि शि ष्ट

१ विशेष-टिप्पण

गाथा नं० १५—विशेषार्थ—विवक्षित गतिमें कर्मोदयसे प्राप्त शरीरमें रोकनेवाले और जीवनके कारणभूत आधारको आयु कहते हैं। भिन्न-भिन्न शरीरोंकी उत्पत्तिके कारणभूत नोकर्मवर्गणाके भेदोंको कुल कहते हैं। कन्द, मूल, अण्डा, गर्भ, रस, स्वेद आदिकी उत्पत्तिके आधारको योनि कहते हैं। जिन स्थानोंके द्वारा अनेक अवस्थाओंमें स्थित जीवोंका ज्ञान हो, उन्हें मार्गणास्थान कहते हैं। मोह और योगके निमित्तसे होनेवाली आत्माके सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि गुणोंकी तारतम्यरूप विकसित अवस्थाओंको गुण-स्थान कहते हैं। जिन सदृश धर्मोंके द्वारा अनेक जीवोंका संग्रह किया जाय, उन्हें जीव-समास कहते हैं। बाह्य तथा आभ्यन्तर कारणोंके द्वारा होनेवाली आत्माके चेतनगुणकी परिणतिको उपयोग कहते हैं। जीवमें जिनके संयोग रहनेपर 'यह जीता है' और वियोग होनेपर 'यह मर गया' ऐसा व्यवहार हो, उन्हें प्राण कहते हैं। आहारादिकी वांछाको संज्ञा कहते हैं।

गाथा नं० ४६—विशेषार्थ—वस्तुके स्वरूप या नाममात्रके कथन करनेको निर्देश कहते हैं। वस्तुके आधिपत्यको स्वामित्व कहते हैं। वस्तुकी उत्पत्तिके निमित्तको साधन कहते हैं। वस्तुके अधिष्ठान या आधारको अधिकरण कहते हैं। वस्तुकी कालमर्यादाको स्थिति कहते हैं और वस्तुके प्रकार या भेदोंको विधान कहते हैं। परमागममें इन छह अनुयोग-द्वारोंसे वस्तु-स्वरूपके जाननेका विधान किया गया है।

गाथा नं० २६५—आयंबिल या आचाम्लव्रत—अष्टमी आदि पर्वके दिन जब निर्जल उपवास करनेकी शक्ति नहीं हो, तब इसे करनेको जघन्य उपवास कहा गया है। पर्वके दिन एक बार रूक्ष एवं नीरस आहारके ग्रहण करनेको आयंबिल कहते हैं। इसके संस्कृतमें अनेक रूप देखनेमें आते हैं, यथा—आयामाम्ल, आचामाम्ल और आचाम्ल। इनमेंसे प्रारम्भके दो रूप तो श्वे० ग्रन्थोंमें ही देखनेमें आते हैं और तीसरा रूप दि० और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें प्रयुक्त किया गया है। उक्त तीनोंकी निरुक्तियाँ विभिन्न प्रकारसे की गई हैं और तदनुसार अर्थ भी भिन्न रूपसे किये गये हैं। पर उन सबका अभिप्राय एक है और वह यह कि छह रसोंमें आम्लनामका चौथा रस है, इस व्रतमें उसे खानेका विधान किया गया है। इस व्रतमें नीबू इमली आदिके रसके साथ केवल पानीके भीतर पकाया गया अन्न घूँघरी या रूखी रोटी आदि भी खाई जा सकती है। पानी में उबले चावलोंको इमली आदिके रसके साथ खानेको भी कुछ लोगोंने आचाम्ल कहा है। इस व्रतके भी तीन भेद किये गये हैं। विशेषके लिए इस नं०की गाथा पर दी गई टिप्पणीको देखो।

णिव्वियडी या निर्विकृति व्रत—

इस व्रतमें विकार उत्पन्न करनेवाले भोजनका परित्याग किया जाता है। दूध, घी, दही, तैल, गुड़ आदि रसोंको शास्त्रोंमें विकृति संज्ञा दी गई है, क्योंकि वे सब इन्द्रिय-विकारोत्पादक हैं। अतएव उक्त रसोंका या उनके द्वारा पके हुए पदार्थोंका परित्याग कर बिलकुल सात्त्विक एवं रूक्ष भोजन करनेको निर्विकृतिव्रत कहा गया है। इसे करनेवालेको नमक तकके भी खानेका त्याग करना आवश्यक माना गया है। कुछ आचार्योंको व्याख्यानुसार रसादिके संपर्कसे सर्वथा अलिप्त रूक्ष एक अन्नके ही खानेका विधान इस व्रतमें किया गया है।

तदनुसार भाड़के भुंजे चना, मक्का, जुँवार, गेहूँ आदि या पानीमें उबले अन्न घुंघरी आदि ही खाये जा सकते हैं। कुछ लोगोंकी व्याख्याके अनुसार नीरस दो अन्नोंके संयोगसे बनी खिचड़ी, सत्तू आदि खाये जा सकते हैं।

इस विषयका स्पष्टीकरण पं० आशाधरजीने अपने सागार-धर्मामृतमें इस प्रकार किया है—

निर्विकृतिः—विक्रियेते जिह्वा-मनसी येनेति विकृतिर्गोरसेक्षुरस-फलरस-धान्यरसभेदाच्चतुर्धा। तत्र गोरसः क्षीर-घृतादिः, इक्षुरसः खण्ड-गुडादि, फलरसो द्राक्षाम्रादिनिष्यन्दः, धान्यरसस्तैल-मण्डादिः। अथवा यद्येन सह भुज्यमानं स्वदते तत्तत्र विकृतिरित्युच्यते। विकृतेर्निष्क्रान्तं भोजनं निर्विकृति।

—सागा० ध०, अ० ५, श्लोक ३५ टीका

अर्थात्—जिस भोजनके करनेसे जिह्वा और मन विकारको प्राप्त हों उसे विकृति कहते हैं। इसके चार भेद हैं:—गोरस विकृति, इक्षुरसविकृति, फलरसविकृति और धान्यरस विकृति। दूध, दही, घी, मक्खन आदिको गोरस विकृति कहते हैं। गुड़, खांड, शक्कर, मिश्री आदिको इक्षुरस विकृति कहते हैं। अंगूर, अनार, आम, सन्तरे, मौसम्मी आदि फलोंके रसको फलरस विकृति कहते हैं और तेल, मांड आदिको धान्यरस विकृति कहते हैं। इन चारों प्रकारकी विकृतियोंसे यहाँ तक कि मिर्च मसालेसे भी रहित बिलकुल सात्त्विक भोजनको निर्विकृति भोजन कहा जाता है।

गाथा नं० २९५ एयट्ठाण एकस्थान या एकासन व्रत—

'एयट्ठाण' शब्दका अर्थ एक स्थान होता है। भोजनका प्रकरण होनेसे उसका अर्थ होना चाहिए एक स्थानका भोजन, पर लोक-व्यवहारमें हमें इसके दो रूप देखनेमें आते हैं। दिगम्बर-परम्पराके प्रचलित रिवाजके अनुसार एयट्ठाणका अर्थ है एक बार थालीमें परोसे गये भोजनका ग्रहण करना अर्थात् दुबारा परोसे गये भोजनको नहीं ग्रहण करना। पर इस विषयका प्ररूपक कोई दि० आगम-प्रमाण हमरे देखनेमें नहीं आया। श्वेताम्बर आगम परम्पराके अनुसार इसका अर्थ है—जिस प्रकारके आसनसे भोजनके लिए बैठे, उससे दाहिने हाथ और मुंहको छोड़कर कोई भी अंग-उपांगको चल-विचल न करे। यहाँ तक कि किसी अंगमें खुजलाहट उत्पन्न होने पर उसे दूर करनेके लिए दूसरा हाथ भी उसको नहीं उठाना चाहिए।

जिनदास महत्तरने आवश्यक चूर्णिमें इसकी व्याख्या इस प्रकार की है:—

एकट्ठाणे जं जथा अंगुवंगं, ठवियं तहेव समुद्दिसितव्वं, आगारे से आउंटण-पसारणं नत्थि।

आचार्य सिद्धसेनने प्रवचनसारकी वृत्तिमें भी ऐसा ही अर्थ किया है:—

एकं-अद्वितीयं स्थानं-अंगविन्यासरूपं यत्र तदेकस्थानप्रत्याख्यानम्। तद्यथा—भोजनकालेऽङ्गोपाङ्गं स्थापितं तस्मिंस्तथा स्थित एव भोक्तव्यम्। मुखस्य हस्तस्य च अशक्यपरिहारत्वाच्चलनमप्रतिषिद्धमिति।

भावार्थ—भोजन प्रारम्भ करनेके समय अपने अंग-उपांगोंको जिस प्रकारसे स्थापित किया हो और जिस आसनसे बैठा हो, उसे उसी स्थितिमें रहकर और उसी बैठकसे बैठे हुए ही भोजन करना चाहिए। ग्रास उठानेके लिए दाहिने हाथका उठाना और ग्रास चबानेके लिए मुखका चलाना तो अनिवार्य है। एकासनसे एकस्थानव्रतका महत्त्व इन्हीं विशेषताओंके कारण अधिक है।

एक-भक्त या एकात्त—

एक + भक्त अर्थात् दिनमें एक बार भोजन करनेको एकभक्त या एकाशन कहते हैं। एकात्तका भी यही अर्थ है एक अत्त अर्थात् एक बार भोजन करना। दि० और श्वे० दोनों परम्पराओंमें इसका समान ही अर्थ किया गया है।

आवश्यक चूर्णिमें जिनदास महत्तर कहते हैं:—

एगासणं नाम पुता भूमीतो न चालिज्जंति, सेसाणि हत्थे पायाणि चालेज्जावि।

आवश्यक वृत्तिमें हरिभद्रसूरि कहते हैं—

एकाशनं नाम सकृदुपविष्टपुताचलनेन भोजनम्।

प्रवचनसारोद्धार वृत्तिमें आचार्य सिद्धसेन कहते हैं :—

एकं-सकृत्, अशनं-भोजनं; एकं वा असनं-पुताचलनतो यत्र प्रत्याख्याने तदेकाशनमेकासनं वा। प्राकृते द्वयोरपि एगासणमिति रूपम्।

अर्थात्—भोजनके लिए बैठकर फिर भूमिसे नहीं उठते हुए एक बार भोजन करनेको एकाशन या एकभक्त कहते हैं। पुतनाम नितम्बका है। एकाशन करते समय नितम्ब भूमिपर लगे रहना चाहिए। हाँ, एकाशन करनेवाला नितम्बको न चलाकर शेष हाथ-पैर आदि अंग-उपांगोंको आवश्यकता पड़नेपर चला भी सकता है।

गाथा नं० २६७ पर **प** प्रतिमें निम्न **टिप्पणी** है—

चतस्रः स्त्रीजातयः ४। ताः मनोवाक्कायैस्ताडिताः १२। ते कृतकारितानुमतैः गुणिताः ३६। ते पंचेन्द्रियैर्हताः१८०। तथा दशसंस्कारैः(शरीरसंस्कारः १, शृंगारसरागसेवा २, हास्यक्रीडा ३, संसर्गवांछा ४, विषयसंकल्पः ५, शरीरनिरीक्षणम् ६, शरीरमंडनम् ७, दानम् ८, पूर्वरतानुस्मरणः ९, मनश्चिन्ता१०) एतैर्दशभिर्गुणिताः १८००। ते दशकामचेष्टाभिर्गुणिताः १८०००। (तथाहि—चिन्ता १, दर्शनेच्छा २, दीर्घोच्छ्वासः ३, शरीरार्त्तिः ४, शरीरदाहः ५, मन्दाग्निः ६, मूर्च्छा ७, मदोन्मत्तः ८, प्राणसन्देहः ९, शुक्रमोचनम् १० एतैर्दशभिर्गुणिताः।)

अर्थात्—उक्त प्रकारसे शीलके १८००० अठारह हजार भेद होते हैं।

? प्रतिष्ठा-विधान

गाथा नं० ३९३—प्रतिमालक्षणम्—

अथ विम्बं जिनेन्द्रस्य कर्त्तव्यं लक्षणान्वितम्।
ऋज्वायतसुसंस्थानं तरुणांगं दिगम्बरम्॥१॥
श्रीवृक्षभूषितोरस्कं जानुप्राप्तकराग्रजम्।
निजांगुलप्रमाणेन साष्टांगुलशतायुतम्॥२॥
मानं प्रमाणमुन्मानं चित्रलेपशिलादिषु।
प्रत्यंगपरिणाहोर्ध्वं यथासंख्यमुदीरितम्॥३॥
कक्षादिरोमहीनांगं श्मश्रुरेखाविवर्जितम्।
ऊर्ध्वं प्रलम्बकं दत्त्वा समाप्त्यन्तं च धारयेत्॥४॥
तालं मुखं वितस्तिः स्यादेकार्थं द्वादशांगुलम्।
तेन मानेन तद्बिम्बं नवधा प्रविकल्पयेत्॥५॥

* * *

प्रातिहार्याष्टकोपेतं सम्पूर्णावयवं शुभम्।
भावरूपानुविद्धांगं कारयेद्बिम्बमर्हतः॥६९॥
प्रातिहार्यैर्विना शुद्धं सिद्धबिम्बमपीदृशम्।
सूरीणां पाठकानां च साधूनां च यथागमम्॥७०॥

* * *

लक्षणैरपि संयुक्तं बिम्बं दृष्टिविवर्जितम्।
न शोभते यतस्तस्मात्कुर्याद्दृष्टिप्रकाशनम्॥७२॥
नात्यन्तोन्मीलिता स्तब्धा न विस्फारितमीलिता।
तिर्यगूर्ध्वमधो दृष्टिं वर्जयित्वा प्रयत्नतः॥७३॥
नासाग्रनिहिता शान्ता प्रसन्ना निर्विकारिका।
वीतरागस्य मध्यस्था कर्त्तव्याऽधोत्तमा तथा॥७४॥

अर्थनाशं विरोधं च तिर्यग्दृष्टिर्भयं तथा ।
अधस्तात्सुतनाशं च भार्यामरणमूर्ध्वगा ॥७५॥
शोकमुद्वेगसंतापं स्तब्धा कुर्याद्धनक्षयम् ।
शान्ता सौभाग्यपुत्रार्थाशाभिवृद्धिप्रदा भवेत् ॥७६॥
सदोषार्चा न कर्त्तव्या यतः स्यादशुभावहा ।
कुर्याद्रौद्रा प्रभोर्नाशं कृशांगीर्द्रव्यसंक्षयम् ॥७७॥
संक्षिप्तांगीः क्षयं कुर्याच्चिपिटा दुःखदायिनी ।
विनेत्रा नेत्रविध्वंसं हीनवक्त्रा त्वशोभनी ॥७८॥
व्याधिं महोदरी कुर्याद् हृद्रोगं हृदये कृशा ।
अंशहीनानुजं हन्याच्छुष्कजंघा नरेन्द्रहा ॥७९॥
पादहीना जनं हन्यात्कटिहीना च वाहनम् ।
ज्ञात्वैवं कारयेज्जैनीं-प्रतिमां दोषवर्जिताम् ॥८०॥
सामान्येनेदमाख्यातं प्रतिमालक्षणं मया ।
विशेषतः पुनर्ज्ञेयं श्रावकाध्ययने स्फुटम् ॥८१॥

(वसुनन्दिप्रतिष्ठापाठ, परि० ४)

अर्थात्—प्रतिमा सर्वांग सुन्दर और शुद्ध होनी चाहिए, अन्यथा वह प्रतिष्ठाकारकके धन-जन-हानि आदिकी सूचक होती है ।

गाथा नं० ४०८—धूलीकलशाभिषेक—

गोशृङ्गाद्गजदंताच्च तोरणात्कमलाकरात् ।
नगात्प्रसिद्धतीर्थाच्च महासिन्धुतटाच्छुभात् ॥७०॥
आनीय मृत्तिकां क्षिप्त्वा कुम्भे तीर्थाम्बुसंभृते ।
तेन कुर्याज्जिनार्चाया धूलीकुम्भाभिषेचनम् ॥७१॥

धूलिकाकलशस्नपनमंत्रः (वसुनन्दिप्रतिष्ठापाठ)

भावार्थ—गोशृंग, गजदन्त आदिसे अर्थात् आजकी भाषामें कुदाली, कुश आदिके द्वारा किसी तीर्थ, तालाब, नदी या प्रसिद्ध स्थानकी मृत्तिका खोदकर लावे और उसे तीर्थ-जलसे भरे घड़ेमें भरकर गलावे । पुनः उस गली हुई मिट्टीसे प्रतिमाका लेप करे, इसे धूलीकलशाभिषेक कहते हैं । यह प्रतिमाकी शुद्धिके लिए किया जाता है ।

गाथा नं० ४०९—प्रोक्षणविधि—

लोकप्रसिद्धसद्द्रव्यैः सद्रजन्यादिभिः स्वयम् ।
संप्रोच्या विधवाभिश्च निःशल्याभिः सुजातिभिः ॥७२॥

प्रोक्षणमंत्रः

अर्थात्—कुलीन सधवा या विधवा व्रती स्त्रियोंके द्वारा लोक-प्रसिद्ध सद्द्रव्योंसे प्रतिमाका प्रोक्षण या संमार्जन करावे ।

गाथा नं० ४१०—आकरशुद्धि—

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थचम्पकाशोककिंशुक—
कदम्बप्लक्ष-बिल्वाम्रवकुलार्जुनपल्लवैः ॥७३॥

प्रच्छादितास्यसत्कुम्भैः सर्वतीर्थाम्बुसंभृतैः ।
मंत्राभिमंत्रितैः कुर्याज्जिनबिम्बाभिषेचनम् ॥७४॥

द्वादशपल्लवकलशाभिषेकमंत्रः

रोचनादर्भसिद्धार्थपद्मकागुरुचन्दनम् ।
दूर्वाङ्कुरयवव्रीहिश्रीखण्डरौप्यकांचनम् ॥७५॥
मालतीकुंदपुष्पाणि नंद्यावर्त्तं तिलस्तथा ।
गोमयं भूमिमप्राप्तं निम्नगाढा सुमृत्तिका ॥७६॥
एतैर्द्रव्यैः समायुक्तसर्वतीर्थाम्बुसम्भृतैः ।
चामीकरप्रभैः कुम्भैः जिनार्चां स्नापयेत्सदा ॥७७॥

मंगलद्रव्यकलशस्नपनमंत्रः

अमृता सहदेवी च विष्णुकांता शतावरी ।
भृंगराजः शमी श्यामा सप्तौषध्यः स्मृता इमाः ॥७८॥
एताभिर्युक्ततीर्थाम्बुपूर्णशुभ्रमहाघटैः ।
मंत्राभिमंत्रितैर्भक्त्या जिनार्चामभिषिंचयेत् ॥७९॥

सप्तौषधिकलशस्नपनमंत्रः

जातीफललवंगाम्रबिल्वभल्लातकान्वितैः ।
सर्वतीर्थाम्बुभिः पूर्णैः कुम्भैः संस्नापयेज्जिनम् ॥८०॥

फलपंचकलशस्नपनमंत्रः

पालाशोदुम्बराश्वत्थशमीन्यग्रोधकत्वचा ।
मिश्रतीर्थाम्बुभिः पूर्णैः स्नापयेच्छुभ्रसद्घटैः ॥८१॥

छल्लपंचककलशस्नपनमंत्रः

सहदेवी बला सिंही शतमूली शतावरी ।
कुमारी चामृता व्याघ्री तासां मूलाष्टकान्वितैः ॥८२॥
सर्वतीर्थाम्बुभिः पूर्णैश्चित्रकुम्भैर्नवैर्दृढैः ।
मंत्राभिमंत्रितैर्जैनं बिम्बं संस्नापयेत्सदा ॥८३॥

दिव्यौषधिमूलाष्टकलशस्नपनमंत्रः

लवंगैलावचाकुष्टं कंकोलाजातिपत्रिका ।
सिद्धार्थनंदनाद्यैश्च गन्धद्रव्यविमिश्रितैः ॥८४॥
तीर्थाम्बुभिर्भृतैः कुम्भैः सर्वौषधिसमन्वितैः ।
मंत्राभिमंत्रितैर्जैनीप्रतिमामभिषेचयेत् ॥८५॥

सर्वौषधिकलशस्नपनमंत्रः

एवमाकरसंशुद्धिं कृत्वा शास्त्रोक्तकर्मणा ।
श्रीवर्धमानमंत्रेण जिनार्चामभिमंत्रयेत् ॥८६॥

'ॐ णमो भयवदो वड्ढमाणस्स रिसिस्स जस्स चक्कं जलंतं गच्छइ आयासं पायालं लोयाणं भूयाणं जए वा, विवाए वा, थंभणे वा, मोहणे वा, रणंगणे वा, रायंगणे वा, सव्वजीवसत्ताणं अवराजिओ भवदु मे रक्ख रक्ख स्वाहा।'

अनेन श्रीवर्धमानमंत्रेण प्रतिमां सप्तवारानभिमंत्रयेत् ।

भावार्थ—न्यग्रोध आदि बारह वृक्षोंके पत्रोंके द्वारा ढँके दूर्वाङ्कुर आदि मांगलिक द्रव्योंसे युक्त अमृतादि सप्त औषधियोंके, जातीफलादि पंच फलोंके, पलाशादिकी छालके, सहदेवी आदि आठ दिव्यौषधियोंकी जड़ोंके और लवंगादि सर्वौषधियोंके रसोंसे भरे घटोंसे खानिके भीतर ही प्रतिमाकी शुद्धि करनेको **आकरशुद्धि** कहते हैं।

गाथा नं० ४१८ गुणारोपण विधि—

सहजान्घातिनाशोत्थान् दिव्यांश्चातिशयान् शुभान् ।
स्वर्गावतारसज्जन्मनिःक्रमज्ञाननिर्वृतीः ॥९५॥
कल्याणपंचकं चैतत्प्रातिहार्याष्टकं तथा ।
संध्यायां रोपयेत्तस्यां प्रतिमायां बहिर्भवम् ॥९६॥
अनन्तदर्शनं ज्ञानं सुखं वीर्यं तथान्तरम् ।
सम्यग्ध्यात्वाऽर्हतां बिम्बं मनसाऽऽरोपयेत्ततः ॥९७॥
सम्यक्त्वं दर्शनं ज्ञानं वीर्यागुरुलघू सुखम् ।
अव्याबाधावगाहौ च सिद्धबिम्बेषु संस्मरेत् ॥९८॥
रत्नत्रयं च बिम्बेषु शेषाणां परमेष्ठिनाम् ।
अंग-पूर्वमयं देहं श्रुतदेव्याश्च चिन्तयेत् ॥९९॥
पुस्तकार्थमपि ध्यायेदनन्तार्थाक्षरात्मकम् ।
अनेन विधिना तिष्ठेद्यावदिष्टांशकोदयः ॥१००॥

प्रतिमायां गुणारोपणम्

अर्थात्—उक्त प्रकारसे अर्हन्तकी प्रतिमामें अरिहंतोंके, सिद्धके बिम्बमें सिद्धोंके और शेष परमेष्ठियोंकी मूर्त्तियोंमें उनके गुणोंको आरोपण करे। शास्त्रोंमें द्वादशांग श्रुतका अध्यारोपण करे।

गाथा नं० ४१८ चन्दनतिलक—

दधिसिद्धार्थसद्दूर्वाफलपुष्पाक्षतान्यपि ।
सद्वृद्धिरुद्धिकर्पूरप्रियंगुयुतचन्दनम् ॥१०१॥
एवमादिशुभैर्द्रव्यैः समावाहनपूर्वकम् ।
लग्नेष्टांशोदये सम्यक् स्मृत्वा मंत्रं प्रतिष्ठयेत् ॥१०२॥

प्रतिष्ठातिलकद्रव्याणि

तिलकमंत्रोऽयं—'ॐ णमो अरहंताणं अर्हं स्वाहा' तिलकं दद्यात् ।

अर्थात्—उक्त द्रव्योंसे प्रतिमाके तिलक करे।

गाथा नं० ४१९ मंत्रन्यास—

अत्र स्थापनानिक्षेपमाश्रित्यावाहनादिमंत्राः कथ्यन्ते। यथा—ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा एहि एहि संवौषट्। आवाहनमन्त्रः। ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः। स्थापनमंत्रः। ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट्। सन्निधीकरणमंत्रः।

आवाहनादिकं कृत्वा सम्यगेवं समाहितः ।
स्थिरात्माष्टप्रदेशानां स्थाने बीजाक्षरं न्यसेत् ॥१०३॥

ॐ ह्रां ललाटे, ॐ ह्रीं वामकर्णे, ॐ ह्रूं दक्षिणकर्णे, ॐ ह्रौं शिरः पश्चिमे, ॐ ह्रः मस्तकोपरि, ॐ क्ष्मां नेत्रयोः, ॐ क्ष्मीं मुखे, ॐ क्ष्मूं कण्ठे, ॐ क्ष्मौं हृदये ॐ क्ष्मः बाह्वोः, ॐ क्रौं उदरे, ॐ ह्रीं कट्यां, ॐ क्ष्रूं जंघयोः, ॐ क्ष्रूं पादयोः, ॐ क्षः हस्तयोः। श्रीखण्डकर्पूरेण प्रतिमांगे गंधं विलिप्य प्रतिष्ठापयेत्। बीजाक्षराणि विन्यस्येत्।

अर्थात्—उक्त प्रकार प्रतिमाके विभिन्न अंगोंपर बीजाक्षरोंको लिखे, यह **मंत्रन्यासक्रिया** कहलाती है।

गाथा नं० ४२० मुखपटविधानादि–

बहुमूल्यं सितश्लक्ष्णं प्रत्यग्रं सुदशान्वितम् ।
प्रनष्टावृत्तिदोषस्य मुखवस्त्रं ददाम्यहम् ॥१०७॥

'ॐ नमोऽर्हते सर्वशरीरावस्थिताय समदनफलं सर्वधान्ययुतं मुखवस्त्रं ददामि स्वाहा ।'

मदनफलसहितमुखवस्त्रमंत्रः

ॐ अट्ठविहकम्ममुक्को तिलोयपुज्जो य संथुओ भयवं ।
अमरणरणाहमहिओ अणाइणिहणो सि वंदसि ओ ॥ स्वाहा ।

कंकणबंधनम्

निरस्तमन्मथास्त्रस्य ध्यानशस्त्रास्तकर्मणः ।
विघ्नौघघ्नानि काण्डानि वस्त्रप्रान्तेषु विन्यसेत् ।

काण्डस्थापनम्

गाथा नं० ४२१ यावारकस्थापनादि–

सर्वद्विदलसंभूतैर्बालांकुरविरूढकैः ।
पूजयामि जिनं छिन्नकर्मबीजांकुरोत्करम् ॥११२॥
यवादिधान्यसंभूतैः प्रौढोल्लासिहरित्प्रभैः ।
यावारकैर्जिनं भक्त्या पूजयामि शुभप्रदैः ॥११३॥

यावारकस्थापनम्

पंचवर्णोल्लसच्छायैः शक्रचापानुकारिभिः ।
जगद्वर्णितसत्कीर्त्तिर्वर्णपूरैर्यजे जिनम् ॥११४॥

वर्णपूरकम्

प्रोद्दण्डैः सद्रसोपेतैः यौवनारम्भसन्निभैः ।
निराकृतेक्षुकोदंडं यजे पुण्ड्रेक्षुभिर्जिनम् ॥११५॥

इक्षुस्थापनम्

अर्थात्—मंत्रन्यासके पश्चात् मैनफलके साथ धवल वस्त्रयुगलसे प्रतिमाके मुखको आच्छादन करे। पुनः प्रतिमाके कंकणबन्धन, काण्डकस्थापन, यावारक–(जवारे) स्थापन, वर्णपूरक और इक्षुस्थापन क्रियाओंको करे।

गाथा नं० ४२१ बलिवर्त्तिकादि–

सत्पुष्पपल्लवाकारैः फलाकारैरनेकधा ।
आम्रैः पिष्टोद्भवैः शम्भुं बलिवर्त्युत्करैर्यजेत् ॥११६॥

बलिवर्त्तिकास्थापनम्

सौवर्णं राजतं पूर्णं सुवारिपल्लवाननम् ।
दधिदूर्वाक्षताक्तांगं भृंगारं पुरतो न्यसेत् ॥११७॥

भृंगारस्थापनम्

अनेन विधिना सम्यक् द्वे चत्वारि दिनानि वा ।
त्रिसन्ध्यमर्चनं कुर्वन् जिनार्चामधिवासयेत् ॥११८॥

अधिवासनाविधानम्

अथारार्त्तिकमुत्तार्य धूपमुत्क्षिप्य चोत्तमम् ।
श्रीमुखोद्घाटनं कुर्यात् सुमंत्रजपभावितः ।।११९।।

ॐ उसहाइवड्ढमाणाणं पंचमहाकल्लाणसंपण्णाणं महइ-महावीर-वड्ढमाणसामीणं सिज्झउ मे महइ महाविज्जा अट्ठमहापाडिहेरसहियाणं सयलकल्लाणधराणं सज्जोजादरूवाणं चउतीस अइसयविसेससंजुत्ताणं बत्तीसदेविंदमणिमउडमत्थयमहियाणं सयललोयस्स संति-बुद्धि-तुट्ठि-कल्लाणाउआरोग्गकराणं बलदेव-चक्कहर-रिसि-मुणि-जदि-अणगारोवगूढाणं उभयलोयसुहफलयराणं थुइसयसहस्सणिलयाणं परापरमप्पाणं अणाइणिहणाणं बलिबाहुबलिसहियाणं वीरे-वीरे ॐ हां चां सेणवीरे वड्ढमाणवीरे हं सं जयंतवराइए वज्जसिलत्थंभमयाणं सस्सदबंभपइट्ठियाणं उसहाइ-वीरमंगलमहापुरिसाणं णिच्चकालपइट्ठियाणं एत्थ सण्णिहिदा मे भवंतु ठः ठः क्षः क्षः स्वाहा । श्रीमुखोद्घाटनमंत्रः ।

उक्त मंत्रके द्वारा प्रतिमाके मुखको उघाड़ देवे ।

गाथा नं० ४२३ नेत्रोन्मीलनमंत्रादिः—

रौप्यपात्रस्थदुग्धाज्यशर्करापूरसिताक्तया ।
चक्षुरुन्मीलनं कुर्याच्चामीकरशलाकया ।।१२१।।

ॐ णमो अरहंताणं णाण-दंसण-चक्खुमयाणं अमीयरसायणविमलतेयाणं संति-तुट्ठि-पुट्ठि-वरद-सम्मादिट्ठीणं वं क्षं अमियवरिसीणं स्वाहा ।

नेत्रोन्मीलनमंत्रः

अर्थात्—इस मंत्रके द्वारा प्रतिमाके नेत्रोंमें कनीनिका(पुतली)का आकार सोनेकी सलाईसे अष्टगंधद्वारा निकाले । इसे नेत्रोन्मीलन संस्कार कहते हैं ।

ॐ सत्तक्खरसज्झाणं अरहंताणं णमो ति भावेण ।
जो कुणइ अणहयमणो सो गच्छइ उत्तमं ठाणं ।।१२२।।

कंकणमोक्षणम् ।

अर्थात्—इस मंत्रसे कंकण छोड़े । पुनः प्रतिमाका अभिषेक और पूजन करके निम्न मंत्रसे विसर्जन करे ।

अभिषेकं ततः कुर्यात् स्थानशास्त्रोक्तकर्मणा ।
बलिं शास्त्रोक्तमार्गेण भ्रामयेच्च चतुर्दिशम् ।।१२३।।
मंगलार्थं समाहूता विसर्ज्याखिलदेवताः ।
विसर्जनाख्यमंत्रेण वितीर्य कुसुमांजलिम् ।।१२४।।

ॐ जिनपूजार्थं समाहूता देवता विसर्जनाख्यमंत्रेण सर्वे विहितमहामहाः स्वस्थानं गच्छत गच्छत यः यः यः ।

इति विसर्जनमंत्रः ।

३ सल्लेखना-विधान

सल्लेखना या समाधिमरण (गाथा २७१-२७२)——आ० वसुनन्दिने सल्लेखनाका जो स्वरूप कहा है, वह स्वामी समन्तभद्र द्वारा रत्नकरण्डकमें प्रतिपादन किये गये स्वरूपसे भिन्न है। स्वामी समन्तभद्रने सल्लेखनाका जो स्वरूप बताया है, उसमें उन्होंने गृहस्थ या मुनिकी अपेक्षा कोई भेद नहीं रखा है। बल्कि समाधिमरण करने वालेको सर्वप्रकारका परिग्रह छुड़ाकर और पंचमहाव्रत स्वीकार कराकर विधिवत् मुनि बनानेका विधान किया है। उन्होंने आहारको क्रमशः घटाकर केवल पानपर निर्भर रखा और अन्तमें उसका भी त्याग करके यथाशक्ति उपवास करनेका विधान किया है। परन्तु आ० वसुनन्दि अपने प्रस्तुत ग्रन्थमें सल्लेखना करनेवालेके लिए एक वस्त्रके धारण करने और जलके ग्रहण करनेका विधान कर रहे हैं और इस प्रकार मुनिके समाधिमरणसे श्रावकके समाधिमरणमें एक विभिन्नता बतला रहे हैं। समाधिमरणके नाना भेदोंका विस्तारसे प्ररूपण करनेवाले मूलाराधना ग्रन्थमें यद्यपि श्रावक और मुनिकी अपेक्षा समाधिमरणमें कोई भेद नहीं किया है, तथापि वहाँ भक्त-प्रत्याख्यान समाधिमरणके औत्सर्गिक और आपवादिक ऐसे दो भेद अवश्य किये गये हैं। जान पड़ता है कि उस आपवादिक लिंगको ही आ० वसुनन्दिने श्रावकके लिए विधेय माना है। हालाँकि मूलाराधनाकारने विशिष्ट अवस्थामें ही अपवाद-लिंगका विधान किया है[1], जिसे कि स्पष्ट करते हुए पं० आशाधरने सागारधर्मामृतमें भी लिखा है कि यदि कोई श्रीमान् महर्द्धिक एवं लज्जावान् हो और उसके कुटुम्बी मिथ्यात्वी हों, तो उसे सल्लेखना कालमें सर्वथा नग्न न करे[2]। मूलाराधनाकार आदि सर्व आचार्योंने सल्लेखना करनेवालेके क्रमशः चारों प्रकारके आहारका त्याग आवश्यक बताया है, पर आ० वसुनन्दि उसे तीन प्रकारके आहार-त्यागका ही विधान कर रहे हैं, यह एक दूसरी विशेषता वे गृहस्थके समाधिमरणमें बतला रहे हैं। ज्ञात होता है कि सल्लेखना करनेवालेकी व्याधि आदिके कारण शारीरिक निर्बलताको दृष्टिमें रखकर ही उन्होंने ऐसा विधान किया है, जिसकी कि पुष्टि पं० आशाधरजीके द्वारा भी होती है। वे लिखते हैं——

> व्याध्याद्यपेक्षयाऽम्भो वा समाध्यर्थं विकल्पयेत्।
> भृशं शक्तिक्षये जह्यात्तदप्यासन्नमृत्युकः ॥६५॥ सागार० अ० ८.

अर्थात्——व्याधि आदिके कारण कोई क्षपक यदि चारों प्रकारके आहारका त्याग करने और तृषापरीषह सहन करनेमें असमर्थ हो, तो वह जलको छोड़कर शेष तीन प्रकारके आहारका त्याग करे और जब अपनी मृत्यु निकट जाने तो उसका भी त्याग कर देवे। 'व्याध्याद्यपेक्षया' पदकी व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं:——

---

१ **आवसधे वा अप्पाउग्गे जो वा महड्ढिओ हिरिमं।**
मिच्छजणे सजणे वा तस्स होज्ज अववादियं लिंगं॥ ——मूलारा० आ० २, गा० ७९

२ **ह्रीमान्महर्द्धिको यो वा मिथ्यात्वप्रायबान्धवः।**
सोऽविविक्ते पदं नाग्न्यं शस्तलिंगोऽपि नार्हति ॥३७॥——सागार० अ० ८

'यदि पैत्तिकी व्याधिर्वा, ग्रीष्मादिः कालो वा, मरुस्थलादिर्देशो वा, पैत्तिकी प्रकृतिर्वा, अन्यदप्येवंविधं-तृषापरीषहोद्रेकासहन-कारणं वा भवेत्तदा गुर्वनुज्ञया पानीयमुपयोक्ष्येऽहमिति प्रत्याख्यानं प्रतिपद्येतेत्यर्थः।
—सागार० टीका।

अर्थात्—यदि पैत्तिक व्याधि हो, अथवा ग्रीष्म आदि काल हो, या मरुस्थल आदि शुष्क और गर्म देश हो, या पित्त प्रकृति हो, अथवा इसी प्रकारका अन्य कोई कारण हो, जिसमे कि क्षपक प्यासकी परीषह न सह सके, तो वह गुरुकी आज्ञासे पानीको छोड़कर शेष तीन प्रकारके आहारका त्याग करे।

४ व्रत-विधान

व्रत विधान (गा० ३५३–३८१)—आ० वसुनन्दिने प्रस्तुत ग्रन्थमें ग्यारह प्रतिमाओंके निरूपण करनेके पश्चात् श्रावकके अन्य कर्त्तव्योंको बतलाते हुए पंचमी आदि कुछ व्रतोंका भी विधान किया है और कहा है कि इन व्रतोंके फलसे जीव देव और मनुष्योंके इन्द्रिय-जनित सुख भोगकर अन्तमें मोक्ष पाता है। अन्तमें लिखा है कि व्रतोंका यह उद्देश्य-मात्र वर्णन किया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य भी सूत्रोक्त व्रतोंको अपनी शक्तिके अनुसार करना चाहिए। (गा० ३७८–३७९) तदनुसार यहाँ उनपर कुछ विशेष प्रकाश डाला जाता है।

पंचमी विधान—इसे श्वेत पंचमी व्रत भी कहते हैं। यह व्रत पाँच वर्ष और पाँच मास में समाप्त होता है। आषाढ़, कार्त्तिक या फाल्गुन इन तीन मासोंमेंसे किसी एक मासमें इस व्रतको प्रारम्भ करे। प्रतिमास शुक्लपक्षकी पंचमीके दिन उपवास करे। लगातार ६५ मास तक उक्त तिथिमें उपवास करनेपर अर्थात् ६५ उपवास पूर्ण होने पर यह विधान समाप्त होता है। व्रतके दिन णमोकार मंत्रका त्रिकाल जाप्य करना चाहिए।

रोहिणी विधान—इसे अशोक रोहिणी व्रत भी कहते हैं। यह व्रत भी पाँच वर्ष और पाँच मासमें समाप्त होता है। इस व्रतमें प्रतिमास रोहिणी नक्षत्रके दिन उपवास करना आवश्यक माना गया है। क्रियाकोषकार पं० किशनसिंहजी दो वर्ष और तीन मासमें ही इसकी पूर्णता बतलाते हैं। व्रतके दिन णमोकार मंत्रका त्रिकाल जाप्य करना चाहिए।

अश्विनी विधान—इस व्रतमें प्रतिमास अश्विनी नक्षत्रके दिन उपवास किया जाता है। लगातार सत्ताईस मास तक इसे करना पड़ता है।

सौख्यसंपत्ति विधान—इस व्रतके बृहत्सुखसम्पत्ति, मध्यम सुख-सम्पत्ति और लघुसुख-सम्पत्ति ऐसे तीन भेद व्रत विधान-संग्रहमें पाये जाते हैं। आ० वसुनन्दिने प्रस्तुत ग्रन्थमें बृहत्सुख-सम्पत्ति व्रतका विधान किया है। इस व्रतमें सब मिलाकर १२० उपवास किये जाते हैं। उनके करनेका क्रम यह है कि यह व्रत जिस माससे प्रारम्भ किया जाय, उस मासकी प्रतिपदा को एक उपवास करना चाहिए। तदनन्तर अगले मासकी दोनों दोयजोंके दिन दो उपवास करे। तदनन्तर अगले मासकी दो तीजें और उससे अगले मासकी एक तीज ऐसी तीन तीजोंके दिन तीन उपवास करे। इस प्रकार आगे आनेवाली ४ चतुर्थियोंके दिन ४ उपवास करे। उससे आगे आनेवाली ५ पंचमियोंके दिन क्रमशः ५ उपवास करे। उपवासोंका क्रम इस प्रकार जानना चाहिए:—

१. एक प्रतिपदाका एक उपवास.	२. दो द्वितीयाओंके दो उपवास।
३. तीन तृतीयाओंके तीन उपवास।	४. चार चतुर्थियोंके चार उपवास।
५. पाँच पंचमियोंके पाँच उपवास।	६. छह षष्ठियोंके छह उपवास।
७. सात सप्तमियोंके सात उपवास।	८. आठ अष्टमियोंके आठ उपवास।
९. नौ नवमियोंके नौ उपवास।	१०. दश दशमियोंके दश उपवास।
११. ग्यारह एकादशियोंके ग्यारह उपवास।	१२. बारह द्वादशियोंके बारह उपवास।
१३. तेरह त्रयोदशियोंके तेरह उपवास।	१४. चौदह चतुर्दशियोंके चौदह उपवास।

१५. पन्द्रह पूर्णिमा-अमावस्याओंके पन्द्रह उपवास।

मध्यम सुखसम्पत्ति-व्रत—इसमें व्रत प्रारम्भ करनेके मासकी अमावस्या और पूर्णिमाके दिन उपवास करना पड़ता है। इस प्रकार एक वर्षमें २४ और पाँच वर्षमें १२० उपवास करना आवश्यक बताया गया है।

लघु सुखसम्पत्ति-व्रत—यह व्रत सोलह दिनमें पूर्ण होता है। जिस किसी भी मासकी शुक्ला प्रतिपदासे अग्रिम मासकी कृष्णा प्रतिपदा तक लगातार १६ दिनके १६ उपवास करना इसमें आवश्यक बताया गया है।

उक्त तीनों ही प्रकारके व्रतोंमें उपवासके दिन तीनों संध्याओंमें एक-एक णमोकारमंत्रकी मालाका जाप्य आवश्यक है।

नन्दीश्वरपंक्ति-विधान—यह व्रत १०८ दिनमें पूरा होता है, इसमें ५६ उपवास और ५२ पारणा करना पड़ते हैं। उनका क्रम इस प्रकार है:—पूर्वदिशा-सम्बन्धी अंजन गिरिका वेला एक, उसके उपवास २, पारणा १। चार दधिमुखके उपवास ४, पारणा ४। आठों रतिकरोंके उपवास ८, पारणा ८। इस प्रकार पूर्व-दिशागत जिनालय-सम्बन्धी उपवास १४ और पारणा १३ हुए। इसी प्रकार दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाके उपवासोंके मिलानेपर कुल ५६ उपवास और ५२ पारणा होते हैं। इस व्रतमें 'ॐ ह्रीं नन्दीश्वरद्वीपे द्वापंचाशज्जिनालयेभ्यो नमः' इस मंत्रका त्रिकाल जाप्य आवश्यक है।

यदि यह व्रत आष्टान्हिका पर्वमें करे, तो उसकी उत्तम, मध्यम और जघन्य ऐसी तीन विधियाँ बतलाई गई हैं। **उत्तमविधिमें** सप्तमीके दिन एकाशन करके उपवासकी प्रतिज्ञा कर अष्टमीसे पूर्णमासी तक ८ उपवास करे। पश्चात् प्रतिपदाको पारणा करे। दशों दिन उपर्युक्त मंत्रका त्रिकाल जाप्य करे। इस प्रकार कार्तिक, फाल्गुण और आषाढ़ तीनों मासमें उपवास करे। इसी प्रकार आठ वर्ष तक लगातार करे।

मध्यमविधिमें सप्तमीके दिन एकाशन करके उपवासकी प्रतिज्ञाकर अष्टमीका उपवास करे और ॐ ह्रीं नन्दीश्वरसंज्ञाय नमः' इस मंत्रका त्रिकाल जाप्य करे। नवमीके दिन पारणा करे और 'ॐ ह्रीं अष्टमहाविभूतिसंज्ञाय नमः' इस मंत्रका त्रिकाल जाप्य करे। दशमीके दिन केवल जल और चावल का आहार ले। 'ॐ ह्रीं त्रिलोकसारसंज्ञाय नमः' इस मंत्रका त्रिकाल जाप्य करे। एकादशीके दिन एक बार अल्प आहार करे। 'ॐ ह्रीं चतुर्मुखसंज्ञाय नमः' इस मंत्रका त्रिकाल जाप्य करे। द्वादशीके दिन एकाशन करें। 'ॐ ह्रीं पंचमहालक्षणसंज्ञाय नमः' इस मंत्रका त्रिकाल जाप्य करे। त्रयोदशीके दिन आचाम्ल करे अर्थात् जलके साथ नीरस एक अन्नका आहार करे। 'ॐ ह्रीं स्वर्गसोपानसंज्ञाय नमः' इस मंत्रका त्रिकाल जाप्य करे। चतुर्दशीके दिन चावल वा जल ग्रहण करे। 'ॐ ह्रीं सर्वसम्पत्तिसंज्ञाय नमः' इस मंत्रका त्रिकाल जाप्य करे। पूर्णमासीको उपवास करे। 'ॐ ह्रीं इन्द्रध्वजसंज्ञाय नमः' इस मंत्रका जाप्य करे। अन्तमें प्रतिपदाको पारणा करे।

जघन्यविधिमें अष्टमीसे पूर्णिमासी तक प्रतिदिन एकाशन करे। 'ओं ह्रीं नन्दीश्वरद्वीपे द्वापंचाशज्जिनालयेभ्यो नमः' मंत्रका त्रिकाल जाप्य करे।

विमानपंक्ति-विधान—यह व्रत स्वर्गलोक-सम्बन्धी ६३ पटल-विमानोंके चैत्यालयोंकी पूजन-भावनासे किया जाता है। प्रथम स्वर्गके प्रथम पटलका वेला १, पारणा १। इसके चारों दिशा-सम्बन्धी श्रेणी-बद्ध विमानोंके चैत्यालयोंके उपवास ४, पारणा ४। इस प्रकार एक पटल-सम्बन्धी वेला १, उपवास ४ और पारणा ५ हुए। इस क्रमसे सोलह स्वर्गोंके ६३ पटलके वेला ६३, उपवास २५२ और पारणा ३१५ होते हैं। इसमें व्रतारंभका तेला १ पारणा १ जोड़ देनेपर उपवासोंकी संख्या ३८१, पारणा ३१६ होते हैं। व्रतारम्भमें एक तेला करे फिर पारणा करके व्रत आरम्भ करे। 'ॐ ह्रीं ऊर्ध्वलोक सम्बन्धि-असंख्यात-जिनचैत्यालयेभ्यो नमः' इस मंत्रका त्रिकाल जाप्य करे। यह व्रत ६९७ दिनमें पूरा होता है।

षोडशकारण-व्रत—यह व्रत एक वर्षमें भादों, माघ और चैत्र इन तीन महीनोंमें कृष्ण पक्षकी एकमसे अगले मासकी कृष्णा एकम तक किया जाता है। उत्तमविधिके अनुसार बत्तीस दिनके ३२ उपवास करना आवश्यक है। मध्यम विधिके अनुसार एक दिन उपवास एक दिन पारणा इस प्रकार १६ उपवास और १६ पारणा करना पड़ते हैं। जघन्य विधिमें ३२ एकाशन करना चाहिए। 'ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्धयादि—षोडश-

कारणभावनाभ्यो नमः' मंत्रका त्रिकाल जाप्य करना चाहिए। प्रतिदिन षोड्शकारण भावनामेंसे एक-एक भावनाकी भावना करना चाहिए। यह व्रत लगातार सोलह वर्ष तक किया जाता है।

दशलक्षण-व्रत—यह व्रत भी वर्षमें तीन वार भादों, माघ और चैत्र इन तीन महीनोंमें किया जाता है। यह शुक्ल पक्षकी पंचमीसे प्रारम्भ होकर चतुर्दशीको पूर्ण होता है। उत्तमविधिमें दश दिनके १० उपवास करना आवश्यक है। मध्यमविधिमें पंचमी, अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी इन चार दिनोंमें उपवास और शेष छह दिनोंमें छह एकाशन करना आवश्यक है। जघन्य विधिमें दश दिनके १० एकाशन करना चाहिए। प्रतिदिन उत्तमक्षमा आदि एक-एक धर्मका आराधन और जाप्य करना चाहिए। यह व्रत लगातार दश वर्ष तक किया जाता है।

रत्नत्रय व्रत—यह व्रत भी दशलक्षण व्रतके समान वर्षमें तीन वार किया जाता है। शुक्ला द्वादशीको एकाशन करके तीन दिनका उपवास ग्रहण करे। चौथे दिन पारणा करे। प्रतिदिन रत्नत्रय धर्मका आराधन और जाप्य करे। यह व्रत लगातार तीन वर्ष तक किया जाता है।

पुष्पांजलि व्रत—यह व्रत भादों, माघ और चैतकी शुक्ला पंचमीसे प्रारम्भ होकर नवमीको समाप्त होता है। उत्तम विधिमें लगातार पाँच उपवास करे। मध्यम विधिमें पंचमी, सप्तमी और नवमीके दिन उपवास और षष्ठी वा अष्टमीको एकाशन करे। जघन्य विधिमें आदि और अन्तके दिन उपवास तथा मध्यके तीन दिन एकाशन करे। प्रतिदिन ॐ ह्रीं 'पंच-मेरुसम्बन्धि-अशीतिजिनचैत्यालयेभ्यो नमः' इस मंत्रका त्रिकाल जाप्य करे। अकृत्रिम चैत्यालयोंकी पूजा करे।

इन व्रतोंके अतिरिक्त शास्त्रोंमें और भी व्रतोंके विधान हैं जिनमेंसे कुछके नाम पाठकोंके परिज्ञानार्थ यहाँ दिये जाते हैं:—

लब्धि-विधान, सिंहनिष्क्रीडित, सर्वतोभद्र, धर्मचक्र, जिनगुणसम्पत्ति, श्रुतिकल्याणक, चन्द्रकल्याणक, रत्नावली, मुक्तावली, एकावली, द्विकावली, कनकावली, मेरुपंक्ति, अक्षयनिधि, आकाशपंचमी, चन्दनषष्ठी, निर्दोषसप्तमी, शीलसप्तमी, सुगन्धदशमी, अनन्तचतुर्दशी, नवनिधि, रुक्मिणी, कवलचन्द्रायण, निःशल्य अष्टमी, मोक्षसप्तमी, परमेष्ठीगुणव्रत आदि। इन व्रतोंके विशेष विवरणके लिए पं० किशनसिंहजीका क्रियाकोष, जैन व्रत-कथा और हाल ही में प्रकाशित जैनव्रत-विधान संग्रहको देखना चाहिए।

———:०:———

५ प्राकृत-धातु-रूप-संग्रह

इस विभागमें ग्रन्थ-गत धातु-रूपोंका संग्रह किया गया है।

प्राकृत धातु	धातुरूप	विशेष वक्तव्य	गाथाङ्क
	अ		
१—अ + गण–गणय् (गिनना)	**अगणित्ता**	कृदन्त, क्त्वा प्रत्ययान्त	१६४
	अगणंतो	वर्तमान कृदन्त	१०५
२—अ + गह–ग्रह (ग्रहण करना)	**अगिण्हंतस्स**	,, ,,	२११
३—अच्छ–आस् (बैठना)	**अच्छइ**	वर्तमान लकार	११५, १७७, १८७
४—अ + जाण–ज्ञा (जानना)	**अजाणमाणस्स**	वर्तमान कृदन्त	७३
५—अ + जंप–जल्प् (बोलना)	**अजंपणिज्जं**	कृत्यप्रत्ययान्त	७६
६—अज्ज–अर्ज (पैदा करना)	**अज्जेइ**	वर्तमान लकार	११२, ३४७
७—अणु + गण (गिनना)	**अणुगणंतेण**	वर्तमान कृदन्त	३३०
८—अणु + पाल–पालय् (पालन करना)	**अणुपालिऊण**	संबंधक कृदन्त	४९४
९—अणु + बंध–बन्ध (बाँधना)	**अणुबंधइ**	वर्तमान लकार	७७
१०—अणु + वट्ट–वृत् (अनुसरण करना)	**अणुवट्टिज्जइ**	,, ,,	३३१
११—अणु + हव–अनु + भू (अनुभव करना)	**अणुहवइ**	,, ,,	४५, ७०
	अणुहविऊण	संबंधक कृदन्त	२६६
१२—आण–आ + णी (ले आना)	**अणेमि (आणेमि)**	वर्तमान लकार	११४
१३—अत्थ–स्था (बैठना)	**अत्थइ**	,, ,,	६८
१४—अस (होना)	**अत्थि**	,, ,,	१९९
	अत्थु	आज्ञा लकार	९१, २०३, २२६
१५—अ + मुण–आ मुण् (जानना)	**अमुणंतो**	वर्तमान कृदन्त	११६
१६—अ + लभ–लभ् (पाना)	**अलभमाणो**	,, ,,	११३
	अलहमाणो	,, ,,	११५
१७—अव + लिह (चाटना)	**अवलेहइ**	वर्तमान लकार	८४
१८—अहिलस–अभि + लष् (चाहना)	**अहिलसइ**	,, ,,	८६
	अहिलसदि	,, ,,	१२३
१९—अहिसिंच–अभि-सिच् (अभिषेक करना)	**अहिसिंचिज्जइ**	,, ,,	४९१
	आ		
२०—आऊर–आ + पूरय् (भरपूर करना)	**आऊरिऊण**	संबंधक कृदन्त	५१७
२१—आ + या (आना)	**आयंति**	वर्तमान लकार	४९९
२२—आरोव–आ + रोपय् (ऊपर चढ़ाना, लादना)	**आरोविऊण**	संबंधक कृदन्त	४१७

२३—श्रालिंग-श्रा + लिङ्ग (श्रालिंगन करना)	**श्रालिंगाविंति**	प्रेरणार्थक वर्तमान लकार	१६३
२४—श्रालोश्र-श्रा + लोच् (श्रालोचना करना)	**श्रालोइऊण**	संबंधक कृदन्त	२७२
	श्रालोचेज्जा	विधि लकार	३१०
२५—श्रासव-श्रा + स्रु (श्रास्रव होना)	**श्रासवइ**	वर्तमान लकार	३६, ४०
२६—श्रास-श्रास् (बैठना)	**श्रासि**	भूतकाल	१८३, १५६, १६४,
	श्रासी	,, ,,	५४२
२७—श्रासि-श्रा + श्रि (श्राश्रय लेना)	**श्रासिय**	संबंधक कृदन्त	२७
	श्रासेज्ज, श्रासिज्ज	विधि ल०	५४४
२८—श्राहार-श्रा + हारय् (श्राहार करना, ग्रहण करना)	**श्राहारिऊण**	संबं० कृ०	१३६

इ

२९—इच्छ-इष् (इच्छा करना)	**इच्छइ**	वर्तमान लकार	११४
	इच्छंति	,, ,,	११७

उ

३०—वय-वच् (बोलना)	**उच्चइ**	वर्त० ल०	६०, २३३
३१—उच्चाव-उच्चय (उठाना)	**उच्चाइऊण**	संबंधक कृदन्त	४१६
३२—उच्चा-उत् + चारय् (उच्चारण करना)	**उच्चारिऊण**	,, ,,	३६२
३३—उज्जम-उद् + यम् (उद्यम करना)	**उज्जमेदि**	वर्त० लकार	५०
३४—उट्ठ-उत् + स्था (उठना)	**उट्ठित्ता**	संबंधक कृदन्त	२८७
३५—उप्पज्ज-उत् + पद् (उत्पन्न होना)	**उप्पज्जइ**	वर्त० ल०	२४६
	उप्पज्जिऊण	संबंधक कृदन्त	१८३
३६—उप्पाय-उत् + पादय् (उत्पन्न करना)	**उप्पाइऊण**	,, ,,	२६८
३७—उप्पड-उत् + पत् (उड़ना, उछलना)	**उप्फडदि, उप्पडदि**	वर्त० ल०	१३७
३८—उल्लोव-(देशी)(चंदोवा तानना)	**उल्लोविऊण**	संबंधक कृदन्त	३९८
३९—उवया-उप + या (पासमें जाना)	**उवयाइ**	वर्त० ल०	३३५, ३३६
४०—उववज्ज-उप—पद् (उत्पन्न होना)	**उववज्जइ**	,, ,,	२४५
	उववज्जंति	,, ,,	२४०
४१—उववट्ट-उप + वृत् (च्युत होना)	**उव्वट्टिश्रो**	भू० कृ०	५०६
४२—उववण्ण-उपपन्न (उत्पन्न)	**उववण्णो**	,,	१७६
४३—उव्वह-उद् + वह् (धारण करना)	**उव्वहंतेण**	वर्तमान कृदन्त	६६

क

४४—कर-कृ (करना)	**करमि**	वर्त० ल०	१९७ ६७, ६०, ११२, ३०२, ३०५, ३७०, ५१०, ५११, ५४६
	करेइ		

कर–कृ (करना)	करेमि	वर्त० ल०	१४६
	करंतस्स	वर्त० कृ०	३४४
	करंति	वर्त० ल०	२७२
	करंतेण	वर्त० कृ०	३४५
	काउं	सं० कृ०	३६२
	काऊण	"	७७, ८६ इत्यादि
	कायव्वा	कृत्यप्रत्ययान्त	२२ इत्यादि
	कायव्वो	"	२७३
	कायव्वं	"	१५
४४—कह–कथय (कहना)	कहमि	वर्त० ल०	११४
४५—काराव–कारय् (कराना)	काराविए	वि० ल०	४०८
कर–कृ. (करना)	किच्चा	सं० कृ०	११६ इत्यादि
४६—किलिस–क्लिश् (क्लेश पाना)	किलिस्समाणो	वर्त० कृ०	१७८
४७—कीड–क्रीड् (खेलना)	कीडइ	वर्त० ल०	५०४
कर–कृ. (करना)	कीरइ	कर्मवाच्य वर्त० ल०	१०६, १५३ इत्यादि
	कुज्जा	वि० ल०	२३८
४८—कुण–कृ (करना)	कुणइ	वर्त० ल०	६३, ६१ इत्यादि
	कुणदि	"	५२६
	कुणसि	"	१६०
	कुणह	आज्ञा ल०	३०६
	कुणिज्ज	वि० ल०	३११ इत्यादि
	कुणेइ	वर्त० ल०	६८, ७०,
	कुणंति	"	६५, ७२, २५५
	कुणंतस्स	वर्त० कृ०	३१४
	कुणंतो	" "	४१८
४९—कुव्व–कृ, कुर्व् (करना)	कुव्वंतस्स	" "	१८८
५०—कंद–क्रन्द् (रोना)	कंदसि	वर्त० ल०	१४२
	कंदंतो	वर्त कृ०	१५७

ख

५१—खइअ–क्षपित (नाश करना)	खइऊण	संबंधक कृदन्त	१२८
५२—खा, खाअ–खाद् (खाना)	खज्जमाणो	कर्मणि वर्त० कृदन्त	१८२
	खज्जंतो	" "	१८३
५३—खम–क्षम् (क्षमा करना)	खमिऊण	संबंधक कृदन्त	५४६
५४—खल–स्खल् (गिरना)	खलंतो	वर्त० कृदन्त	७३
५५—खव–क्षय् (नाश करना)	खविऊण	संबं० कृदन्त	५२३
	खवियाओ (क्षपिताः)	भू० कृ०	५१४
५६—खिव–क्षिप् (क्षेपण करना)	खिविज्ज	विधि लकार	४२६
	खिविज्जंति	वर्त० ल०	३८२
	खिवेइ	" "	१३८, १३९
५७—खेल–खेल् (खेलना)	खेलंतस्स	वर्त० कृदन्त	६०
५८—खंड–खंडय् (तोड़ना)	खंडंति	वर्त० ल०	१६८

ग

५९—गच्छ–गम् (जाना)	गओ	भू० कृ०	१२७, १३१
	गच्छइ	वर्त० ल०	५२०
	गच्छमाण	वर्त० कृ०	३२८
	गच्छिज्जो	वि० ल०	३०८
	गच्छंति	व० ल०	३६८
६०—गज्ज–गर्ज् (गरजना)	गज्जंतो	व० कृ०	७५
६१—गण–गणय् (गिनना)	गणेइ	व० ल०	६३, १०४
६२—गम–गमय् (व्यतीत) करना	गमिऊण	सं० कृ०	२८६
	गहिऊण	,, ,,	२८३, इत्यादि
६३—गह–ग्रह् (ग्रहण करना)	गहियं	भू० कृ०	७४
६४—गा–गै (गाना)	गायइ	वर्त० ल०	११३
(देखो नं० ६३)	गेण्हंति	,, ,,	११०
६५—गम–गम्–(जाना)	गंतूण	संबं० कृ०	७५,११० इत्यादि

घ

६६—घड–घटय् (बनाना)	घडाविऊण	संबं० कृ०	३५८
	घडाविज्जा	वि० ल०	३६३
६७—घस–घृष् (घिसना)	घसंति	व० ल०	१६६
६८—घाय–हन् (विनाश करना)	घाएइ	,, ,,	५३८
६९—घि–ग्रह् (ग्रहण करना)	घित्तूण	सं० कृ०	७५,१४७
	घिप्पइ	व० ल०	१०६

च

७०—चय–त्यज् (छोड़ना) / चु–च्यु (मरना)	चइऊण	सं० कृ०	१०२
७१—चड–आ+रुह् (चढ़ना)	चडाविऊण	प्रे० णि० सं० कृ०	१०७
७२—चिट्ठ–स्था (बैठना)	चिट्ठइ	व० ल०	५०४
	चिट्ठए	व० ल०	४६६
	चिट्ठेउं	सं० कृ०	१८७
	चिट्ठेज्ज	वि० ल०	४१८
७३—चिंत–चिन्तय् (चिन्ता करना)	चिंतेइ	वर्त० ल०	११८
७४—चुण्ण+कर–चूर्ण+कृ (चूर्ण करना)	चुण्णीचुण्णीकुणंति	,, ,,	१६७

छ

७५—छेअ–छेदय् (छेदना)	छित्तूण	सं० कृ०	१५८
	छिंदामि	व० ल०	७४
७६—छिव–स्पृश् (छूना)	छिवेउं	सं० कृ०	८५
७७—छुट्ट–छुट् (छूटना)	छुट्टसि	व० ल०	१४४
	छुट्टो	भू० कृ०	१५६
७८—छुह–क्षिप् (डालना)	छुहइ	वर्त० ल०	५२३
	छुहंति	,, ,,	१४४, १५८
	छुहिंति	,, ,,	१६०

७९—छुंड-मुच् (छोड़ना)	छुंडिऊण	सं० कृ०	११६, २७१
	छुंडिओ	,, ,,	१८६
	छुंडित्ता	,, ,,	२९०

ज

८०—जग्ग-जागृ (जागना)	जग्गिज्ज	वि० ल०	४२५
	जग्गेज्ज	,, ,,	,,
८१—जण-जनय (उत्पन्न करना)	जणादि	व० ल०	८०
	जणेइ	,, ,,	२५५
८२—जय-जि (जितना)	जय	आ० ल०	५०३
८३—जा-या (जाना)	जाइ	व० ल०	७४, ८४
	जाइज्जा	वि० ल०	२०१
	जाएइ	व० ल०	५१२
८४—जाण-ज्ञा (जानना)	जाण	आ० ला०	१७२, १७५, इत्यादि
	जाणेइ	व० ल०	६६, ७६ इत्यादि
(देखो नं० ८३)	जामि	,, ,,	१९७
८५—जा-जन् (उत्पन्न होना)	जायइ	व० ल०	२०१, २०३ इत्यादि
८६—जाय-याच् (माँगना)	जायइ (याचते)	व० ल०	३०४
	जाएज्ज	वि० ल०	३०७
(देखो नं० ८५)	जायंति	,, ,,	२६२, ३६५
	जायंते	,, ,,	२६६
	जायंतो	सं० कृ०	१८६
८७—जिअ-जीव् (जीना)	जिवंतो	व० कृ०	७४
जीव-जीव् (जीना)	जीव	आ० ल०	५००
	जीवइ	व० ल०	१८५
	जीवंतस्स	व० कृ०	१०९
८८—जंप-जल्प् (बोलना)	जंपइ,	व० ल०	६७, ७६
	जंपणीयं	कृ० प्र०	२१०
	जंपेइ	वर्त० ल०	११३

झ

८९—झा-ध्यै (ध्यान करना)	झाइए	व० ल०	५३०
	झाइज्ज, झाएज्ज	वि० ल०	४६०,४६२,४७०
	झाइज्जइ	णि० व० ल०	४५८, ४५९ इत्यादि
	झाइज्जो	वि० ल०	४६५
	झाएज्जो	वि० ल०	४६९
	झायइ	व० ल०	२७९
	झायव्वा	कृ० प्र०	४६६, ४६८
९०—झूर-जुगुप्स् (घृणा करना, विसूरना)	झूरइ	व० ल०	११७

ठ

९१—ठव-स्थापय् (स्थापन करना)	ठविऊण	सं० कृ०	२२७
	ठविज्ज	वि० ल०	४१७,४०६
	ठवेइ	व० ल०	४८१

९२—ठा–स्था (बैठना)	ठाइ	,, ,,	३१४
	ठाविज्जइ	कर्म० व० ल०	३२६
	ठावेज्जो	वि० ल०	४०७
	ठावेयव्वा	कृ० प्र०	३६१
	ठाहु	आ० ल०	२२६
	ठिच्चा	सं० कृ०	२८५,३०४,५१४

ड

९३—डह–दह (जलाना)	डहइ	व० ल०	८३
	डज्झइ	कर्म० व० ल०	१४७
	डज्झंतो	कृ० प्र०	१६२

ण

९४—णम–नम् (नमन करना)	णमिऊण	संबंधक कृदन्त	२
९५—णमंस–नमस्य (,,)	णमंसित्ता	,, ,,	२८२,२८७
९६—णा–ज्ञा (जानना)	णाऊण	,, ,,	१५, २२, ३६ इत्यादि
	णाउं	,, ,,	२६
	णायव्वा	कृत्य प्र०	२७२ इत्यादि
	णायव्वो	,,	३६१
	णायव्वं	,,	२६१
९७—णिअत्त–नि + वृत् (लौटना)	णियत्तिऊण	सं० कृ०	३०५
९८—णी–नी (ले जाना)	णिज्जइ	कर्म० व० ल०	१०८, १२२
९९—णिट्ठव–नि + स्थापय (समाप्त करना)	णिट्ठवइ	व० ल०	५१६, ५२२, ५३५,
१००—णिट्ठीव–निष्ठीव (थूकना)	णिट्ठिवइ	,, ,,	८१
१०१—णिण्णास–निर् + नाशय् (नाश करना)	णिण्णासिऊण	सं० कृ०	११६
१०२—णित्थर–निर् + तृ (पार करना)	णित्थरइ	व० ल०	१५०
	णित्थरसि	,,	
	णिच्छरसि	,,	
१०३—णिद्दिस–निर् + दिश (निरूपण करना)	णिद्दिट्ठं	भू० कृ०	४०, १३५,२१३,२३३
१०४—णि + पड = नि + पत् गिरना	णिवडंति	वर्त० ल०	१५६, ३१६
	णिवडइ	वर्त० ल०	१३७
	णिवडंतं	वर्त० कृ०	१६७
१०५—णिब्भच्छ = निर् + भर्त्स (तिरस्कार करना)	णिब्भच्छिज्जंतो	वर्त० कृ०	११७
१०६—णिम्माव–निर + मापय् (निर्माण करना)	णिम्मावइ	व० ल०	४८२
१०७—णिअ–दृश् (देखना) (देखो नं० ६७)	णियइ	व० ल०	१२१
	णियत्ताविऊण	सं० कृ०	३२६
१०८—णिअम–नि + यमय् (नियम करना)	णियमिऊण	,, ,,	२८४

१०६—णिवस = नि + वस् (बसना)	णिवसइ	व० ल०	१६४
११०—णिविस–नि + विश् (बैठना)	णिविसिऊण	सं० कृ०	४१०, ४६७
	णिविसिऊणं	,, ,,	४६६
१११—णिस = नि+अस् (स्थापन करना)	णिसिऊण	सं० कृ०	४७१
११२—णिसाम = नि + शमय् (सुनना)	णिसामेह	आ० ल०	३
११३—णिस्सर = निर् + सृ (बाहर निकलना)	णिस्सरइ	व० ल०	१६२
	णिस्सरमाणं	व० कृ०	१४८
	णिस्सरिउणं	सं० कृ०	१७८
११४—णिस्सस = निर् + श्वस (निःश्वास लेना)	णिस्ससइ	व० ल०	११३
११५—निहण = नि + हन् (मारना)	णिहणंति	,, ,,	१६६
११६—णी = नी (ले जाना)	णीइ	व० ल०	१५२, १५७
	णेऊण	सं० कृ०	२८५, २८६
	णेओ	कृ० प्र०	३७
	णेत्तुण	सं० कृ०	२२७
णा + ज्ञा (जानना) (देखो नं० ६६)	णेया	कृ० प्र०	२६ इत्यादि
	णेयाणि	,,	७
	णेयं	,,	२४ इत्यादि
११७—णंद = नन्द् (खुश होना)	णंद	आ० ल०	५००
११८—ण्हा = स्ना (नहाना)	ण्हाऊण	सं० कृ०	५०१

त

११९—तर = शक् (समर्थ होना)	तरइ	व० ल०	२००, ३५६
१२०—तीर ,,	तीरए	,,	८५

थ

१२१—थुण = स्तु (स्तुति करना)	थुणिऊण	सं० कृ०	५०३
	थुणिज्जमाणो	व० कृ०	३७८, ५०१
१२२—थुव्व = स्तु (,,)	थुव्वंतो	क० व० कृ०	५०४

द

१२३—दक्ख = दृश् (देखना)	दट्ठूण	सं० कृ०	८१,६५ इत्यादि
१२४—दक्ख = दर्शय् (दिखलाना)	दरिसइ	व० ल०	३०५
१२५—दा = दा (देना)	दाऊण	सं० कृ०	१८८, १६१ इत्यादि
	दायव्वो	कृ० प्र०	२३४ इत्यादि
१२६—दाव = दर्शय् (दिखलाना)	दाविऊण	सं० कृ०	४४४
१२७—दा = दा (देना)	दिज्ज	कर्म० वि० ल०	४४४
	दिज्जइ	,, व० ल०	२३१
	दिज्जा	,, वि० ल०	४१८
	दिज्जंति	,, व० ल०	२३७
	दिण्णं (दत्तं)	भू० कृ०	२४० इत्यादि
	दिंता	वर्त० कृ०	३८,
	दिंति	व० ल०	२५०, २५२, इत्यादि

(देखो नं० १२३)	दीसइ	कर्म० व० ल०	१२२,
	दीसंति	,, ,,	१६२,
(देखो नं० १२७)	देइ	कर्तृ० ल०	७२, १२०, इत्यादि

ध

१२८—धर = धृ (धारण करना)	धरिऊण	संबं० कृ०	१५८, १६३, इत्यादि
	धरिज्ज	वि० ल०	३१४,
	धरेइ	व० ल०	५६, १४६,
	धरेऊणं	सं० कृ०	११८,
१२९—धाव = धाव् (दौड़ना)	धावइ	व० ल०	७३, १०२,
१३०—धार = धारय् (धारण करना)	धारेइ	,, ,,	१६७
१३१—धूव = धूपय् (धूप खेना)	धूविज्ज	वि० ल०	४३९

प

१३२—पउंज = प्र + युज् जोड़ना (व्यवहार करना)	पउंजए	वि० ल०	८७,
१३३—पकुव्व = प्र + कृ प्र + कुर्व (करना)	पकुव्वंतो	व० कृ०	१६२
१३४—पक्खाल = प्र + क्षालय (धोना)	पक्खालिऊण	सं० कृ०	२८२, ३०४, ३०८, ४०२,
१३५—पक्खल = प्र + स्खल (स्खलित होना)	पखलइ	व० ल०	१०३, १२१
१३६—पच्चार = उपा + लम्भ् (उलाहना देना)	पच्चारिज्जइ	क० व० ल०	१५५
१३७—पड = पत् (गिरना)	पडइ	व० ल०	११३, १३७,
	पडियं	भू० कृ०	२११,
१३८—पडिबुज्झ = प्रति + बुध (जागृत होना)	पडिबुज्झिऊण	सं० कृ०	४९८,
	पडिबुद्धिऊण	,,	२६८,
१३९—पडिलेह = प्रति + लेखम्, (देखना)	पडिलेहइ	व० ल०	३०२,
	पडिलेहिऊण	सं० कृ०	२८५,
१४०—पडिवज्ज = प्रति + पद् (स्वीकार करना)	पडिवज्जिऊण	,, ,,	५१८, ५२४,
(देखो नं० १३७)	पडेइ	व० ल०	७१,
	पडंति	,, ,,	१५२,
१४१—पत्थ = प्र + अर्थय् (चाहना)	पत्थेइ	वर्त० ल०	३०६
१४२—पभण = प्र + भण (कहना)	पभणइ	वर्त० ल०	६०
	पभणंति	,, ,,	१४२
	पभणामि	,, ,,	२४४
१४३—पयच्छ = प्र + यम् (देना)	पयच्छंति	,, ,,	२५५,२५६,२५७
१४४—पयास = प्र + काशय (व्यक्त करना)	पयासंतु	आ० ल०	२४६

१४५—परिब्भम = परि + भ्रम (भ्रमण करना)	परिभमइ	व० ल०	१७६
१४६—परिवज्ज = परि + वर्ज्जय् (छोड़ना)	परिवज्जए	विधि० ल०	१११,१८२
	परिवज्जियव्वाइं	कृ० प्र०	५८
१४७—परिहर = परि + हृ (छोड़ना)	परिहरियव्वं	" "	६६
	परिहरे	वि० ल०	
	परिहरेइ	" "	२०५
१४८—परूव = प्र + रूपय (प्रतिपादन करना)	परूवेमो	" "	२
१४९—पलाय = परा+श्रय् (भागना)	पलाइ	" "	१०३,१२१
	पलाइऊणं	सं० कृ०	१५१
	पलायमाणो	वर्त० कृ०	१५४
	पलायमाणं	" "	६५,६६
१५०—पलोअ = प्र + लोक (देखना)	पलोएइ	व० ल०	१०१,४६८
१५१—पवक्ख = प्र + वच्	पवक्खामि	" "	२०६,२७६
१५२—पविस = प्र + विश् (घुसना)	पविसइ	" "	१५१,३०४
	पविसन्ति	" "	३०६
	पविसंता	वर्त० कृ०	३८
१५३—पसंस = प्र + शंस् (प्रशंसा करना)	पसंसंति	वर्त० ल०	२२४
१५४—पस्स = दृश् (देखना)	पस्सइ	" "	२७७,३१५,५२६
	पस्सिय	सं० कृ०	५१०
१५५—पहर = प्र+हृ (प्रहार करना)	पहरह	आ० ल०	१४६
	पहरंति	" "	१४१,१६६
१५६—पा = पा (पीना)	पाइज्जइ	कर्मणि वर्त० ल०	१५४
	पाविज्जइ		
१५७—पाउण = प्र + आप् (प्राप्त करना)	पाउणइ	व० ल०	८६, १०१, १८४ इ०
	पाउणदि	"	१००, ३६२
१५८—पाड—पातय (गिराना)	पाडइ	"	५१६
	पाडिऊण	सं० कृ०	१६६
	पाडेइ	वर्त० ल०	५१६, ५२०, ५२४
(देखो नं० १५६)	पावइ	" "	७८, ६२, ६३ इत्यादि
	पावए	वि० ल०	११८
	पाविऊण	सं० कृ०	१३०
	पाविज्जइ	क० व० ल०	२०१, ४६३
	पावेइ	व० ल०	४८४, ५४१
	पावंति	" "	१८१, १८२, २६४
१५९—पिच्छ = दृश् प्र + ईक्ष् (देखना)	पिच्छइ	व० ल०	३६५
	पिच्छह	आ० ल०	२०३
	पिच्छंता	व० कृ०	११०
१६०—पिब—पा (पीना)	पिबइ	व० ल०	८१

पिब-पा (पीना)	पिविऊण	सं० कृ०	१२६
	पिबेहि	आ० ल०	१५५
१६१—पिल्ल = पीडय (पीडा देना)	पिल्लेऊण	सं० कृ०	१४८
१६२—पुज्ज-पूजय् (पूजना)	पुज्जिज्ज	वि० ल०	४३०, ४३३
(देखो नं० १५६)	पेच्छइ	आ० ल०	११०, १५०

फ

१६३—फाड = पाटय् स्फाटय (फाड़ना)	फाडंति	व० ल०	१६७
१६४—फोड = स्फोट् (फोड़ना)	फोडेइ	,, ,,	७५

ब

१६५—बंध = बन्ध् (बाँधना)	बंधिऊण	सं० कृ०	१२२
	बंधिऊणं	,, ,,	१०६
	बंधित्ता	,, ,,	५१४
१६६—बुज्झ = बुध् (जानना)	बुज्झंति	व० ल०	३१५
	बोहव्वा	कृ०	३६

भ

१६७—भक्ख = भक्षय् (खाना)	भक्खदि	वर्त० ल०	१८२ (टि०)
	भक्खेइ	,,	८८,
	भक्खंतो	व० कृ०	१५६, १८५,
१६८—भण = भण् (कहना)	भणइ	व०, ल०,	१४५, ३०७,
	भणिऊण	सं० कृ०	१०८, १५६, इत्यादि
	भणिओ	भू० कृ०	५२, ५७, इत्यादि
	भणिज्जमाणं	क० व० कृ०	३, ३६१,
	भणिदो	भू० कृ०	३८२,
	भणिमो	व० ल०	४४७,
	भणिया	भू० कृ०	५०, २२२, इत्यादि
	भणियाणि	,,	४७, ३३२,
	भणियं	भू० कृ०	३७, २०६, इयतादि
	भणेइ	व० ल०	६७, ३०६,
	भणंति	,,	८२, १५६,
१६९—भम = भ्रम् (भ्रमण करना)	भमइ	व० ल०	३४६,
	भमिओ	सं० कृ०	१३३,
	भमित्ता	,,	५४१,
	भमेज्ज	वि० ल०	३०७
१७०—भय = भज् (विकल्प करना)	भयणिज्जो	कृ० प्र०	५३०,
१७१—भुंज = भुज् (भोग करना)	भुत्तूण	सं० कृ०	३६७,
	भुंजइ	व० ल०	६८, ११८, इत्यादि
	भुंजए	,, ,,	३०६,
	भुंजिऊण	सं० कृ०	२६७,
	भुंजिज्जो	वि० ल०	३०८, ३११,

भुंज—भुज् (भोग करना)	भुंजिवि	सं० कृ०	५३६,
	भुंजेइ	वि० ल०	११५, ३०३,
	भुंजंतो	व० कृ०	३१७,
	भोत्तुं	सं० कृ०	८५, १५६,
	भोत्तूण	,,	२०५, २८१, इत्यादि

म

१७२—मण्ण = मन् (मानना)	मण्णंतो	व० कृ०	१५१,
१७३—मर = मृ (मरना)	मरइ	व० ल०	१८२, १८६,
	मरिऊण	सं० कृ०	१२६, १३० इत्यादि
	मरित्ता	,, ,,	२६४
	मरेइ	व० ल०	१५३,
१७४—मह = मह् (पूजना)	महिऊण	सं० कृ०	५०३
१७५—मुण = मुण, ज्ञा (जानना)	मुणिऊण	सं० कृ०	२६३,
	मुणेऊण	,, ,,	२३६,
	मुणेयव्वा	कृ० प्र०	१२, १४ इत्यादि
	मुणेयव्वो	,,	४७, ३५१,
	मुणेयव्वं	,,	६, ४४, इत्यादि
	मुणेह	आ० ल०	२२१,
	मुणेहि	,, ,,	१७,
	मुणंति	व० ल०	११०
१७६—मुंच = मुच् (छोड़ना)	मुत्तूण	सं० कृ०	२६,
१७७—मुअ = मुच (छोड़ना)	मुयइ	व० ल०	८६,
	मुयह	आ० ल०	१४६,
	मुयंति	व० ल०	३७, १५०,
१७८—मेल्ल = मिल् (मिलना)	मेल्लंता	व० कृ०	३८,
(देखो नं० १७६)	मोत्तूण		६०, २६६,

र

१७९—रय = रचय् (रचना)	रइऊण	सं० कृ०	३६७, ४०१, ४०७,
	रइयं	,,	४४५,
	रएज्ज	वि० ल०	४२१,
१८०—रक्ख—रक्ष् (रक्षा करना)	रक्खिउं	सं० कृ०	२००,
१८१—रड = रट् (रोना चिल्लाना)	रडिऊण	,, ,,	१५२,
	रडंतं	व० कृ०	१४८, १६६,
१८२—रम = रम् (क्रीडा करना)	रमइ	व० ल०	८६,
	रमिओ	भू० कृ०	१४३,
	रमियं	,, ,,	१४६
	रमेइ	व० ल०	५०६,
	रमंता	व० कृ०	१२६
	रमंतस्स	,, ,,	६४
(देखो नं० १८०)	राखेदि	व० ल०	१८३
१८३—रुअ = रुद् (रोना)	रुयइ	,, ,,	११३, १६५

	रुवइ	,, ,,	१४६
रुव = रुद् रोना	**रुवसि**	,, ,,	१६४
	रुवेइ	,, ,,	१४२
१८४—रुह—रुह् (उत्पन्न होना)	**रुहेइ**	,, ,,	२४५
१८५—रुंभ-रुध् (रोकना)	**रुंभइ**	,, ,,	१५४, ५३३
	रुंभित्ता	सं० कृ०	५३४
१८६—रोव—रुद् (रोना)	**रोवंतो**	व० कृ०	१४४
१८७—रंज—रंजय (रंगना)	**रंजिओ**	भू० कृ०	१४३

ल

१८८—लग्ग = लग (लगना, संग करना)	**लग्गइ**	व० ल०	१५३
१८९—लभ = लभ् (पाना)	**लद्धूण**	सं० कृ०	१९३, ५११
	लब्भइ	कर्मणि व० ल०	३४३
	लहइ	व० ल०	१०८, १८६, १८७
१९०—लह = लभ् (पाना)	**लहिऊण**	सं० कृ०	७३, २६९
	लहिज्जो	वि० ल०	३०९
	लहेइ	व० ल०	६८, ९९, १०३, ४८१
१९१—लाय = लागय् (लगाना)	**लायंति**	,, ,,	१७०
१९२—लिह = लिख् (लिखना)	**लिहाविऊण**	णि० सं० कृ०	२३७, ३५५, ३९२
१९३—लोट्ट = लुठ् (लोटना)	**लोट्टाविंति**	णि० व० ल०	१६९
१९४—लंघ = लंघ् लंघय्	**लंघित्ता**	सं० कृ०	१४३
१९५—लिह्क ल्हुक्क नि + ली (छिपना)	**ल्हुक्कइ**	व० ल०	१०३, १२१

व

१९६—वच्च = व्रज् (जाना)	**वच्चइ**	व० ल०	६४, ३०५
	वच्चमि	,, ,,	१९७
	वज्जइदव्वं	कृ० प्र०	८४
	वज्जए	वि० ल०	२९०
	वज्जिऊण	सं० कृ०	३२४
१९७—वज्ज = वर्जय् (छोड़ना)	**वज्जिज्जइ**	कर्मणि व० ल०	२९५
	वज्जिज्जा	वि० ल०	१२४
	वज्जिज्जो	,, ,,	७९
	वज्जेयव्वं	कृ० प्र०	८०
१९८—वट्ट = वृत् (बरतना)	**वट्टंतो**	व० कृ०	५३४
१९९—वड्ढ = वृध् (बढ़ना)	**वड्ढइ**	व० ल०	८६
	वण्णइस्सामि	भ० ल०	२३२, २३९
	वण्णिउं	हे० कृ०	४७९, ४८२
	वण्णिए		८६
२००—वण्ण = वर्णय् (वर्णन करना)	**वण्णिओ**		९४
	वण्णिज्जए	कर्मणि व० ल०	१३२
	वण्णिया	भू० कृ०	१७० इत्यादि
	वण्णियं	,,	८७, २७३
	वण्णेउं	सं० कृ०	५४२

(देखो नं० १६६)	**वद्ध (वड्ढ)**	आ० ल०	५००
२०१—वय = व्यय (व्यय होना)	**वयंति**	व० ल०	३८
२०२—वस = वस् (बसना)	**वसइ**	,, ,,	८८, १७८
	वसियव्वं	कृ० प्र०	१९६
२०३—वप = वप् (बोना)	**वाविय**	भू० कृ०	२४१
२०४—विजाण = वि + ज्ञा (जानना)	**विजाणइ**	आ० ल०	२४१
२०५—विज्ज = वीजय् (पंखा चलाना)	**विज्जज्जइ**	क० व० ल०	४६०
२०६—विणि = वि + नी (बिताना, दूर करना)	**विणेऊण**	सं० कृ०	५०६
२०७—विण्णय = वि+ज्ञा (जानना)	**विण्णेओ**	कृ० प्र०	३३१
	विण्णेया	,, ,,	३७१, ३८२, ४५५
२०८—वितर = वि + तृ (अर्पण करना)	**वितीरिज्जा**	वि० ल०	४८५
२०९—वित्थर = वि + स्तृ (फैलना)	**वित्थारियव्वं**	कृ० प्र०	५४७
२१०—वित्थार = वि + स्तारय् फैलाना	**वित्थारिऊण**	सं० कृ०	३५७
	वित्थारिज्जइ	क० व० ल०	१०७
	वित्थारिज्जो	वि० कृ०	४३५
२११—विद्धंस = वि + ध्वंस (विनष्ट करना)	**विधंसेइ**	व० ल०	७६
२१२—विमग्ग = वि + मार्गय (अन्वेषण करना)	**विमग्गित्ता**	सं० कृ०	२२६
२१३—वियप्प = वि+कल्पय, (विचार करना)	**वियप्पिऊण**	सं० कृ०	४६०
	वियप्पिय	,, ,,	४०४
(देखो नं० २०३)	**वियाण**	आ० ल०	२२६, ३०० इत्यादि
	वियाणसु	,, ,,	३२
	वियाणह	,, ,,	३४५
	वियाणीहि	,, ,,	२३४
२१४—विलिज्ज = वि + ला (नष्ट होना)	**विलिज्ज**	वि० ल०	१३८
२१५—विलिह = वि + लिह (चाटना)	**विलिहंति**	व० ल०	७१
२१६—विलव = वि + लप् (विलाप करना)	**विलवमाणो**	व० कृ०	१२०
	विलवमाणं	,, ,,	१६३
	विलवंतो	,, ,,	१५०, १५४
२१७—विवज्ज = वि + वर्जय् (छोड़ना)	**विवज्जइ**	व० ल०	२६७
	विवज्जए	वि० ल०	२६४, २६६
	विवज्जियव्वा	कृ०	१००
	विवज्जेइ	व० ल०	५७, २९८
	विवज्जंतो	व० कृ०	२१४, २६७
२१८—विस = विश् (प्रवेश करना)	**विसइ**	व० ल०	१५६, १६१
२१९—विसह = वि + सह (सहन करना)	**विसह**	आ० ल०	१४४
	विसहइ	व० ल०	१४०
	विसहदे	,, ,,	१८०
	विसहंतो	व० कृ०	१९४
२२०—विसुज्झ = वि+शुध् (शुद्ध होना)	**विसुज्झमाणो**	व० कृ०	५२०
२२१—विसूर = खिद् (खेद करना)	**विसूरइ**	व० ल०	१९२

(देखो नं० २१८)	विसेज्ज	वि० ल०	४०४
२२२—विस्सर = वि + स्मृ (भूल जाना)	विस्सरियं	भू० कृ०	१६०
२२३—विहर = वि + हृ (विहार करना)	विहरिऊण	सं० कृ०	५२८
२२४—विश्र = विद् (जानना)	विंति	व० ल०	३७६
(देखो नं० २२२)	वीसरियं	भू० कृ०	२१३
२२५—वुच्च = वच् (बोलना)	वुच्चइ	व० ल०	६०
२२६—वेश्र + वेदय् (अनुभव करना)	वेएइ	,,	६६
२२७—वेढ = वेष्ट् (लपेटना)	वेढिऊण	सं० कृ०	४७१
२२८—वय—वच् (बोलना)	वोच्छामि	भविष्यत्काल	५, १३४ इत्यादि
	वोच्छं	,,	२७३, २६४

स

२२६—सय = शी, स्वप् (सोना)	सइऊण	सं० कृ०	२८६
२३०—सक्क = शक् (सकना)	सक्कइ	व० ल०	४७६ ४८२
२३१—सड = सद्, शद् (सड़ना)	सडिज्ज, सडेज्ज	वि० ल०	१३६
२३२—सद्दह = श्रद् + धा (श्रद्धा करना)	सद्दहदि	व० ल०	१८६
	सद्दहमाणो	व० कृ०	५६
	सद्दहंतस्स	,,	१०
	सद्दहंतो	,,	४७
२३३—समज्ज = सम् + अर्ज, (उपार्जन करना)	समज्जियं	भू० कृ०	३४६
२३४—समालह = समा + लभ् (विलेपन करना)	समलहिज्ज, समालहिज्ज	वि० ल०	४३८
२३५—समाण = सम् + आप् (पूरा करना)	समाणेइ	व० ल०	१३६ ४९६
२३६—सर = सृ (आश्रय लेना)	सरिऊण	सं० कृ०	५१६
२३७—सह + सह् (सहना)	सहइ	व० ल०	६१
	सहसि	,,	१६४
	सहेइ	,,	१७६, २०१
२३८—साह = साध् (सिद्ध करना)	साहामि	,,	१०७
२३९—सिज्झ = सिध् (सिद्ध होना)	सिज्झइ	,,	५११, ५३६
	सिज्झेइ	,,	३३५
२४०—सुण = श्रु (सुनना)	सुणह	आ० ल०	५, २६४
२४१—सुमराव = स्मारय् (याद दिलाना)	सुमराविऊण	सं० कृ०	१७०
२४२—सुस्स = शुष् (सूखना)	सुस्सइ	व० ल०	४४
२४३—सेव = सेव् (सेवा करना)	सेवइ	,,	१३२
	सेविश्रो	भू० कृ०	१६८
	सेवंतो	व० कृ०	११३, १६४
२४४—सो, सोश्र = स्वप् (सोना)	सोऊण	सं० कृ०	१४०
२४५—सोह = शोधय् (शुद्धि करना)	सोहिऊण	,,	२३१, ३०८
	सोहित्ता	,,	५४६
२४६—संकप्प = सम् + कल्पय् (संकल्प करना)	संकप्पिऊण	,,	३८४
२४७—संकीड = संम् + कीड् (खेलना)	संकीडइ	व० ल०	४८६

२४८—संचिट्ठ = सम् + स्था (बैठना)	संचिट्ठइ	"	५३६
२४९—संछुह = सम् + क्षिप् (क्षेपण करना)	संछुहइ	"	५२१
२५०—संजाय = सम् + जन (उत्पन्न होना)	संजायइ	"	३७२, ५२३
२५१—संठा = सम् + स्थापय् (स्थापन करना)	संठाविऊण	सं० कृ०	४०८
२५२—संभव = सम् + भू (होना)	संभवइ	व० ल०	१७८
२५३—संभूस = सम् + भूष् (अलंकृत करना)	संभूसिऊण	सं० कृ०	३९६
२५४—संसोह = सम् + शोधय (शुद्ध करना)	संसोहिऊण	सं० कृ०	३९३
	ह		
२५५—हण = हन् (बध करना)	हणइ	व० ल०	८३, ११३
	हणह	आ० ल०	१४६
	हणिज्जइ	क० व० ल०	९६
	हणिऊण	सं० कृ०	५२५
	हणेइ	व० ल०	६७, ५३८
	हणंति	" "	९५
२५६—हम्म = हन् (बध करना)	हम्ममाणो	व० कृ०	१८२
२५७—हर = हृ (हरण करना)	हरइ	व० ल०	८९, १०६, १०८
	हरिऊण	सं० कृ०	१०२
२५८—हव = भू (होना)	हवइ	व० ल०	५६, ८८, ११८ इत्यादि
	हवे	वि० ल०	२२१, २२३ इत्यादि
	हवेइ	व० ल०	४८३
	हवंति	"	६०, २०७, २६०
२५९—हस = हस् (हसना)	हसमाणेण	व० कृ०	१६५
२६०—हिंड = हिण्ड् (भ्रमण करना)	हिंडइ	व० ल०	६१
	हिंडाविज्जइ	णि० व० ल०	१०७
	हिंडिओ	भू० कृ०	१३०
	हिंडंतो	व० कृ०	१७७
(देखो २५३)	हिप्पइ	क० व० ल०	७३
२६१—हिंस = हिंस् (हिंसा करना)	हिंसियव्वा	कृ०	२०९
२६२—हु = भू (होना)	हुज्जा	वि० ल०	९७
	हुंति	व० ल०	१४, ४९
	होइ	"	१४०, १७३, २१३
	होदि	"	३८५
	होऊण	सं० कृ०	१२९, १३१
	होज्जउ	आ० ल०	१९९
	होंति	व० ल०	९२, २३० इत्यादि
	होहइ	भ० ल०	१९९
	होहिंति	"	५३२

—::—

६ प्राकृत-शब्द-संग्रह

प्राकृत	संस्कृत	हिन्दी	गाथाङ्क
		अ	
अइ	अति	अधिक	१९६
अइदुट्ठ	अति दुष्ट	अत्यन्त दुष्ट	६७
अइथूल	अति स्थूल	बादर-बादर	१८
अइबाल	अति बाल	बहुत छोटा	३३७
अइसरस	अति सरस	अतिरस-पूर्ण	२५२
अइसुगंध	अति सुगंध	अति उत्तम गन्ध	२५२
अक्क	अर्क	सूर्य, आक, सुवर्ण दूत (दे०)	४२७
अकक्कस	अकर्कश	कोमल	३२७
अकट्टिम	अकृत्रिम	स्वाभाविक, बिना बनाया	४४६
अकय	अकृत	अकृत	५२८
अक्ख	अक्ष	आँख, आत्मा, द्विन्द्रियजन्तु चकेकी धूरी, कील, पाशा	६६
अक्खय	अक्षत	अखंड, चावल, धाव-रहित, अखंडित, संपूर्ण	३८४
अक्खर	अक्षर	वर्ण, ज्ञान, चेतना, अविनश्वर, नित्य	४६४
अक्खलिय	अस्खलित	अबाधित, निरुपद्रव, अपतित, प्रतिध्वनित	५०६
अक्खीण	अक्षीण	क्षय-रहित, अखूट, परिपूर्ण, ह्रास-शून्य	५१२
अक्खीणमहानस	अक्षीणमहानस	अक्षय भोजनवाला रसोईघर	३४६
अक्खीणलद्धि	अक्षीणलब्धि	अक्षय ऋद्धि	४८४
अक्खोह	अक्षोभ	क्षोभ-रहित, स्थिर, अचल,	४८४
*अगणित्ता	अगणयित्वा	नहीं गिनकर	१६४
†अगिण्हंत	अगृह्णन्	नहीं ग्रहण कर	२१२
अग्गि	अग्नि	आग	६५
अगुरुलहु	अगुरुलघु	न छोटा, न भारी	५३५
अघाइ	अघाति	कर्म-विशेष	५३२
अचित्त	अचित्त	जीव-रहित, अचेतन	४४९
अचित्तपूजा	अचित्तपूजा	प्रासुक-द्रव्योंसे पूजा	४५०
अच्चण	अर्चन	पूजन, सन्मान	२२५
अच्चि	अर्चि	दीपशिखा, अग्निज्वाला, कान्ति, तेज, किरण, (लौकान्तिक देवोंका विमान)	४३६
अच्चुत	अच्युत	सोलहवाँ स्वर्ग, विष्णु	४९५
अच्छर	अप्सरा	देवी, रूपवती स्त्री	४८८
अच्छेरय	आश्चर्य	अचरज	८२

अजोगकेवलि	अयोगकेवली	योग-रहित केवली	५३४
*अजंपणिज्ज	अजंपणीय	नहीं कहने योग्य	७६
‡अज्ज	{ अद्य { आर्य	आज, आर्य, वैश्य, स्वामी, उत्तम, श्रेष्ठ, साधु, पूज्य	७४
अज्जिय	अर्जित	उपार्जित, पैदा किया हुआ	१९१
अज्झयण	अध्ययन	अध्ययन, अध्याय	३१२
अज्झावण	अध्यापन	पढ़ाना	२३७
अट्ट	आर्त्त	पीड़ित, ऋत, गत, प्राप्त, दुकान हाट,	२२८
	अट्ट	घरका ऊपरी भाग, आकाश	
		अट्ट (दे०) कृश, महान्, निर्लज्ज, शुक, शब्द, सुख, असत्य	
अट्ठ	अष्ट	आठ, वस्तु, विषय, वाच्य, तात्पर्य, प्रयोजन, फल, धन, इच्छा, लाभ	५६
अट्ठमभत्त	अष्टमभक्त	तेला, तीन दिनका उपवास	३७७
अट्ठमी	अष्टमी	तिथि-विशेष	३६२
अट्ठि	अस्थि	हड्डी, अर्थिन्-अभिलाषी, याचक	८९
अणयार	अनगार	गृह-रहित मुनि, भिक्षुक, आकार-रहित	२
अणवरय	अनवरत	निरन्तर, सदा	१५६
अण्ण	अन्य	दूसरा	९०
‡अण्णत्थ	अन्यत्र	अन्य जगह	२७४
अण्णाण	अज्ञान	मिथ्याज्ञान	५३६
अण्णाणी	अज्ञानी	अज्ञ, मिथ्याज्ञानी	२३९
अणागद	अनागत	भविष्यकाल	२२
†अणिच्छमाण	अनिच्छमान	नहीं चाहते हुए	७६
अणिट्ठ	अनिष्ट	अप्रीतिकर	१८२
अणिमा	अणिमा	अत्यन्त छोटा बन जानेकी ऋद्धि	३४६
अणियट्टिगुण	अनिवृत्तिगुण	नवाँ गुणस्थान	५२०
अणिल	अनिल	पवन	४३६
अण्णिय	अन्वित	युक्त, सहित	११
अणु	अणु	परमाणु, पुद्गलका अविभागी अंश	२१
अणुकंपा	अनुकम्पा	दया करना, भक्ति करना	४९
*अणुगणंत	अनुगणयन्	गिनता हुआ	३३०
अणुद्दिस	अनुदिश	कल्पातीत विमान	४६१
*अणुपालिऊण	अनुपाल्य	अनुपालन कर	४९४
अणुभव	अनुभव	ज्ञान, बोध, कर्म-फलका भोग, निश्चय	४१
अणुभाग	अनुभाग	प्रभाव, माहात्म्य	५१९
अणुभूय	अनुभूत	अनुभव किया हुआ, अनुभव कर	५३८
अणुमग्ग	अनुमार्ग	अनुसार	२१९
अणुमण	अनुमन	अनुमति देना	४
अणुमणण	अनुमनन	अनुमोदन करना	३००
अणुमोय	अनुमोद	प्रशंसा करना	७९
अणुमोयण	अनुमोदन	अनुमति देना	२४८

अणुराय	अनुराग	प्रेम, प्रीति	४१५
अणुरूव	अनुरूप	अनुकूल, योग्य, उचित	३२६
अणुलोह	अणुलोभ	सूक्ष्म लोभ	५२३
अणुवट्ट	अन्वर्थ	सार्थक	१७२
अणुवेहण	अनुप्रेक्षण	चिन्तवन	२८४
अणुव्वय	अणुव्रत	स्थूलव्रत	२०७
*अणुहविऊण	अनुभूय	अनुभव कर	२६६
अणेयविह	अनेकविध	नाना प्रकार	१३
अण्णोण्ण	अन्योन्य	परस्पर	१७०
अणंगकीडा	अनङ्ग-क्रीडा	अप्राकृतिक मैथुन सेवन	२१२
अणंत	अनन्त	अनन्तरहित	२२
अणंतचउट्ठय	अनन्तचतुष्टय	अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य	११
अत्त	आप्त	सत्यार्थ देव, आत्मा, आर्त-पीड़ित, आत्म-दुखनाशक, सुख-उत्पादक, आत्त-गृहीत	६
अत्ता	आप्त, आत्मा	ज्ञानादि गुण-सम्पन्न आत्मा, जीव	७७६
अतिहि	अतिथि	तिथिके विचार-रहित साधु	२१६
अत्थ	अर्थ, अस्त्र, अस्त	वस्तु, धन, प्रयोजन, अस्त्र, भोगना, बैठना	२८
अत्थ-पज्जय	अर्थपर्याय	सूक्ष्मपर्याय	२६
‡अत्थु	अस्तु	हो, रहा आवे	१८६
अदअ	अदय	निर्दय	८३
अदत्त	अदत्त	नहीं दिया हुआ	२०८
अदीणवयण	अदीन वचन	दीनता-रहित वचन	३०५
अधम्म	अधर्म	अधर्म द्रव्य, पाप कार्य	३१
अद्ध	अर्ध	आधा	१७
अद्धद्ध	अर्धार्ध	आधेका आधा, चौथाई	१७
अद्धवह	अर्धपथ	अर्ध-मार्ग	३०६
अपज्जत्त	अपर्याप्त	पर्याप्तियोंकी पूर्णतासे रहित, असमर्थ	१३
अपत्त	अपात्र	अयोग्य, पात्रता-रहित	२२३
अपवेस	अप्रवेश	प्रवेशका अभाव	२४
अप्प	आत्मा, अल्प, आप्त	आत्मा, आप्त, पिता, बाप	२४१, २८५
अप्पमत्त	अप्रमत्त	सातवाँ गुणस्थान	५१६
अप्पा	आत्मा	जीव	३०२
अपुट्ठ	{ अपृष्ट अस्पृष्ट	{ नहीं पूछा हुआ, नहीं छुआ हुआ	३०१
अपुण्ण	अपूर्ण	अधूरा	१५३
अपुव्वकरण	अपूर्वकरण	परिणाम विशेष, आठवाँ गुणस्थान	५१८
अफरस	अस्पर्श	स्पर्शका अभाव	३२७
अब्भंग	अभ्यंग	तैल-मर्दन, मालिश	३३८
अब्भुट्ठाण	अभ्युत्थान	आदरके लिए खड़ा होना	३२८
अब्भुदय	अभ्युदय	उन्नति, उदय, स्वर्गीय सुखोंकी प्राप्ति	३७१
अभिभूय	अभिभूत	पराभूत, पराजित	१२६

अमिय	अमित	परिमाण-रहित	४३६
	अमृत	सुधा, चन्द्रमा (दे०)	
अमुग	अमुक	वह, कोई	३८४
†**अमुणंत**	अजानन्	नहीं गिन कर, नहीं जान कर	११६
अमूढदिट्ठी	अमूढदृष्टि	सम्यग्दृष्टि, तत्त्वदर्शी	४८
अमेज्झ	अमेध्य	अशुचि वस्तु, विष्टा	८५
अय	अयस्, आयस	लोहा, लोहेसे बना हुआ, आग-पर्वत	२१६
	अज	बकरा	१५४
अयरु	अगुरु	सुगन्धित काष्ठ-विशेष	४२८
अयस	अयश	अपयश	१२७
†**अयाणमाण**	अजानमान	नहीं जानता हुआ	५४६
अयार	अकार	अ-अक्षर	४६५
अरइ	अरति	ग्लानि, बेचैनी	८
अरण्ण	अरण्य	वन, जंगल	६६
अरविंद	अरविंद	कमल	४३६
अरुह	अर्हत, अरुह	पूजाके योग्य, परिग्रह-रहित, जन्म-रहित जन्म नहीं लेनेवाला	३८२
अरूवि	अरूपि	रूप-रहित, अमूर्तिक	१६
†**अलहमाण**	अलभमान	नहीं पाता हुआ	११५
अलाह	अलाभ	अप्राप्ति	२७६
अलि	अलि	भ्रमर	४२८
अलिय	अलीक	असत्य वचन, झूठ, निष्फल, निरर्थक, कपाल	२१०
अलुद्धय	अलुब्धक	लोभ-रहित	२२४
अवगहण	अवगहन	अवलोकन,	५३५
अवगाहण	अवगाहन	अवस्थान, अवगाहन	२७
अवज्ज	अवद्य	पाप, निन्दनीय	६३
अवतिण्ण	अवतीर्ण	पार उतरा हुआ	५४२
अवमाण	अपमान	तिरस्कार	१२५
अवर	अपर, अवर	दूसरा, पाश्चात्य, हीन, तुच्छ	७
अवराजिय	अपराजित	कल्पातीत विमान	४६२
अवराण्हिय	अपराह्णिक	सायंकालिक	२८४
अवराह	अपराध	कसूर, अपराध (दे०) कटी, कमर	१४६
अवस	अवश	पराधीन	७०
अवसाण	अवसान	अन्त	२८१
अवसारिय	अपसारित	दूर किया हुआ, खींचा हुआ	४३७
अवसेस	अवशेष	अवशिष्ट, बाकी	२७१
अवाय	अवाय	ज्ञान विशेष	२६
अव्वावाह	अव्याबाध	बाधा-रहित	५३५
अविच्छिण्ण	अविच्छिन्न	विच्छेद-रहित	३५४
अविभागी	अविभागी	विभाग-रहित	१६
अविरइ	अविरति	असंयम	३९
अविरयसम्माइट्ठी	अविरतसम्यग्दृष्टि	चतुर्थगुणस्थानवर्ती	२२२

अविवाग	अविपाक	फल-रहित	४३
असई	असती	कुलटा	११६
असण	अशन	भोजन	८१
असप्पलाव	असत्प्रलाप	मिथ्या बकबाद	११४
असब्भाव	असद्भाव	यथार्थताका अभाव	३८३
असब्भावट्ठवणा	असद्भावस्थापना	अतदाकार स्थापना	३८४
असरीर	अशरीर	शरीर-रहित	११
असाय	असात	साता-रहित	१०१
अस्सिणी	अश्विनी	नक्षत्र विशेष	३६६
असुह	अशुभ, असुख	बुरा, दुःख	३६
असुइ	अशुचि	अपवित्र	८०
असुहावह	अशुभावह	दुःखजनक	१३५
असेस	अशेष	समस्त	१
असोय	अशोक	वृक्षविशेष	४३१
असंख	असंख्य	संख्या-रहित	१७६
असंखेज्जय	असंख्येय	गिननेके अयोग्य	१७६
असंजद	असंयत	अविरत,संयम-रहित	३४६
*अह	अथ, अघ, अहन्, अधः	अब, पाप, दिन, नीचे	११८
अहवा	अथवा	विकल्प	२७७
अहिय	अहित, अधिक,अधीत,	अहितकर, शत्रु, अधीर, पठित, विशेष	१८६
अहिव	अधिप	स्वामी, मुखिया	१२६
अहियरण	अधिकरण	आधार	४६
*अहिभूसिय	अभिभूषित, *अभिभूष्य	आभूषण-युक्त, आभूषण पहन कर	३६५
अहिमुह	अभिमुख,	संमुख	२७४
अहियार	अधिकार	आधिपत्य	३१२
अहिलास	अभिलाष	इच्छा	११२
अहिसित्त	अभिषिक्त	अभिषेक किया गया	१
अहिसेय	अभिषेक	विशेष स्नान	४६१
अहोलोय	अधोलोक	पाताल-भुवन	१७१
अहोविहाय	अधोविभाग	नीचेका भाग	४६०

आ

आइण्ण	आकीर्ण	व्याप्त	७८
आइरिय	आचार्य	गुरु, विद्वान्	५४५
आउ	आयु	उम्र	१५
आउल	आकुल	व्यग्र	१६६
आऊ	आयु	जीवन-काल	१७३
*आऊरिऊण	आपूर्य	पूरा करके	५१७
आगम	आगम	शास्त्र	६
आगर	आकर	खानि	४१०
आगरसुद्धि	आकरशुद्धि	खानिमें प्रतिमाकी शुद्धि	४४३
आगास	आकाश	गगन	३१

आणय	आनक	वाद्यविशेष	४१३
आणा	आज्ञा	उपदेश, निर्देश	३४३
आदणास	आत्मनाश	अपना विनाश, आत्मघात	३१७
आदा	आत्मा	जीव	१०५
आदिज्ज	आदेय	उपादेय, ग्रहण करने योग्य	३३२
आभूसण	आभूषण	आभरण, गहना, जेवर	५०२
आमलय	आमलक	आँवला	४४१
आमोय	आमोद	हर्ष, सुगन्ध	२५७
आयरक्ख	आत्मरक्ष	अंग-रक्षक	४२६
आयवत्त	आतपत्र	छत्र, आर्यावर्त्त	४१६
आयास	आकाश, आयास	नभ, परिश्रम	४७२
आयंबिल	आचाम्ल	तप-विशेष	३५१
आरक्खिय	आरक्षक	कोटवाल	१०६
आरोवण	आरोपण	ऊपर चढ़ाना	१०६
***आलोइऊण**	आलोच्य	आलोचना करके	२७२
आवत्त	आवर्त	चक्राकार भ्रमण, भँवर	६०
आवस्सय	आवश्यक	नित्य कर्तव्य	४०
आसय	आशय	अभिप्राय, निकट, आश्रय, सहारा, आलंबन	५४३
आसव	आसव, आस्रव	मद्य, कर्मों का आना	१०
आसा	आशा	उम्मेद, दिशा	४२७
आसाढ	आषाढ़	मास-विशेष	३५३
आसामुह	आशामुख	दिशामुख	२५७
***आसिय**	आश्रित्य	आश्रय पाकर	२८
	आश्विक	अश्व-शिक्षक	
	आशित	खिलाया हुआ	
	आसित	बैठा हुआ	
आसज्ज	आसज्य,	सजकर	५४२
***आसिज्ज**	आसाद्य	आश्रय पा करके	
आहार	आहार	भोजन	६८
आहरण	आभरण	भूषण	२१६
	आ + हरण	चोरी करना बुलाना	
आहरणगिह	आभरण-गृह	शृंगार-सदन	५०२
आहरिऊण	आहार्य	आहार ग्रहण कर	१३६

इ

इक्खु	इक्षु	ईख	४५४
‡इच्चाइ	इत्यादि	प्रभृति, वगैरह	५०
इट्ठ	इष्ट	अभिलषित	६२
इणिंहह	इदानीम्	इस समय, अब	२४४
इत्थि	स्त्री	नारी	६८
इत्थिकहा	स्त्रीकथा	स्त्रियोंकी कथा	१६७
इत्थिवेय	स्त्रीवेद	स्त्रीलिंग	३२१

इत्थिसेवा	स्त्री-सेवा	स्त्री-सेवन	२१२
इंद	{ इन्द्र इन्द्रक	{ देवोंका स्वामी स्वर्ग वा नरकका मध्यवर्ती विमान	१७१
इंदभूइ	इन्द्रभूति	गौतम गणधर	३
इंदिय	इन्द्रिय	जाननेका द्वार	६६
इयर	इतर	दूसरा	३४

ई

ईसत्त	ईशत्व	दूसरेपर प्रभाव डालनेवाली ऋद्धि विशेष	५१३
ईसरिय	ऐश्वर्य		५११

उ

उक्कत्तण	उत्कर्त्तन	काटना	१८०
उक्कस्स	उत्कर्ष	उत्तम, गर्व	१७३
उक्किट्ठ	उत्कृष्ट	उत्तम, श्रेष्ठ	२५८
उग्ग	उग्र	तीव्र, तेज, प्रबल	४३८
उच्चत्त	उच्चत्व	ऊँचापना	२५६
उच्चट्ठाण	उच्चस्थान	ऊँचा आसन	२२५
*उच्चाइऊण	उत्थापयित्वा	ऊँचा उठाकर	४१६
उच्चार	उच्चार	मल, उच्चारण, उच्चार (दे०) निर्मल, स्वच्छ	३३६
*उच्चारिऊण	उच्चार्य	उच्चारण कर	४६४
उचिय	उचित	योग्य, अनुरूप	४५५
उच्छाह	उत्साह	उत्कंठा, उत्सुकता, पराक्रम, सामर्थ्य	४१५
उच्छिट्ठ	उच्छिष्ट	जूठा	८८
उज्जय	उद्यत	उद्युक्त, प्रयत्नशील	५१८
उज्जम	उद्यम	उद्योग, प्रयत्न	२६३
उज्जल	उज्ज्वल	निर्मल, स्वच्छ	३३२
उज्जवण	उद्यपन, उद्यापन	व्रतका समाप्ति-कार्य	३५८
उज्जाण	उद्यान	उपवन, बगीचा	१२६
उज्जोय	उद्योत, उद्योग	प्रकाश, उद्यम	२५६
उट्ठण	उत्थान	ऊँचा करना	५०१
*उट्ठित्ता	उत्थाय	उठाकर	२८७
उड्ढ	ऊर्ध्व	ऊपर	१६७
उड्ढलोय	ऊर्ध्वलोक	उपरितन भुवन, ऊपरका लोक	४६१
उड्ढगमण	ऊर्ध्वगमन	ऊपर जाना	५३६
उणवण्ण	ऊनपंचाशत्	उनंचास	३६२
उण्ह	उष्ण	गर्म	१६२
उत्त	उक्त	कहा हुआ	२८६
उत्तत्त	उत्तप्त	संतप्त	२६०
उत्तमंग	उत्तमांग	शिर, श्रेष्ठ अंग	४६३
उत्तुंग	उत्तुंग	ऊँचा, उन्नत	२५८
उदयागय	उदयागत	उदयमें आया हुआ	२००

उद्दिट्ठ	उद्दिष्ट	संकल्पित, कथित	४
उद्दिट्ठपिंडविरअ	उद्दिष्टपिंडविरत	संकल्पित भोजनका त्यागी	३१३
उंदुर	उन्दुर	मूषक, चूहा	३१५
उप्पण्ण	उत्पन्न	उद्भूत	१४५
उप्पत्ति	उत्पत्ति	प्रादुर्भाव	४५२
उप्पल	उत्पल	कमल	४३१
***उप्पज्जिऊण**	उत्पद्य	उत्पन्न होकर	१६२
उप्पह	उत्पथ	उन्मार्ग, कुमार्ग	१०२
***उप्पाइऊण**	उत्पाद्य	उत्पन्न होकर	२६८
उब्भिण्ण	उद्भिन्न	अंकुरित, खड़ा हुआ	४१४
***उब्भिय**	ऊर्ध्वित, ऊर्ध्वीकृत	ऊँचा किया हुआ	४१६
***उल्लोचिऊण**	उल्लोकयित्वा	चँदोवा तानकर	३९८
उवओग	उपयोग	चैतन्य, परिणाम	२८४
उवकरण	उपकरण	पूजाके वर्तन, साधन, सामग्री	३२६
उवगूहण	उपगूहन	प्रच्छन्न, रक्षण, सम्यक्त्वका पाँचवाँ अंग	४८
उवयरण	उपकरण	सामग्री	३०२
उवयार	उपकार	भलाई, परोपकार	३५
	उपचार	पूजा, आदर, गौण	३२०
उवयारिय	औपचारिक	उपचारसे संबंध रखनेवाला	३२५
उवलंभ	उपलम्भ, उपालंभ	प्राप्ति, उपालंभ, उलाहना	२७
उवरि	उपरि	ऊपर	३९५
उवरोह	उपरोध	आग्रह, अड़चन	११६
उवहि	उदधि; उपधि	समुद्र, परिग्रह; उपाधि, माया	३६
उववाय	उपपाद	देव या नारकियोंका जन्म	१३७
उववादगिह	उपपादगृह	प्रसूति-भवन	४९५
उववेद	उपपेत	युक्त, सहित	३८६
उववास	उपवास	भोजनका त्याग	२८३
उवेद	उपेत	संयुक्त	३९०
उव्वट्टण	उद्वर्तन	उबटन, शरीरके मैलको दूर करनेवाला द्रव्य	२९६
उवत्तण	,,	उद्वर्तन करना, क्षीण करना	३३६
उव्वट्टिय	उद्वर्तित	किसी गतिसे बाहर निकलना	५०६
†उव्वहंत	उद्वहन्त	धारण करना	६६
उवसम	उपशम	कषायका अभाव	१९१
उवसोहिय	उपशोभित	सुशोभित	३९५
उसिण	उष्ण	गर्म	१३८
उस्सिय	उच्छ्रित, उत्सृत	ऊँचा किया हुआ	५०५
उवहारड्ढ	उपहाराढ्य	उपहारसे युक्त	३९४
उवाय	उपाय	साधन	११४
उवासयज्झयण	उपासकाध्ययन	श्रावकाचार	२१३
उम्बर	उदुम्बर	गूलरका फल या वृक्ष	५०

ऊ

ऊसर	ऊषर	क्षारभूमि, जिसमें अन्न उपज न हो	२४२

ए

एइंदिय	एकेन्द्रिय	एक स्पर्शन-इन्द्रियवाला जीव	२०१
एक्केक्क	एकैक	एक-एक	५१६
एग	एक	एक	३१
एगचक्कणयर	एकचक्रनगर	इस नामका नगरविशेष	१२७
एगिंदिय	एकेन्द्रिय	एक इन्द्रियवाला	१६६
‡एण्हिं	इदानीम्	अब	२३२
‡एत्तिय	एतावान्	इतना	१७६
एत्तियमेत्त	एतावन्मात्र	इतना ही	४४५
‡एत्तो	इतः	इससे, इस कारण	२०६
एय	एक	एक	२५
एयखित्त	एकक्षेत्र	एक अखंड स्थान	२४
एयट्ठाण	एकस्थान	व्रतविशेष	२५१
एयभत्त	एकभक्त	तपविशेष	२६२
एयभिक्ख	एक-भिक्षा	एक बार गोचरी	३०६
एयारस	एकादश	ग्यारह	५
एयारसी	एकादशी	तिथिविशेष	३६६
एयंतर	एकान्तर	एक दिनके अन्तरसे	२७६
एरावण	ऐरावत	इन्द्रका हस्ती	१६८
‡एरिस	ईदृश	ऐसा	५६
	एतादृश	इस प्रकारका	३८७
एसणा	एषणा	अन्वेषण, निर्दोष आहारकी खोज	२३१
एसणसुद्धी	एषणासुद्धि	भोजनकी शुद्धि	२२४

ओ

ओसह	औषध	दवा	२३३
ओसहियरिद्धी	औषधर्द्धि	औषध-सिद्धिवाली ऋद्धिविशेष	५१२
ओह	ओघ	समूह	३३२
ओहिणाय	अवधिज्ञान	रूपी पदार्थको जाननेवाला अतीन्द्रिय ज्ञान	५०१

अं

अंगण	अङ्गण	आँगन, चौक	७१
अंजन	अञ्जन	कज्जल	३७३
अंजलि	अञ्जलि	हाथका संपुट	३६८
अंडय	अंडक	अंडकोश	८१
अंतराय	अन्तराय	विघ्न, रुकावट डालनेवाला कार्य	५२५
अंतोमुहुत्त	अन्तर्मुहूर्त्त	मुहूर्त्तके भीतरका समय	४९६
अंधयार	अन्धकार	अँधेरा	४३७
अंबर	अम्बर	आकाश, वस्त्र	२०
अंबुरासि	अम्बुराशि	समुद्र	५४४
अंबुरुह	अम्बुरुह	कमल	४७२

क

‡कइया	कदाचित्	किसी समय	१६८
{ कक्कस { कक्कड	कर्कश	कठोर, परुष, निष्ठुर कंकर-पत्थर, कड़ा कठिन	२२६ १३७
कचणार	कचनार	वृक्षविशेष	४३२
कच्चोल	कच्चोलक	पात्रविशेष, प्याला	२५५
कज्ज	कार्य	प्रयोजन, कर्त्तव्य, उद्देश्य, काम	२३६
कण	कण	लेश, ओदन, दाना	२३०
कणय	कनक	स्वर्ण, विल्ववृक्ष धतूरेका वृक्ष	२६०
{ कणयार { कण्णियार	कर्णिकार	{ कनेरका वृक्ष { कनेरका फूल	४३१
कणवीर	कर्णवीर	कनेरका वृक्ष	४३२
{ कण्णिय { कण्णिया	कर्णिका	कमलका बीजकोश, मध्य भाग	४०५ ४७४
{ कत्ता { कत्तार	कर्ता	करनेवाला	२४ ३६
कत्तिय	कार्त्तिक	कातिकका महीना	३५३
कत्तरि	कर्त्तरी	कैंची	३०२
कप्प	{ कल्प { कल्प्य	युगविशेष देवोंका स्थान	 १६३
कप्पदुम	कल्पद्रुम	कल्पवृक्ष	२५०
कप्पविमाण	कल्पविमान	स्वर्गविमान	४६५
{ कप्पुर { कप्पूर	कर्पूर	कपूर, सुगन्धित द्रव्यविशेष	४३८ ४२७
कम्म	कर्म	जीवके द्वारा किया जानेवाला कार्य	१६
कय	कृत	किया हुआ, कच, केश	५५
‡कया	कदा	कभी	१०१
कयंब	कदम्ब	वृक्षविशेष	४३१
कर	कर	किरण, हस्त	१५७
करकच	क्रकच	शस्त्रविशेष, करोंत	१६७
करड	करट	वाघ-विशेष, काक, व्याघ्र, कबरा, चितकबरा	४११
करण	{ करण { परिणाम	इन्द्रिय, आसन करणविशेष	६६ ५१८
कल	कल, कला	शब्द, मनोहर, कर्दम, धान्य-विशेष	२६३
कलत्त	कलत्र	स्त्री	११२
कलम	कलम	उत्तम धान्य, चोर	४३०
कलमभत्त	कलमभक्त	चाँवल, भात	४३४
कलयल	कलकल	ताम्र-लोहा आदिका रस	१५४
कलंब	कदम्ब	वृक्ष विशेष	१६६
कलस	कलश	घड़ा	३५७
कलाव	कलाप	समूह, जत्था, तूणीर, कंठका आभूषण	४०५
कल्लाण	कल्याण	सुख, मंगल	५०८

कवाड	कपाट	कपाट, एक समुद्घात विशेष	५३१
कवित्थ	कपित्थ	कैथ, एक फल	४४०
कसाय	कषाय	क्रोधादि परिणाम	३९
‡कहं	कथं	कैसे, किसी प्रकार	१७८
कहा	कथा	कहानी, चरित्र	२८५
काउरिस	कापुरिस	कायर पुरुष	३०९
काउस्सग्ग	कायोत्सर्ग	शरीरसे ममत्वका त्याग करना	५१४
***काऊण**	कृत्वा	करके	३४८
कामरूवित्त	कामरूपित्व	इच्छानुसार रूप-परिवर्त्तनकी ऋद्धि	५१३
काय	काय	शरीर	७९
कायकिलेस	कायक्लेश	शरीरको कष्ट देनेवाला तप	३१९
कायव्व	कर्त्तव्य	करने योग्य कार्य	१५
कारावग	कारापक	करानेवाला	३८६
कारिद	कारित	कराया हुआ	७९
कारुय	कारुक	शिल्पी, कारीगर	८८
काल	काल	समय, मरण	२०
कालायरु	कालागुरु	चन्दन विशेष	४३८
काहल	काहल	वाद्य विशेष, महाढक्का	४११
किकवाय	कृकवाक	कुक्कुट, मुर्गा	१६६
***किच्चा**	कृत्वा	करके	२८४
किट्टिम	कृत्रिम	बनाया हुआ	४४६
कित्तण	कीर्त्तन	स्तुति करना	४५३
किमि	कृमि	क्षुद्रकीट	८५
किमिकुल	कृमिकुल	कीट-समूह	१९६
किरिय / **किरिया**	क्रिया	व्यापार, प्रयत्न	२४, ३२
किरियकम्म	क्रियाकर्म	शास्त्रोक्त अनुष्ठान विधान	२८३
किराय	किरात	भील	८८
किलिस्समाण	क्लिश्यमान	क्लेश युक्त होता हुआ	२०२
किलेस	क्लेश	दुःख, पीड़ा	२३६
किव्विस	किल्विष	पाप, नीच देव	१९४
कीड	कीट	जंतु, कीड़ा	३१५
***कुत्थ**	कुत्र	कहाँ, किस स्थानमें	६८
कुभोयभूमि	कुभोगभूमि	कुत्सित भोगभूमि	३६१
कुमुय	कुमुद	चन्द्र-विकाशी कमल	५४०
कुपत्त	कुपात्र	खोटा पात्र	२२३
कुल	कुल वंश	जाति, यूथ	१५
कुलिंग	कुलिंग	मिथ्यामती	३८५
कुवलय	कुवलय	कमल कु + वलय भूमंडल	४२६
कुविअ	कुपित	क्रोधित	७५
+कुव्वंत	कूजन्त	कूलता हुआ	१८८
कुसुम	कुसुम	पुष्प	२२८

कुसुमदाम	कुसुमदाम	पुष्पमाला	२६५
कुसुमाउह	कुसुमायुध	कामदेव	४८५
कुसेसय	कुशेशय	कमल,.	४८५
कूट	कूट	पर्वतका मध्यभाग, नकली, माया, छल	२१६
कूर	{ कूर	भात, ओदन	१८६
	{ क्रूर	निर्दय हिंसक	१७०
केवल	केवल	असहाय, अकेला	२३०
केवलणाण	केवल ज्ञान	क्षायिक ज्ञान	५३८
केस	केश	बाल, क्लेश	६५
कोवीण	कौपीन	लंगोटी	३०१
कोह	क्रोध	रोष	६०
कोहंध	क्रोधान्ध	क्रोधसे अन्धा	६०
कंचण	कांचन	सुवर्ण	२१३
कंत	कान्त	सुन्दर, अभिलषित	४२६
कंतार	कान्तार	अरण्य, जंगल	७८
कंद	कन्द	जमीकन्द, मूल, जड़, स्कन्द कार्तिकेय	२६५
कंदंत	क्रंदन्त	चिल्लाता हुआ	१५७
कंदुत्थ	(देशी)	नीलकमल	४७४
कंदप्प	कन्दर्प	कामदेव, अनंग	१६४
कंदर	कंदरा	गुफा, विवर	१५१
कंस	कांस्य	काँसा, कांसेका पात्र	४३५
कंसताल	कांस्यताल	झालर, वाद्य विशेष	४१२
किंकिणि	किंकिणी	क्षुद्रघंटिका	३६६
:किंचि	किञ्चित्	कुछ, अल्प	१०४
किंकराय	किंकरात	अशोकवृक्ष	४३२
:किंपि	किमपि	कुछ भी	७६
कुंचण	कुञ्चन	सिकोड़ना	२३३
कुंत	कुन्त	शस्त्र विशेष, भाला	१४८
कुंथुंभरि	कुस्तुम्भरी	धणिया	४४५
क्खय	क्षय	विनाश	२६६

ख

खग्ग	खड्ग	तलवार	७४
खचिय	खचित	जटित	४२५
† { **खज्जंत**	खाद्यमान	खाया गया	१८२
{ **खज्जमाण**		खाया जाता हुआ	१८०
खज्जूर	खर्जूर	खजूर,	४४०
खण	क्षण	सबसे छोटा काल	२७६
खणखइमा	क्षणक्षयि	क्षण-विनश्वर	२६
खमण	क्षमण	उपवास, श्रमण, साधु	३५४
खमा	क्षमा	क्षान्ति, पृथ्वी	२२३
***खमिऊण**	क्षन्त्वा, क्षान्त्वा	क्षमा करके	५४८

खयर	खचर	विद्याधर पक्षी	१३१
खर	खर	रासभ, कठोर	१०७
खल	खल	खलिहान, दुर्जन	१०६
†खलंत	स्खलन्त	गिरता हुआ	७३
खवण	क्षपण	क्षय करना	५१८
खवय	क्षपक	क्षय करनेवाला	५१७
खविय	क्षपित	नष्ट किया हुआ	५१५
खाइय	खाद्य	खानेयोग्य	२३४
खाइयसद्दिट्ठी	क्षायिक सद्दृष्टि	क्षायिक सम्यग्दृष्टि	५१२
खार	क्षार	खारा	१६२
खित्त	क्षेत्र	खेत	२४०
खिदि	क्षिति	पृथिवी	१२
खिल्लविल्लजोय	(देशी)	आकस्मिक योग	१७६
***खिवित्ता**	क्षिप्त्वा	क्षेपण कर	२३६
खीणकसाय	क्षीणकषाय	बारहवां गुणस्थान.	५२३
खीर	क्षीर	दूध	२४३
खीरजलहि	क्षीरजलधि	क्षीरसागर	४६८
खीरुवहि	क्षीरोदधि	क्षीरसमुद्र	४७५
खीरोद	क्षीरोद	क्षीरोदधि	४६१
खुहिय	क्षुभित	क्षुब्ध	४११
खेअ	खेद	रंज, शोक	८
खेत्त	क्षेत्र	खेत	२५०
†खेलंत	क्रीडन्त	खेलता हुआ	६०
खोम	क्षौम	रेशमी वस्त्र	२५६
खंति	क्षान्ति	क्षमा	५४३
खंध	स्कन्ध,	कंधा, परमाणुओंका समुदाय	४६१

ग

गइ	गति,	ज्ञान, गमन, जन्मान्तर प्राप्ति	३४२
†गज्जंत	गर्जन्त,	गर्जना करता हुआ,	७५
†गज्जमाण	गर्जमान,	गरजता हुआ,	४११
गब्भ	गर्भ	उदर, उत्पत्तिस्थान	२६४
गब्भावयार	गर्भावतार	गर्भ-कल्याणक	४५३
गमण	गमन	गति,	२१४
***गमिऊण**	गमित्वा	जाकर,	२८८
गयण	गगन	आकाश	८७
गरहा / गरिहा	गर्हा	निन्दा करना,	४६
***गहिऊण**	गृहीत्वा	लेकर	२८३
गहिय	गृहीत	ग्रहण किया हुआ, स्वीकृत, पकड़ा हुआ	७४
गाम	ग्राम	छोटा गाँव, समूह	२११
गिद्ध	गृद्ध	गीध पक्षी	१६६

चक्कवट्टित्त	चक्रवर्त्तित्व	चक्रवर्त्तिपना	३६२
चक्कहर	चक्रधर	चक्री, चक्रका धारक	५०६
***चडाविऊण**	चटापयित्वा	चढ़ाकर	१०७
‡चदुधा	चतुर्धा	चार प्रकार	१६
चम्म	चर्म	चमड़ा	२३०
चमर	चामर	चँवर	४००
चय	चय	समूह, शरीर	४३०
चरण	चरण	संयम, पाद	१५४
चरित्त	चारित्र	व्रत, नियम	३२०
चरिम	चरम	अन्तिम	५२५
चरिया	चर्या	आचरण, गमन, भोजनार्थ विहार	३०६
चलण	चरण	पाद, पाँव	२१८
चलपडिमा	चलप्रतिमा	अस्थिर मूर्ति	४४३
चवण	च्यवन	मरण, पतन	१६५
चाउव्वण्ण	चातुर्वर्ण्य	चार वर्णवाला; मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ	४१५
चाडु	चाटु	खुशामद	६०
***चिट्ठेउं**	स्थातु	ठहरनेके लिए	१८७
चिण्ह	चिन्ह	लाँछन, निशान	४५२
चित्तपडिमा	चित्रप्रतिमा	चित्रगत मूर्ति	४३८
चिरविवत्था	चिरव्यवस्था	चिरस्थायी	२६
चिराउस	चिरायुष्क	दीर्घजीवी	३४५
चिरंतण	चिरंतन	पुरातन	४४६
चिंताउर	चिंतातुर	चिन्तासे पीडित	११४
चीण	चीन	छोटा, चीन देश	२५६
चीणपट्ट	चीनपट्ट	चीनका बना वस्त्र	
चुण्ण	चूर्ण	बारीक पिसा चून	४०५
चुण्णिअ	चूर्णित	चूर्ण, चूर्ण किया गया	१५२
चुद / चुय	च्युत	पतित, गिरा हुआ	२६, ३०
चुलसीइ	चतुरशीति	चौरासी	१७१
चूरण	चूर्ण	चून	१६८
चेइय	चैत्य	प्रतिबिम्ब, स्मारक	२६७
चेइयगिह	चैत्यगृह	चैत्यालय	२७४
चेयणा	चेतना	चैतन्य ज्ञान	२६
चोद्दस	चतुर्दश	चौदह	३७०
चोद्दसी	चतुर्दशी	चौदस तिथि	३७०
चोरिया	चोरिका	चोरी	११०
चंडाल	चाण्डाल	डोम, हत्यारा, बधिक	८८
चंदण	चन्दन	सुगन्धित वृक्ष विशेष	२६७
चंदद्ध	चन्द्रार्ध	अर्ध चन्द्रके समान आभावाला	३६६
चंदह	चन्द्राभ	चन्द्रके समान	४३८

चंदोवम	चन्द्रोपम	चन्द्र तुल्य	२६८
चंपय	चम्पक	वृक्ष विशेष	४३१
चंपा	चम्पा नगरी	मगध देशकी नगरी	५२
चिंतण	चिन्तन	विचार	२८४
चिंताउर	चिन्तातुर	चिन्ताकुल	६८

छ

छट्ठ	षष्ठ	छठा	३७३
छट्ठमाइखवण	षष्ठमादिखवण	दो दिनका उपवास आदि	३५१
छट्ठी	षष्ठी	छठवीं तिथि	३६८
छत्त	छत्र	आतपत्र, छाता	४००
छब्भेय	षड्भेद	छह भेद	१८
छम्मास	षण्मास	छह महीना	१६७
छिण्ण	छिन्न	कटा हुआ	२३०
छिद्द	छिद्र	विवर, छेद	३६
***छिवेउं**	स्पृष्टुं	छूनेके लिए	८५
छुर	क्षुर	छुरा, उस्तरा	३०२
छुह	क्षुधा	भूख	८
छेयण	छेदन	छेदना	६२
छंडिअ / **छंडिय**	मुक्त, त्यक्त	छोड़ा हुआ, मुक्त, परित्यक्त	१८४, ४३०
***छंडिऊण** / ***छंडित्ता**	त्यक्त्वा	छोड़कर	२७१, २६०

ज

जइणा	यतना	सावधानी	२३१
जगपूरण	जगत्पूरण	लोक-पूरण समुद्घात विशेष	५३१
जग्गावणि	यज्ञावनि	यज्ञभूमि	४०४
जणणी	जननी	माता	१८४
जत्त	यत्न	उद्योग, चेष्टा	३०८
†जदो	यतः	जिस कारण	८२
जम	यम	कृतान्त	७४
जम्म	जन्म	उत्पत्ति	८
जम्मण	जन्मन्	उत्पाद	४५२
जम्माहिसेय	जन्माभिषेक	जन्म-कल्याणक	४५३
†जम्हा	यस्मात्	जिससे	३०
जय	जगत्, जय	लोक, विजय	५४६
जयत्तअ	जगत्त्रय	तीन लोक	४६८
जयंत	जयन्त	कल्पातीत-विमान	४६२
जर, जरा	जरा	वृद्धपना	६१
जलणिहि	जलनिधि	समुद्र	५४६
जलहारा	जलधारा	पानीकी धार	४८३
जलहि	जलधि	समुद्र	४८६

जल्लोसहि	जल्लौषधि	शरीरके मलसे रोग दूर करनेवाली ऋद्धि विशेष	३४६
जस	यश	ख्याति	१०५
जसकित्ती	यशःकीर्ति	प्रसिद्धि	३४४
जसस्सी	यशस्वी	यशवान्	४९२
जह	यथा	जैसे, जिस प्रकार	९७
जहण्ण	जघन्य	निकृष्ट	५२८
जहाजोग्ग	यथायोग्य	यथोचित	२४८
जहुत्त	यथोक्त	कहे अनुसार	३७१
जाइ	जाति	जन्म, कुल, गोत्र	७८
जादव	यादव	यदुवंशी	१२६
जायणा	यातना	पीड़ा	१०१
†जायंत	जायमान	उत्पन्न होता हुआ	१८६
‡जावउ	यावत्	जब तक	३६३
‡जावज्जीव	यावज्जीव	जीवन पर्यन्त	१९४
जावारय	यवांकुर	जबारे जौके हरित अंकुर	४२१
जासवण	जपाकुसुम	जपावृक्षका फूल	४३२
जिण	जिन	जिनेन्द्र	१०
जिणक्खाद	जिनाख्यात	जिनेन्द्रके द्वारा कहा हुआ	५०
जिणचेइय	जिनचैत्य	जिनमूर्त्ति	३७३
जिणण्हवण	जिनस्नपन	जिनाभिषेक	४५३
जिणयत्त	जिनदत्त	पंचम अंगमें प्रसिद्ध पुरुष	५५
जिणवरिंद	जिनवरेन्द्र	जिनोंमें श्रेष्ठ	४०
जिणसासण	जिनशासन	जैनमत	३७
जिणालय	जिनालय	जिन-मन्दिर	२७१
जिणिंद	जिनेन्द्र	जिनराज	२
जिब्भा	जिह्वा	जीभ	१६८
जिब्भिंदिय	जिह्वेन्द्रिय	रसना-इन्द्रिय	८२
जीअ	जीव	प्राणी	२७
जीह	जिह्वा	जीभ	४७९
+जीवंत	जीवन्	जीता हुआ	७४
‡जुगव	युगपत्	एक साथ	५२६
जुण्ण	जीर्ण	पुराना	१२६
जुद	युत	संयुक्त	२७
जुद्ध	युद्ध	संग्राम, लड़ाई	१७०
जुय	युत, युग	सहित, जोड़ा	४६५
जुयल	युगल	जोड़ा	२६२
जुव्व	द्यूत	जुआ	६५
जुव्वण	यौवन	जवानी	४९६
जुहिट्ठिर	युधिष्ठिर	ज्येष्ठ पांडव	१२५
जूय	द्यूत	जुआ	६०
जूयंध	द्यूतान्ध	जुआसे अंधा	६३

जूव	द्यूत	जुआ	६४
जूहिया	यूथिका	चमेली	४३२
जोइ	ज्योति, योगी	प्रकाश, साधु	५३२
जोइदुम	ज्योतिद्रुम	प्रकाश करनेवाला कल्पवृक्ष	२५४
जोइस	ज्योतिष्क	ज्योतिषी देव	२५१
जोग	योग	मन, वचन, कायका व्यापार	४३
जोणि	योनि	उत्पत्ति स्थान	१७७
जोय	योग, योग्य	समाधि, लायक	३३६
जोयण	योजन	चार कोश	२१४
जोव्वण	यौवन	जवानी	२६५
जंतु	जन्तु	छोटा प्राणी	२३०
जंपणीय	जंपनीय	कहने योग्य	२१०
जंबु	जम्बु	वृक्ष विशेष, जामुन, जम्बुक-गीदड़	४४१
जंपिय	जल्पित	कहा हुआ	३४७
जंबीर	जम्बीर	निम्बू विशेष, जंबीरी	४४०
		झ	
झमझमंत		झमझम शब्द करता हुआ	४१२
झष	झष	अश्वविशेष, मत्स्य	१४८
झाण	ध्यान	एकाग्र होना, चिन्ता रोकना	१३०
		ट	
टगर	तगर	सुगन्धित वृक्ष विशेष	४३२
टिंटा	(देशी)	जुआ खेलनेका अड्डा	१०७
		ठ	
ठवणा	स्थापना	आरोपण करना	३८३
***ठविऊण**	स्थापयित्वा	स्थापना करके	२२६
ठाण	स्थान	भूमि, जगह, अवकाश	५
†ठाहु	तिष्ठ	ठहरो, ऐसा वचन कहना	२२६
ट्ठिइ	स्थिति	आयु	५०६
ठिइज	स्थितिज	स्थिति-जन्य	१६२
***ठिच्चा**	स्थित्वा	ठहराकर	२८५
ठिदि	स्थिति	उम्र	४१
ठिदिखंड	स्थितिखंड	आयुके खंड, कांडक	५१६
ठिदियरण	स्थितिकरण	स्थितीकरण	४८
ठिय	स्थित	अवस्थित	२२२
		ड	
†डज्झंत	दह्यन्	जलता हुआ	१६२
डोंब	डोम	नीच जाति, चंडाल	८८
		ण	
णई	नदी	सरिता	१६१
णट्ठ	नष्ट	नाशको प्राप्त	२११

‡णत्थि	नास्ति	नहीं है	८४
*णमिऊण	नत्वा	नमस्कार करके	२
णमोक्कार	नमस्कार	नमस्कार मंत्र	४५७
‡णमोत्थु	नमोऽस्तु	नमस्कार हो, ऐसा वचन	२२६
*णमंसित्ता	नमस्कृत्य	प्रणाम करके	२८२
णयण	नयन	आँख	३४४
णयणंदि	नयनन्दि	इस नामके एक आचार्य	५४५
णयर	नगर	शहर	१८७
णयरी	नगरी	पुरी	५५
णर	नर	मनुष्य	६५
णरय	नरक	नारक बिल	१२०
णव	नव	नौ संख्या	४६७
णवगीव	नवग्रैवेयक	कल्पातीत विमान	४६१
णवण	नमन	नमस्कार	२२८
णवमी	नवमी	नवीं तिथि	३६६
णवविह	नवविध	नौ प्रकार	२२५
*णवर	विशेष	केवल, नई बात	२३०
णवयार	नवकार	नमस्कार, नवकार पद	२७७
णवुंसय	नपुंसक	इस नामका वेद, खसिया	५२१
णह	नभ, नख	आकाश, नाखून	२२६,४४६,४७०
णहर	नखर	नख, तीक्ष्ण	१६६
ण्हवण	स्नपन	अभिषेक	४१३
ण्हवणपीठ	स्नपनपीठ	नहानेका आसन	४०७
*ण्हाऊण	स्नात्वा	स्नान करके	५०१
ण्हाण	स्नान	नहाना	२९३
ण्हाणगेह	स्नानगेह	स्नानघर	५०१
*णाऊण	ज्ञात्वा	जानकार	६९
णाडय	नाटक	अभिनय, खेल	४१४
णाण	ज्ञान	बोध	४५२
णाणुवयरण	ज्ञानोपकरण	ज्ञानका साधक अर्थ	३२२
णाम	नाम	एक कर्म, संज्ञा	५२६
णाय	नाग	सर्प, एक वृक्ष विशेष	४३१
णारंग	नारंग	फल विशेष, संतरा, नारंगी	४४०
णाराय	नाराच	वाण	१४१
णारय	नारक	नारकी जीव	१६३
णालिएर	नालिकेर	नारियल	४४०
णाव	नौ	नाव, नौका	३९
णास	न्यास	स्थापन करना, धरोहर	४१९
णासावहार	न्यासापहार	धरोहरको हड़प जाना	१३०
णाह	नाथ	स्वामी	४९२
णाहि	नाभि	शरीरका मध्य भाग	४६०
*णिउयत्तिऊण	निवृत्य	लौटकर	३०५

णिक्कंखा	निःकांक्षा	आकांक्षा रहित, सम्यक्त्वका गुण	४८
णिक्करण	निष्कारण	अकारण	२०९
णिक्खलण	निःखलन	नाक, कान आदि छेदना	१८०
णिक्खमण	निष्क्रमण	निर्गमन, दीक्षार्थ प्रयाण	४५२
णिक्खिवण	निक्षेपण	स्थापन	४८३
णिग्गह	निग्रह	दंड, शिक्षा	४२
णिग्घण	निर्घृण	निर्दय	८१
णिग्घिण	,,	करुणा-रहित	
णिच्च	नित्य	निरन्तर	५८
णिच्छय	निश्चय	निर्णय करना	३५०
णिज्जरण	निर्जरण	झड़ना, विनाश होना	५०
णिज्जरा	निर्जरा	कर्मोंका झड़ना	१०
णिज्जास	निर्यास	रस, निचोड़, गोंद	८२
णिट्ठवण	निष्ठापन	समाप्त करना, पूरा करना	३७७
णिट्ठिय	निष्ठित	समाप्त किया हुआ	५१५
णिट्ठुर	निष्ठुर	कठोर, परुष	२२९
***णिण्णासिऊण**	निर्नाश्य	नाश करके	११९
णित्थर	निस्तर	पार पहुँचना	१५०
णिद्दिट्ठ	निर्दिष्ट	कथित, प्रतिपादित	४०
णिद्दा	निद्रा	नींद	९
णिद्देस	निर्देश	नाममात्र कथन	४६
णिंदणिज्ज	निंदनीय	निन्दाके योग्य	८०
णिंदा	निन्दा	बदनामी	४९
णिप्पण्ण	निष्पन्न	सम्पन्न, पूरा होना	४३८
णिप्पडिवक्ख	निष्प्रतिपक्ष	प्रतिपक्षी-रहित	४९२
णिप्फल	निष्फल	फलरहित	२३९
णिब्बुद्धी	निर्बुद्धि	बुद्धि-रहित	११५
***णिब्भच्छिज्जंत**	निर्भर्त्स्यद्	भर्त्सन किया जाता हुआ	११७
णिमण्ण	निमग्न	तल्लीन	१११
णिय	निज	अपना	३८
णियत्ति	निवृत्ति	प्रवृत्तिका निरोध	२१४
***णियत्ताविऊण**	निवृत्य	लौटाकर	३२६
णियम	नियम	प्रतिज्ञा, व्रत	२२१
***णियमिऊण**	नियम्य	नियमन करके	२८२
णियय	निजक	निजका, अपना	७५
णियर	निकर	समूह	४२५
णियाण	निदान	आगामी-भोग-वाँछा	२०१
णिरय	नरक	नारक भूमि	१२९
णिरवज्ज	निरवद्य	निर्दोष	२२६
णिरवराह	निरपराध	अपराध-रहित	९६
णिरुवम	निरुपम	उपमा-रहित, अनुपम	३८८
णिरोह	निरोध	रुकावट	४२

णिलय	निलय	घर, आश्रय	४६३
णिलाट	ललाट	भाल, कपाल	४६६
णिल्लज्ज	निर्लज्ज	शर्म-रहित	६४
णिल्लोय	नृलोक	मनुष्य-लोक	१६६
णिल्लंछण	निर्लाञ्छन	शरीरके अवयवका छेदना, दागना	१८०
णिव	नृप	नर-पालक, राजा	२६८
†णिवडंत	निपतन्त	गिरता हुआ	१६७
णिवह	निवह	समूह, वैभव	४११
णिव्वाण	निर्वाण	मुक्ति	३६२
णिविज्ज	नैवेद्य	देवार्थ-संकल्पित पक्वान्न	४८६
णिवित्त	निवृत्त	लौटना, हटाना	२६७
***णिविसिऊण**	निविश्य	स्थापन कर, रखकर, बैठकर	४१०
णिव्विग्घ	निर्विघ्न	विघ्न-रहित	२६७
णिव्विदिगिच्छ	निर्विचिकित्सा	ग्लानि-रहित, सम्यक्त्वका गुण	४८
णिव्वियडी	निर्विकृति	निर्विकार भोजनवाला तप	२९२
णिवुण	निपुण	चतुर	१२८
णिवुत्ती	निर्वृत्ति	निष्पत्ति	२१८
णिव्वुइ	निर्वृति	मुक्ति	३३५
†णिव्वुडंत	निमज्जंत	डूबता हुआ	४७२
णिव्वुद	निर्वृत्त	रचित, मुक्त	११
णिव्वेअ	निर्वेद	विरक्ति	४९
णिस्संक	निःशङ्क	शंका-रहित	५२
णिस्संका	निःशङ्का	सम्यक्त्वका गुण	५१
णिस्सास	निःश्वास	दीर्घ सांस	४६७
णिसि	निशि	रात्रि	३१५
णिसिभुत्ति	निशिभुक्ति	रात्रि भोजन	३१४
णिसिभोयण	निशिभोजन	रातका खाना	३०७
***णिसिऊण**	निविश्य, निवेश्य	स्थापन करके	४६९
णिस्संकिय	निःशंकित	शंकामुक्त	३२१
***णिस्सरिऊण**	निःसृत्य	निकल करके	१७८
णिसिही	निशीथिका, नैषेधिकी	स्वाध्यायभूमि, निर्वाणभूमि, नशिया	४५२
णिसुंभण	निशुंभन	व्यापादन करना, कहना	१०९
णिस्सेस	निःशेष	समस्त	४५
णिहि	निधि	भंडार	४७२
णिहिय	निहित	स्थापित	४३५
णीय	नीच	क्षुद्र, ओछा	९१
णील	नील	नीला रंग	१६३
णुय	नुत	नम्रीभूत	४३९
***णेऊण**	नीत्वा	लेजाकर	२८४
णेअ	ज्ञेय	जानने योग्य	२७
णेत्त	नेत्र	आँख	३९८
णेत्तुद्धार	नेत्रोद्धार	आँख निकालना	१०९

णेत्तुम्मीलणपुज्ज	नेत्रोन्मीलन पूजा	प्रतिष्ठा-गत संस्कार-विशेष	४२३
***णेत्तूण**	नीत्वा	लेजाकर	२२६
णेय	ज्ञेय	जानने योग्य	२५
णेमिचंद	नेमिचन्द्र	एक आचार्यका नाम	५४६
णेवज्ज'	नैवेद्य	नेवज, देवतार्थ संकल्पित पक्वान	२२७
णोआगम	नोआगम	द्रव्यनिक्षेपका एक भेद	४५४
णोकसाय	नोकषाय	छोटी कषाय	५२१
णंदावत्त	नन्द्यावर्त्त	एक प्रकारका स्वस्तिक	३९७
णंदीसर	नन्दीश्वर	आठवाँ द्वीप	३७३

त

{ तइज्ज / तइय	तृतीय	तीसरा	२७३ / ५३४
***तओ**	ततः	इसके अनन्तर	१६७
तच्च	तत्त्व	पदार्थ	६
तच्चत्थ	तत्त्वार्थ	सत्यार्थ, तत्त्वरूप पदार्थ	१
तक्खण	तत्क्षण	तत्काल	५००
तणु	तनु	शरीर, कृश	४१४
तणुकिलेस	तनुक्लेश	कायक्लेश	३३७
तणुताव	तनुताप	शारीरिक-संताप	३५१
तण्हा	तृषा, तृष्णा	प्यास, मूर्च्छा	८
तण्हाउर	तृष्णातुर	तृष्णासे पीडित	१८४
तत्त	तप्त	संतप्त	१६६
‡तत्तो	तस्मात्	इसलिए	८३
‡तत्थ	तत्र	वहाँ, कहाँपर	२१५
तद्दिय	तृतीय	तीसरा	२११
तमतमपहा	तमस्तमप्रभा	सप्तम नरक पृथ्वी	१७२
तमभासा	तमोभासा (तमःप्रभा)	षष्ठ नरक पृथ्वी	१७२
‡तम्हा	तस्मात्	इससे	५
तय	तत	वाद्य विशेषका शब्द	२५३
तरणि	तरणी	नौका	५४४
तरु	तरु	वृक्ष	५८
तरुणी	तरुणी	युवती	३४८
तव	तप	तपस्या	४४
तवस्सी	तपस्वी	तपःशील	४३
तविल		तबला, वाद्य विशेष	४१२
तस	त्रस	दो-इन्द्रियादि जीव	५८
‡ { तह / तहा	तथा	उस प्रकार	२०
ताडन	ताडन	मारना	१०, १८०
तामलित्त [illegible]	ताम्रलिप्त	एक प्राचीन नगरी	५५
तारिस	तादृश	वैसा	१४०

ताल	ताल	वृक्ष विशेष	४०
तालवंट	तालवृन्त	पंखा	४००
तासण	त्रासन	पीड़न	१८०
तिउण	त्रिगुण	तिगुना	४७१
तिक्ख	तीक्ष्ण	तेज	१६६
तिण	तृण	तिनका, घास	२६७
तिणचारी	तृणचारी	घास खानेवाला	६६
तित्थ	तीर्थ	पवित्रभूमि	४५०
तित्थयर	तीर्थंकर	तीर्थ-प्रवर्त्तक	३४७
तिदिय	तृतीय	तीसरा	२१९
तिंदु	तैन्दु	तेंदू फल	४४१
तिपल्लाउग	त्रिपल्यायुष्क	तीन पल्यकी आयुवाला	२५८
तिय	त्रय, त्रिया	तीन, स्त्री	२५
तियाल	त्रिकाल	तीनों काल	५२६
तियालजोग	त्रिकालयोग	त्रिसन्ध्य, समाधि	३१२
तिरिक्खाउ	तिर्यगायु	तिर्यंचोंकी आयु	५१५
तिरिम	तिर्यक्	तिरछा	१८१
तिरियगई	तिर्यग्गति	पशुयोनि	१७७
तिरीट	किरीट-मुकुट	शिरका आभूषण	४७१
तिलय	तिलक	चंदन आदिका टीका	३९१
तिलयभूय	तिलकभूत	श्रेष्ठ	३४३
तिलोय	त्रिलोक	तीन लोक	३४७
तिविह	त्रिविध	तीन प्रकार	२२१
तिव्व	तीव्र	तेज	१७६
तिसअ	तृषित, तृषार्त	प्यासा	१८८
तिसट्ठी	त्रिषष्ठि	तिरेसठ	४२२
***तिसट्ठिखुत्त**	त्रिषष्ठिकृत्वा	तिरेसठ वार	३७६
तिसा	तृषा	प्यास	१२६
तिसूल	त्रिशूल	शस्त्रविशेष	१४१
तिसंभ	त्रिसन्ध्य	तीनों काल	४२३
तिहि	तिथि	मिति	३९२
तीद	अतीत	भूत	२२
तीया	तृतीया	तीसरी तिथि	३६८
तुय, तय	त्वक्	छाल, चमड़ा	२९५
तुट्ठी	तुष्टि	संतोष	२२४
***तुरिअ, तुरिय**	त्वरित	तुरन्त	१६२
तुरुक्क	तुरुष्क	सुगन्धित द्रव्य विशेष	४२७
तुंड	तुन्द	मुख	१६६
तूर	तूर, तूर्य	तुरई	२५१
तूरंग	तूर्यांग	वादित्र देनेवाला कल्पवृक्ष	२५३
तेत्तीस	त्रयत्रिंशत्	देवोंकी एक जाति विशेष, तेतीस	१७४
तेय	तेजं	प्रताप	२५८

तेरह	त्रयोदश	तेरह	३७०
तेरसि	त्रयोदशी	तेरहवीं तिथि	२८१
तेवट्ठि	त्रिषष्ठि	तिरेसठ	४३४
तंडुल	तन्दुल	चावल	४३०
तंबय	ताम्रक	ताँबा	१५४
तंबोल	ताम्बूल	पान	२१७
तुंद	तुन्द	मुख	१५८
तोस	तोष	संतोष	७२

थ

थल	स्थल	भूमि	१६६
थाला / थाली	स्थाली	थाली	२५६, ४३५
थावर	स्थावर	एकेन्द्रिय जीव	१२
थिर	स्थिर	अचल	२३
थुइ	स्तुति	गुण-कीर्त्तन	४६६
*थुणिऊण	स्तुत्वा	स्तुति करके	५०३
+थुणिज्जमाण	स्तूयमान	स्तुति किया जाता हुआ	३७८
थुत्त	स्तोत्र	स्तुति-पाठ	५०३
थूल	स्थूल	मोटा	२०६
थूलयड	स्थूलकृत	स्थूल व्रत	२१२
+थुव्वंत	स्तूयमान	स्तुति किया जाता हुआ	५०४
थूलकायजोग	स्थूलकाययोग	औदारिक काययोग	५३३
थूलवय	स्थूल व्रत	एकदेश नियम	२११
थोक	स्तोक	अल्प,	६५
थोग	,,	थोड़ा	२६८
थोव	,,	,,	४८०
थोत्त	स्तोत्र	,,	४५७

द

दक्खिण	दक्षिण	दक्षिणदिशा, निपुण, चतुर, दाहिना	२१४
*दट्ठूण	दृष्ट्वा	देखकर	१६३
दड्ढ	दग्ध	जला हुआ,	१६२
दप्प	दर्प	अहंकार	८६
दप्पण	दर्पण	शीशा, आदर्श	४००
दमण	दमन	वशमें करना, दमन करना	१८०
दलण	दलन	दलना, पीसना	१८०
दया	दया	अनुकम्पा	६८
दव्व	द्रव्य	वस्तु, धन	२८७
दव्वसुद	द्रव्यश्रुत	पुस्तक ग्रन्थ	४५०
दस	दश	संख्या विशेष	१७४
दसय	दशक	दशका समूह	५२५
दसमी	दशमी	तिथि विशेष	३६६
*दसहा	दशधा	दश प्रकार	२५१

दह	दश	दस संख्या	१७३
दहि	दधि	दही	४५४
दहिमुह	दधिमुख	नन्दीश्वरस्थ गिरिविशेष	३७३
***दाऊण**	दत्वा	दे करके	१८६
दाडिम	दाडिम	अनार	४४०
दाण	दान	त्याग	१८६
दाणविहाण	दानविधान	दानके भेद	२१८
दायव्व	दातव्य	देने योग्य वस्तु	२३३
दायार	दातार	देनेवाला	२२०
दार	द्वार, स्त्री	दरवाजा, नारी	३९४
दारुण	दारुण	भयंकर	१८१
***दाविऊण**	दापयित्वा	दिलाकर	४४४
दासत्तण	दासत्व	दासपना	९१
दाहिण	दक्षिण	दाहिना	४६९
दिट्ठ	दृष्ट	देखा हुआ	२५२
दिट्ठि	दृष्टि	नजर, निरीक्षण	३१६
दिढ	दृढ़	मजबूत	४६७
दिणपडिमा ज्जोग	दिनप्रतिमा योग	दिनको प्रतिमावत् होकर ध्यान करना	३१२
दिणयर	दिनकर	सूर्य	४६७
दिण्ण	दत्त	दिया हुआ	२४०
दिणह	दिवस	दिन	२८८
दियंत	दिगंत	दिशान्त	३३२
दिव्व	दिव्य	स्वर्गीय, अनुपम	२५४
दिस, दिसा	दिग् दिशा	दिशा	२७४
दीउज्जोय	दीपोद्योत	दीपकोंका प्रकाश	३१६
दीणमुह	दीनमुख	करुण-वदन	१४२
दीव	दीप	दीपक	२२८
	द्वीप	द्वीप, टापू	२१४
दीवदुम	दीपद्रुम	प्रकाश करनेवाला कल्पवृक्ष	२५५
दीवंग	दीपांग	,,	२५१
दीह	दीर्घ	आयत, लम्बा	१३०
दुक्ख	दुःख	कष्ट	६१
दुग्गइ	दुर्गति	कुगति	५०
दुगंध	दुर्गन्ध	बुरी गंध	१९६
दुचरिम	द्विचरम	उपान्त्य, अन्तिम क्षणसे पूर्वका समय	५२४
दुच्चित्त	दुश्चित्त	खोटा मन	१२३
दुट्ठ	दुष्ट, द्विष्ठ	द्वेषयुक्त, दो में स्थित	१८०
दुद्ध	दुग्ध	दूध	४३४
दुण्णि	द्वौ	दो	२५
दुप्परिणाम	दुष्परिणाम	दुर्विपाक	३२६
दुरायार	दुराचार	दुष्ट आचरण	१४२
दुरेह	द्विरेफ	भ्रमर, भँवरा	४७०

दुवार	द्वार, द्विवार	दरवाजा, दो बार	३६५
दुविह	द्विविध	दो प्रकार	२१
दुवियप्प	द्विविकल्प	दो विकल्प	३१३
दुहावह	दुखावह	दुःखपूर्ण	२४२
देउलय	देवालय	देव-मन्दिर	१२०
देवत्त	देवत्व	देवपना	२६४
देवत्तण			१६१
देविंद	देवेन्द्र	सुरेन्द्र	३३४
देस	देश	अंश	१७
	प्रान्त	प्रान्त, भाग	२१५
देसविरद	देशविरत	पाँचवाँ गुणस्थान	४
देसविरदं		देश संयम	३५०
देसिअ	देशित	उपदिष्ट	२
दोस	द्वेष	दूषण, द्वेष, ईर्ष्या	२१०
	दोष, दोषा	द्रोह, दोष (दे०) हाथ, बाहु,	८
दंड	दण्ड, पाप	सजा, निग्रह, कुकृत्य	५३१
दंत	दन्त	दाँत	१६८
दंसण	दर्शन	देखना, उपयोग-विशेष	२२१, २७
दंसण-सावय	दार्शनिक श्रावक	प्रथम प्रतिमाधारी	२०६

ध

+धग धगंत		धक्-धक् आवाज करता हुआ	१०३
धण	धन	विभव	२१२
धण्ण	धन्य, धान्य	भाग्यशाली, अन्न विशेष	२१३
धणु	धनुष	चाप	२५८
धम्म	धर्म	द्रव्यविशेष, पुण्य, कर्त्तव्य	३१,२
धम्मज्झाण	धर्मध्यान	शुभध्यान	५१६
धम्म-लाह	धर्मलाभ	आशीर्वचन	३०४
धम्मिल्ल	धम्मिल्ल	केश, वृक्ष विशेष	३०२
धय	ध्वज	पताका	३६६
धराइय	धरादिक	पृथ्वी आदि	१८
***धरिऊण, धरेऊण**	धृत्वा	धारण कर	२७७
धरेऊणं			११८
धरिय	धरित,धृत, धृत्वा	धारण किया हुआ, धर करके	९५
धवल	धवल	उज्ज्वल श्वेत	४२५
धवलिय	धवलित	श्वेत किया हुआ	३३२
धिग्	धिक्	धिक्कार	२०५
+धुव्वंत	धूयमान	फहराती हुई	३६४
+धूयमाण	धूयमान	कँपते हुए	४१६
धूलीकलसहिसेय	धूलीकलशाभिषेक	मृत्तिका-स्नान	४०८
धूव	धूप	हवनयोग्य सुगंधित द्रव्य	२२८
धूवदहण	धूपदहन	धूप जलानेका पात्र	४४२

धोय	धौत	प्रक्षालित, धोया हुआ	५४६
धोवण	धोवन	प्रक्षालन, धोना	५३९

प

पइट्ठ	प्रतिष्ठ, प्रविष्ट	प्रतिष्ठा, प्रवेश हुआ	३८६
पइट्ठिय	प्रतिष्ठित	प्रतिष्ठा-प्राप्त	१३
पइट्ठयाल	प्रतिष्ठाकाल	प्रतिष्ठा-समय	३५६
पइट्ठलक्खण	प्रतिष्ठालक्षण	प्रतिष्ठा-लक्षण	३८६
पइट्ठसत्थ	प्रतिष्ठाशास्त्र	प्रतिष्ठा-शास्त्र	३९६
पइट्ठा	प्रतिष्ठा	स्थापना	३५६
पइट्ठाइरिय	प्रतिष्ठाचार्य	प्रतिष्ठा करानेवाला आचार्य	३८९
पइण्ण	प्रकीर्ण	प्रक्षिप्त, विस्तीर्ण, प्रतीर्ण,	२४०
पईव	प्रदीप, प्रतीप	दीपक, प्रतीप-प्रतिकूल, शत्रु	४८७
पउर	प्रचुर, पौर	बहुत, पुर-सम्बन्धी, नगरमें रहनेवाला	६१
पउलण	प्रज्वलन	जलाना	१८०
पएस	प्रदेश	अविभागी क्षेत्रांश	४१
पक्कण्ण	पक्वान्न	पकवान	३५७
*पक्खालिऊण	प्रक्षाल्य	प्रक्षालन करके	२८२
पच्चक्ख	प्रत्यक्ष	विशद, स्पष्ट, अतीन्द्रिय ज्ञान	१२३
पच्चक्खाण	प्रत्याख्यान	त्यागका नियम	३१०
पच्चूस	प्रत्यूष	प्रभातकाल	२८७
‡पच्चेलिउ	प्रत्युत	वैपरीत्य, बल्कि	११८
‡पच्छा	पश्चात्	पीछे, अनन्तर	३६२
पच्छिम	पश्चिम	एक दिशा, पिछला	२१४
पज्जत्त	पर्याप्त	पर्याप्तिसे युक्त, समर्थ, शक्तिमान्	१३
पज्जत्ति	पर्याप्ति	शक्ति, सामर्थ्य	१३६
पज्जयप्पय	पर्यायात्मक	पर्यायस्वरूप	५२६
पज्जाय	पर्याय	एकक्षणभावी अवस्थाविशेष	५२८
पज्जलिय	प्रज्वलित	दग्ध, जलाया हुआ	१६०
पट्ट	पट्ट	पहननेका वस्त्र, रथ्या, मुहल्ला, रेशमी कपड़ा, सनका कपड़ा, पाट, अधिकारपत्र, काष्ट-पाषाणका फलक, तख्ता, ललाटपर बाँधनेका पट्टा।	२५६
पट्टण	पत्तन	नगर	२१०
पट्ठवण	प्रस्थापन	प्रारम्भ	३७७
पुट्ठि	पृष्ठ	पीठ	१५७
पउम	पद्म	कमल	४३१
पड	पट	वस्त्र	४२०
पडण	पतन	गिरना	१५०
पडल	पटल	समूह, संघात, वृन्द	४३७
पडाया	पताका	ध्वजा	४९२

‡पडि	प्रति	विरोध, विशेषता, वीप्सा, प्रत्यावर्त्तन, प्रतिदान, बदला, प्रतिनिधिपना, प्रतिषेध, प्रतिकूलता, समीपता, अधिकता, सदृशता, लघुता, प्रशस्तता, वर्त्तमानता आदि सूचक अव्यय	३५४
पडिगहण	प्रतिग्रहण	बदलेमें लेना	२२५
पडिचीण	प्रतिचीन	चीनी वस्त्र या चीनी वस्त्र-जैसा	३६८
पडिजग्गण	प्रतिजागरण	जागने वालेके पीछे तक जागना	३३६
पडिबुज्झिऊण	प्रतिबुध्य	प्रतिबुद्ध होकर, जागकर	४६८
पडिबिंब	प्रतिबिम्ब	प्रतिमा, प्रतिच्छाया	४४४
पडिमा	प्रतिमा	मूर्त्ति	३६०
पडिय	पतित	गिरा हुआ	६१
पडियरण	प्रतिचरण	सेवा-शुश्रूषा	३२२
पडिलिहणं	प्रतिलिखन	प्रति-लेखन, निरीक्षण	३२६
पडिलेवपडिमा	प्रतिलिपप्रतिमा	लेपकी हुई मूर्त्ति	४४४
*पडिलेहिऊण	प्रतिलेख्य	प्रतिलेखन करके	२८५
*पडिवज्जिऊण	प्रतिपद्य	प्राप्त होकर	५१८
पडिवा	प्रतिपत्	एकम तिथि	३६८
पढम	प्रथम	पहला	३८३
पणम	प्रणम, प्रणाम	नमस्कार	२२५
पणस	पनस	फल-विशेष	४४०
पणिवाय	प्रणिपात	नमन, वंदन	३२४
पण्ण	पर्ण	पत्र, पत्ती	४२१
पण्णत्त	प्रज्ञप्त	निरूपित, कथित	२१
पण्णरस	पंचदश	पन्द्रह	३७०
पण्णास	पञ्चाशत	पचास	५४६
पत्त	पत्र	दल, पत्ता	२६५
	पात्र	दान देने योग्य, अतिथि, भाजन, वर्तन	२२१, ३०७
	प्राप्त	मिला हुआ	३३
पत्तंतर	पात्रान्तर	पात्र-संबंधी भेद	२२०
पत्तेय	प्रत्येक	एक-एक	१३
पत्थ	पथ्य	हितकर भोजन	२३६
पत्थणा	प्रार्थना	अभिलाषा, याचना, मांगना	११६
पमत्तठाण	प्रमत्तस्थान	छठा गुणस्थान	५१६
पमाण	प्रमाण	सम्यग्ज्ञान, सादर, मान, योग्य	६
पय	पद	विभक्त्यन्त पद, चरण	१,४३०
	पयस्	दूध, जल,	
पयड	प्रकट	व्यक्त	५१५
पयडि	प्रकृति	स्वभाव, मार्ग (दे०)	३०२
पयत्त	प्रयत्न	चेष्टा, उद्यम, प्रवृत्त, प्रदत्त	३७
पयत्थ	पदार्थ	पदका विषयभूत अर्थ	५६
	पदस्थ	ध्यान-विशेष	४५८
पयभट्ट	पदभ्रष्ट	स्थान-च्युत	१२७

पयर	{ प्रतर { प्रकर	एक समुद्घात, पत्राकार, गणित विशेष समूह	५३१
पयला	प्रचला	निद्राविशेष, एक कर्म	५२४
पयाश्र	प्रताप	तेज	३४५
पयार	प्रकार	भेद, रीति	२५०
पयास	{ प्रकाश { प्रयास	दीप्ति उद्यम	२५४
पयासिय	प्रकाशित	प्रकाश किया हुआ	१४
पयाहिण	प्रदक्षिणा	दाहिनी ओर घूमना	४१८
पर	पर	प्रधान, श्रेष्ठ, अन्य	६४
‡परदो	परतः	अनन्तर, आगे	२१४
परमट्ठ	परमार्थ	यथार्थ, सत्य	२१
परमाणु	परमाणु	सबसे छोटा पुद्गलका अंश	१७
परमेट्ठी	परमेष्ठी	परम पदमें स्थित—अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु	२७५
परयार	परदार	परस्त्री	५६
परसमयविदू	परसमयविज्ञ	परमतका ज्ञाता	५४२
परस्स	परस्व	पर-धन	१०२
पराहुत्त	पराङ्मुख	विमुख, पराभूत, अपमानित	१६०
परिउट्ठ	परिवृत्त	वेष्टित	४७३
परिग्गह	परिग्रह	धनादिका संग्रह	४
परिणय	परिणत, परिणय	परिपक्व, विवाह	३५
परिणइ	परिणति	परिणमन	२८
परित्थी	परस्त्री	पराई स्त्री	१६४
परिभोय	परिभोग	जिसका वार-वार उपभोग किया जाय	२१८
परियत्त	परिवर्त्त	परिभ्रमण	५१७
परियत्तण	परिवर्त्तन	,,	३३८
परियरिय	परिकरित	परिवृत्त, परिवेष्टित	४५६
परियंत	पर्यन्त	समीप	४६१
परिरक्खा	परिरक्षा	सर्व ओरसे रक्षा	३३८
परिवाडी	परिपाटी	परम्परा	३
परिवुड	परिवृत्त	घिरा हुआ	४०६
†परिवेवमाण	परिवेप्यमान	कंपता हुआ	१२१
परिसम	परिश्रम	मेहनत	२३६
परिसेस	परिशेष	अवशेष	८६
परिहि	परिधि	घेरा, परकोटा	४८२
परूवय	प्ररूपक	निरूपण करनेवाला	६
परोक्ख	परोक्ष	अविशद ज्ञान, पीठ पीछे	३२५
पलायमाण	पलायमान	भागता हुआ	६५
पलाव	प्रलाप	अनर्थक-भाषण, बकवाद	१४२
पल्ल	पल्य	माप-विशेष	२५६
पल्लाउग	पल्यायुष्क	एक पल्यकी आयुका धारक	२६०

पलियंक	पर्यङ्क	पद्मासन, पलंग	५१३
पवयण	प्रवचन	उत्तम वचन, जिन-प्रणीत शास्त्र	५५१
पवर	प्रवर	श्रेष्ठ, उत्तम	४८६
पवयणण्णू	प्रवचनज्ञ	शास्त्रज्ञ	५४५
पवणमग्गट्ठ	पवनमार्गस्थ, गगनस्थ	अधर-स्थित, अन्तरीक्ष	४७३
पवाल	प्रवाल	नव-अंकुर, मूंगा	४२५
पवित्त	पवित्र	निर्दोष	२२८
पव्व	पर्व	व्रतका दिन, उत्सव, त्योहार, ग्रन्थि, गाँठ	२१२
पव्वय	पर्वत	पहाड़	३
पसरण	प्रसरण	विस्तार	५३२
पसारण	प्रसारण	फैलाना	३३८
पसाय	प्रसाद	कृपा, प्रसन्नता	५४५
पसूण	प्रसून	पुष्प	५८
पस्सवण	प्रस्रवण	मूत्र, पेशाब	७२
पस्सिय	दृष्ट्वा	देखकर	५१०
पहाय	प्रभात	प्रातःकाल	४२२
पहाव	प्रभाव	शक्ति-सामर्थ्य	५०५
पहावणा	प्रभावना	गौरव या प्रभाव बढ़ाना	४८
पहुइ	प्रभृति	इत्यादि	२७
पहोह	प्रभौघ	प्रभा-पुंज	४३६
पाउग्ग	प्रायोग्य	अतियोग्य	५१७
***पाएण**	प्रायेण	प्रायः करके	८५
पाओदय	पादोदक	चरण-जल	२२८
पाग	पाक	विपाक, उदय	१६१
पाठय	पाठक	अध्यापक, उपाध्याय	३८०
***पाडिऊण**	पातयित्वा	गिराकर	१६६
पाडिहेर	प्रातिहार्य	देवकृत पूजा-विशेष	२७८
पाण	{ प्राण	जीवनका आधार	२३४
	पान	पीनेकी वस्तु	१८०
पाणय	पानक	पेय द्रव्य	२५२
पाणाइवायविरइ	प्राणातिपातविरति	अहिंसाणुव्रत	२०८
पाणि	{ प्राणी	जीव	८७
	पाणि	हाथ	१०६
पाणिय	पानीय, पेय	जल	४४
पाणिपत्त	पाणिपात्र	हाथ ही जिनका पात्र हो	३१०
पाणिवह	प्राणि-वध	जीव-घात	२१०
पादोदय	पादोदक	चरण-जल	२२५
पाय	पाद	पैर	१०६
पायर	पाकर	एक क्षीरी वृक्ष	५८
पायव	पादप	वृक्ष	२५३
पारण, पारणा	पारणा	उपवासके दूसरे दिनका भोजन	२८८
पारंगअ	पारंगत	पारको प्राप्त	५४३

पारिजातय	पारिजातक	कल्प वृक्ष	४२६
पारद्धि	पारर्द्धि	आखेट, शिकार	१००
पारसिय	पारसीक	पारसी-जातीय	८६
पाव	पाप	बुरा कार्य	८०
पाविट्ठ	पापिष्ठ	पापी	८३
पावरोय	पापरोग	कुष्ट, कोढ़	१८७
पावण	प्रापण	प्राप्ति, लाभ	५१३
पाहण	पाषाण	पत्थर	२७
पाविऊण	प्राप्य	पा करके	१३०
पास	पाश	जाल	२१६
	पार्श्व	समीप	६७
पासाय	प्रासाद	भवन	२५४
पासुय	प्रासुक	जीव-रहित	४०२
पासुग		अचित्त	३०७
पिच्छ	पिच्छ, पुच्छा	पीछी, मोरपंख, पूछना	३११
+पिच्छंता	प्रेक्ष्यन्तः	देखते हुए	११०
+पिच्छमाण	प्रेक्ष्यमाण	देखते हुए	४१६
पिंजर	पिंजर	पिंजरा	४२६
पिट्ठि	पृष्ठ	पीठ	३३८
पिंडत्थ	पिंडस्थ	ध्यान विशेष, धर्मध्यानका प्रथम भेद	४५८
पित्तल	पित्तल	पीतल	३९०
पिय	पिक, प्रिय	कोकिल, पक्व, प्यारा	५८
पियर	पितर, पिता	बाप, संरक्षक	६२
पिल्लय	स्तनन्धय	पिल्ला, बच्चा	१८०
पिहु	पृथु	विस्तीर्ण	४०५
पीडिय	पीडित	दुःखित	२३६
पीपल	पिप्पल	पीपलका वृक्ष और फल	५८
पुग्गल	पुद्गल	अचेतन मूर्त्तिक द्रव्य	१७
पुज्ज	पूज्य	सम्मान्य	३२७
	पूजा	अर्चा	२८७
पुज्जण	पूजन	अर्चन	३१६
पुट्ठ	पृष्ठ	पिछला भाग	३००
पुट्ठि	पृष्ठ	पीठ	१००
पुट्ठियर	पुष्टिकर	पौष्टिक	२५२
पुढवी, पुढिवी	पृथिवी	जमीन	१७१
*पुण	पुनः	फिर, अनन्तर	१६६
पुण्ण	पुण्य	सुकृत, शुभकर्म	४०
	पूर्ण	पूरा	३९५
पुण्णिमा	पूर्णिमा	पूर्णमासी	३७०
पुण्णंकुर	पुण्यांकुर	पुण्यके अंकुर	४२६
पुण्णिंदु	पूर्णेन्दु	पूर्ण चन्द्र	५८
पुण्णेंदु	पूर्णेन्दु	पूर्ण चन्द्र	२५६

पुत्त	पुत्र	सुत	१८८
पुत्थय	पुस्तक	पोथी	३६२
पुप्फ	पुष्प	फूल	२१७ ३८२
पुप्फंजलि	पुष्पाञ्जलि	फूलोंकी अंजुलि	२२६
पुरिस	पुरुष	मनुष्य	२५६
†पुरम्रो	पुरतः	आगे	२२६
पुव्व	पूर्व	पूर्व दिशा	७
पुव्वाहरणा	पूर्वाभरणा	पूर्वरूप आभूषणवाली	३६१
पुहवी	पृथिवी	धरित्री	४६०
पूइ	पूति	दुर्गन्धित वस्तु, पीव	१६८
पूइफल	पूँगीफल	सुपारी	४४१
पूय	पूजा	अर्चा	२८८
	पूत	पवित्र	१३५
पूया	पूजा	अर्चा	३८१
पोक्खणविहि	प्रोक्षणविधि	प्रतिष्ठा-सम्बंधी क्रियाविशेष	४०६
पोत्थय	पुस्तक	सजिल्द शास्त्र	३५५
पोसह	प्रोषध	पर्वके दिनका उपवास	२७६
पंकय	पंकज	कमल	४३३
पंगण	प्राङ्गण	आंगन	३०४
पंच	पंच	पाँच संख्या	२५
पंचमी	पंचमी	तिथि-विशेष	३७१
पंचविह	पंचविध	पाँच प्रकारका	१२
पंचिंदिय	पंचेन्द्रिय	पाँचों इन्द्रियवाला जीव	१७६
पंति	पंक्ति	श्रेणी	३७४

फ

फग्गुण	फाल्गुण	मास-विशेष, फागुन	३५३
फरुस	परुष	कठोर	१३५
फल	फल	फल, अंतिम परिणाम	२६५
फलिह	स्फटिक	मणि-विशेष	४७२
फुड	स्फुट	स्पष्ट, व्यक्त	८४
फुरिय	स्फुरित	दीप्त, कम्पित	४६५
फोडण	स्फोटन	विदारण	१६८

ब

बज्झ	बाह्य	बाहिर, बहिरंग, बन्धन, बद्ध,	१८६
बत्तीस	द्वात्रिंशत्	बत्तीस	२६३
बद्धाउग	बद्धायुष्क	जिसकी पहले आयु बँध चुकी हो	२४६
बला	बलात्	जबरदस्ती	११८
बलिवत्ति	बलिवर्ति	भेंट या पूजामें चढ़ानेकी बत्ती	४२१
बहिर	बधिर	बहरा	२३५
बहिणी	भगिनी	बहिन	७६

बहु	बहु	बहुत, अधिक	७७
बहुसो	बहुशः	बार-बार	७७
बायर	बादर	स्थूल	५३३
बारस, बारह	द्वादश	बारह संख्या	२७६
बालत्तण	बालत्व	बालपन	१८७
बाहत्तरि	द्वासप्तति	बहत्तर	२६३
बाहिअ	व्याधित	पीड़ित	१८६
बिंब	बिम्ब	छाया, मूर्त्ति	४४०
बीय	बीज	बोनेका अन्न	२९५
*बोहव्व	बोधव्य	जानने योग्य	३७
बंधण	बन्धन	बन्धन	१८१
*बंधिऊण, *बंधित्ता	बध्वा	बाँध करके	१०६, ५१४
बंधु	बन्धु	रिस्तेदार	१९७
बंभचेर	ब्रह्मचर्य	काम-निग्रह, शील-पालन	२०८
बंभयारी	ब्रह्मचारी	काम-विजयी	२१२

भ

भक्ख	भक्ष्य	खाने योग्य	४३८
*भक्खंत	भक्षयन्	खाता हुआ	१८७
*भणिऊण	भणित्वा	कह कर	३०४
*भणिज्जमाण	भण्यमान	कहा जानेवाला	३
भणिय	भणित	कहा गया	१९
भत्त	भक्त	भात	३३९
भत्ति, भत्ती	भक्ति	श्रद्धा, अनुराग	४९
भद्द	भद्र	कल्याण	२४५
*भमित्ता	भ्रमित्वा	भ्रमण कर	५४३
भयणिज्ज	भजनीय	विकल्प-योग्य	५३०
भयभीद	भयभीत	डरा हुआ	११०
भयविट्ठ	भयाविष्ट	भय-युक्त	१०३
भरिय	भृत, भरित	भरा हुआ	८५
भविय	भव्य	मोक्ष जानेके योग्य	२
भव्वयण	भव्यजन	भव्य जीव	५४२
भागी	भाग्यी	भाग्यवान्	
भावच्चण	भावार्चन	भाव-पूजन	४५६
भावमह	भावमह	भावपूजा	४५६
भायण	भाजन	पात्र, बर्त्तन	३०३
भायणदुम	भाजनद्रुम	कल्पवृक्ष-विशेष	२५५
भायणंग	भाजनांग	कल्पवृक्ष-विशेष	२५१
भारारोपण	भारारोपण	भारका लादना	१८१
भासण	भाषण	कथन	३२७
भिक्ख	भिक्षा	भीख	३०६

भिण्ण	भिन्न	अन्य, भिन्न किया गया	१५७
भिंगार	भृंगार	भाजन-विशेष, झारी	४००
भुक्ख	क्षुधा	भूख	१८१
भुक्खिय	क्षुधित	भूखा	१८८
***भुंजिवि** / ***भुंजिऊण** / ***भुत्तूण**	भुक्त्वा	खाकर, भोगकर	५४१, २६७
भुयंग	भुजंग	सर्प, विट (लुच्चा), जुआरी, बदमाश, गुंडा	३१५
भूअ	भूत	प्राणी, अतीत काल, उपमा	३५
भूसण	भूषण	गहना	२५१
भूसणदुम	भूषणद्रुम	आभूषण-दाता कल्पवृक्ष-विशेष	२५३
भूसा	भूषा	आभूषण-सज्जा	३९६
भेअ	भेद	प्रकार	२३३
भेय	भेद	भाग	२२०
भेयण	भेदन	छेदन	१८०
भेरी	भेरी	वाद्य-विशेष	४११
भेसज	भैषज्य	औषधि	२३६
***भोत्तुं**	भोक्तुं	भोगनेके लिए, खानेके लिए	८५
***भोत्तूण**	भुक्त्वा	खाकर, भोगकर	३९२
भोय	भोग	एकबार सेवन योग्य	३९२
भोयअ	भोक्ता	भोगनेवाला	३६
भोयण	भोजन	आहार	२८१
भोयणंग	भोजनांग	आहार-दाता कल्पवृक्ष-विशेष	२५१
भोयणरुक्ख	भोजनवृक्ष	,,	२५६
भोयभूमि	भोगभूमि	सुख-मही	२४५
भोयविरइ	भोगविरति	भोग-निवृत्ति	२१६
भोया	भोक्ता	भोगनेवाला	३६
भंड	भण्ड, भाण्ड	अश्लील-भाषी, पात्र, बर्तन	४०१
भंस	भ्रंश	गिरना	१२५

म

मइ	मति	बुद्धि	३४२
मउड	मुकुट	मौलि, मस्तक-भूषण	२५३
मअ	मद	गर्व, अहंकार	८
मग्ग	मार्ग	रास्ता	४२४
मग्गण	मार्गणा	अन्वेषण	१५
मचकुंद	मचकुन्द	वृक्ष विशेष	४३२
मच्छिय	माक्षिक	मधु	८१
मज्ज	मद्य	शराब	८६
मज्जंग	मद्यांग	पय-द्रव्य-दाता कल्पवृक्ष-विशेष	२५२
मज्झ	मध्य	बीच	३१५
मज्झिम	मध्यम	मध्यवर्ती	२२१

मट्टिया	मृत्तिका	मिट्टी	२६१
मण	मन	हृदय	७६
मणहारि	मनोहारि	चित्तहारी	३४८
मणि	मणि	रत्न	३९०
मणुअ	मनुज	मनुष्य	२६०
मणुयत्त	मनुजत्व	मनुष्यत्व	१८५
मणुयत्तण	मनुजत्व	मनुष्यता	१८६
मणुयलोय	मनुजलोक	मनुष्य-लोक	१९०
मणुस्स	मनुष्य	मानव	१८०
मणोरण	मनोज्ञ	सुन्दर	३३७
मत्त	{ मत्त	उन्मत्त, पागल	७१
	{ मात्र	केवल	१६८
मद्दण	मर्दन	मालिश	३२८
मद्दल	मर्दल	वाद्यविशेष	४०९
मद्दव	मार्दव	अभिमानका अभाव	२८७
मय	मद	गर्व, नशा	७६
मयणफल	मदनफल	मैनफल	४२०
मरगय	मरकत	पन्ना-मणि	४२५
{ ***मरिऊण**			२६४
{ **मरित्ता**	मृत्वा	मर करके	१२९
मलण	मलन	मर्दन	१८०
मलिण	मलिन	मैला	१९५
मल्ल	माल्य	माला	२९३
मल्लिया	मल्लिका	पुष्पविशेष	४३२
{ **महड्ढि**			२६६
{ **महड्ढिय**	महर्द्धिक	बड़ी ऋद्धिवाला	१९२
महण	मथन	विलोडन	४६५
महप्पा	महात्मा	बड़ा पुरुष	१९८
महिय	महित, मह्य	पूजित, पूज्य	४३३
महियल	महीतल	भूतल	११२
महिला	महिला	स्त्री	९७
महिविट्ठ	महीपृष्ठ	भूपृष्ठ	१३७
महु	मधु	क्षौद्र, शहद	८२
महुरण्ण	मधुरान्न	मिष्टान्न	४०२
महुरा	मथुरा	मथुरा नगरी	५५
मागह	मागध	मगध देश, बंदीजन	५४
माण	{ मान	माप विशेष	
	{ मान	एक कषाय	६०
माणस	मानस	चित्त, अभिप्राय	१७६
माणस्सिद	मानसिक	मन-संबंधी	३३६
{ **माय**	माता	जननी	६२
{ **मायर, माया**			६७

माया	माया	छल	६०
मायबीय	मायाबीज	'ह्रीं' बीजाक्षर	४७१
मालई	मालती	वृक्ष विशेष, पुष्प	४३१
मालादुम	माल्यद्रुम	माला-दाता कल्पवृक्ष विशेष	२५७
मालंग	माल्यांग	" "	२५१
माहप्प	माहात्म्य	महिमा	११०
मिच्चु, मिच्चू	मृत्यु	मौत	२६४
मिच्छत्त	मिथ्यात्व	मिथ्यादर्शन	२०२
मिच्छाइट्ठी	मिथ्यादृष्टि	मिथ्यात्वी जीव	२४८
मिट्ठ	मिष्ट	मीठा	४४१
मित्त	मात्र	केवल	१६२
मित्त	मित्र	सुहृद्	६२
मित्तभाव	मित्रभाव	मैत्री	३३६
मिय	मित	परिमित	३३७
मिस्स	मिश्र	मिला हुआ	४२७
मिस्सपूजा	मिश्रपूजा	सचित्त-अचित्तपूजा	४५६
मुअ	मृत	मरा हुआ	१२७
मुक्क	मुक्त	सिद्ध, छूटा हुआ	६५
मुक्ख	मुख्य	प्रधान	४०८
मुक्खकज्ज	मुख्य कार्य	प्रधान कार्य	२१
मुग्गर	मुद्गर	एक अस्त्र	१६७
मुच्छ	मूर्च्छा	मोह	२९६
***मुणिऊण**	मत्वा	जानकर	२६१
मुणेयव्व	मन्तव्य	मानने योग्य	१४
मुत्त	मूर्त	रूपी	२३
मुत्तादाम	मुक्तादाम	मोतियोंकी माला	३९६
मुत्ताहल	मुक्ताफल	मोती	३६०
मुत्ति	मुक्ति	सिद्धि	३४७
मुह	मुख	मुँह	२७४
मुहर	मुखर	वाचाल, बकवादी	४२८
मुहसुद्धि	मुखशुद्धि	मुखकी शुद्धि	२९१
मुहका	मुखरा	वाचाल स्त्री	४९८
मुसल	मुशल	एक आयुध	१६७
मुहुत्त	मुहूर्त्त	दो घड़ी या ४८ मिनिटका समय	३६२
मूय	मूक	गूँगा	२३५
मेत्त	मात्र	प्रमित	२७१
मेहावी	मेधावी	बुद्धिमान्	२४४
मेहिय	निर्वृत्त (देशी)	रचे गये	४३३
मेहुण	मैथुन	संभोग	२९६
मोक्ख	मोक्ष	मुक्ति, छुटकारा	१०
मोइय	मोदित	प्रसन्न, मोचित, छुड़वाया हुआ	२५७
मोत्तिय	मौक्तिक	मोतियों से बना	४२५

मुत्ता, मोत्तुं मोत्तूण	मुक्त्वा	छोड़कर	३४ ६०
मोय	मोच	मोचा, केला	४४०
मोरबंध	मयूरबन्ध	एक प्रकारका बन्धन	१०६
मोस	मृषा	मोष, चोरी, असत्य भाषण	६७
मोहिय	मोहित	मुग्ध हुआ	३१६
मंडअ	मंडप	सभास्थान	३६३
मंडलिय	माण्डलिक	राजा	२६६
मंडलीय	मंडलीक	मंडलका स्वामी, राजेन्द्र	३३४
मंतर	मंत्र	गुप्त सलाह, कार्य साधक बीजाक्षर	४१६
मंदार	मन्दार	कल्पवृक्ष विशेष	४३१
मंस	मांस	गोश्त	५६

र

रति	रति	प्रीति, प्रेम	६८
*रइऊण	रचयित्वा	रचकर	३६७
रइय	रचित	निर्मित	५४
रक्ख	रक्ष, राक्षस	निशाचर, क्रव्याद	१२७
*रक्खिउं	रक्षितुं	रक्षा करनेके लिए	२००
रज्ज	राज्य	राजाका अधिकृत प्रदेश	१२५
+रडंत	रटन्त	शब्द करता हुआ	१६६
रत्त	रक्त	लाल वर्ण, अनुराग युक्त	८६
रत्ति	रात्रि	रात	८८
रथ्था	रथ्या	कुल्या, गली	७१
रद्	रद	दांत	६५
रम्म	रम्य	रम्य, रमणीय	४१३
+रमंत	रमन्त	क्रीड़ा करते हुए	६४
रयण	रचना	सृष्टि	४३७
	रत्न	जवाहरात	१२६
रयणत्तय	रत्नत्रय	सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरित्र	४६८
रयणप्पह	रत्नप्रभा	नरक पृथिवी	१७२
रयणि	रजनि	रात्रि	२८६
रजय	रजत	चाँदी	४२५
रहस्स	रहस्य	प्रायश्चित्त	३१२
रहिय	रहित	विवर्जित	६
राअ	राग	प्रेम, प्रीति	८
राइभत्त	रात्रिभक्त	रात्रि-भोजन	४
राइभुत्ति	रात्रिभुक्ति	रात्रि-भोजन	३१८
राय	राग	प्रेम	३१६
राय	राज्य	राजाका अधिकृत प्रदेश	५१०
रायगिह	राजगृह	मगध देशकी राजधानी	५२
राया	राजा	भूपति	१२५

राव	राव	शब्द	४२८
रिक्ख	ऋक्ष	रीछ	३६३
रिद्धि	ऋद्धि	सिद्धि	१६२
रिसि	ऋषि	साधु	३३०
रुक्ख	वृक्ष	पेड़	४२१
रुट्ठ	रुष्ट	रोषयुक्त	१४२
रुद्द	रौद्र	कुध्यान, भयानक	२२८
रुद्ददत्त	रुद्रदत्त	व्यक्ति विशेषका नाम	१३३
रुद्दवरणयर	रुद्रवरनगर	एक प्राचीन नगर	५३
रुद्ध	रुद्ध	रुका हुआ	४४
रुप्पय	रूप्यक	चाँदीका बना	३६०
रुप्पय, रुप्पि	रौप्यक	रुपया	४३५
***रुंभित्ता**	रुन्ध्वा	रोककर	५३४
रुयण	रुदन	रोना	१४४
रुहिर	रुधिर	रक्त, खून	१६६
रूव	रूप	वर्ण	३१
रूवत्थ	रूपस्थ	एक प्रकारका ध्यान	४५८
रूववज्जिय	रूपवर्जित	रूपातीत धर्मध्यानका एक भेद	४५८
रूवि	रूपी	मूर्तिक	१६
रेवई	रेवती	चौथे अंगमें प्रसिद्ध रानी	५३
रेह	रेफ, रेखा	रकार, पंक्ति, श्रेणि	४६५
रेहा	रेखा	चिह्न विशेष, लकीर	४७०
रोड	द्ररिद्र	निर्धन	२३५
रोम	रोम	बाल, केश	२३०
रोय	रोग	बीमारी	१८६
***रोवंत**	रुदन्	रोता हुआ	१६५
रोसाइट्ठ	रोषाविष्ट	क्रोधित	१४५
रोहण	रोधन	रोकना, अटकाना	१८१
रोहिणी	रोहिणी	एक नक्षत्र	३६३
रंजिअ	रंजित	राग-युक्त	१४३

ल

लउडि	लकुटि	लकड़ी	७५
लक्ख	लक्ष	लाख संख्या	१७७
लक्खण	लक्षण	चिह्न विशेष	२६३
लग्ग	लग्न	मेष आदि राशिका उदय	३६२
लच्छी	लक्ष्मी	सम्पत्ति, वैभव	५१०
लच्छीहर	लक्ष्मीधर	लक्ष्मीका धारक, वासुदेव	५४५
***लज्जणिज्ज**	लज्जनीय	लज्जाके योग्य	७७
लद्धि	लब्धि	क्षयोपशम विशेष, यौगिक शक्ति, ऋद्धि	५२६
***लद्धूण**	लब्ध्वा	प्राप्त करके	१६३
ललाट	ललाट	मस्तक, भाल	४६२

लहिऊण	लब्ध्वा	पाकर	२६६
लावण्ण	लावण्य	सौन्दर्य	४८६
लाह	लाभ	प्राप्ति, नफा, फायदा	२७६
लाहव	लाघव	लघुता	५४३
***लिहाविऊण**	लिखाप्य	लिखकर	३५५
लुद्धय	लुब्धक	भील	८२
लेव	लेप	लेपन, द्रव्य	४८३
लोइय	लौकिक	सांसारिक	८७
लोग	लोक	भुवन	८३
लोच	लौंच	लोचना, केशोंका उखाड़ना	३१०
लोय	लोक	विष्टप, संसार	६५
लोयग्ग	लोकाग्र	लोक-शिखर	५३६
लोयायास	लोकाकाश	जीवादि द्रव्योंके रहनेका स्थान	२१
लोह	लोभ	एक कषाय	६०
लोहंड	लोह + अंड	लोहेका गोला	१३८
लंकेस	लंकेश	रावण	१३१
***लंघित्ता**	लङ्घयित्वा	उल्लंघन करके	१४३
लंछण	लांछन	चिह्न	१७६

व

वइतरणी	वैतरणी	नरककी नदी	१६१
वउल	बकुल	वृक्ष-विशेष	४३१
†वक्खमाण	वक्ष्यमाण	आगे कहा जानेवाला	४२४
वग	बक, वृक	एक मांस-भक्षी राजा, भेड़िया	१२७
वचिजोग	वचोयोग	वचन-योग	५३३
वच्छल्ल	वात्सल्य	अनुराग, प्रेम	४८
वज्ज	वज्र	एक अस्त्र विशेष, हीरकमणि	१६६
वज्ज	वाद्य	एक बाजा	२५३
वज्जकुमार	वज्रकुमार	एक राजकुमार	५५
वज्जण	वर्जन	परित्याग	२०७
वज्जसरीरसंहणण	वज्रशरीरसंहनन	वज्रमय शरीर संहनन	२६२
वज्जाउह	वज्रायुध	इन्द्र	१६८
***वज्जिअ**	वर्ज्य	छोड़कर	६
वज्जिय	वर्जित	रहित	७
वज्जिऊण	वर्जयित्वा	छोड़कर	३२४
वट्ट	वृत्त	गोल	१३६
वट्टण	वर्तना	प्रतिक्षण बदलना	२०
वड	वट	बड़का पेड़	५८
वडाअ	पताका	ध्वजा	३६४
वडिलिय	पटलित	पटलोंसे युक्त	४००
वण्ण	वर्ण	रूप	४०५
वणप्फइ	वनस्पति	लता, गुल्मादि	१२

वणिगसुदा	वणिक्सुता	वैश्य-पुत्री	५२
वण्णिअ / वण्णिय	वर्णित	जिसका वर्णन किया गया हो	६४
वत्ति	वर्त्ति	बत्ती	४३८
वत्थ	वस्त्र	कपड़ा	२७१
वत्थंग	वस्त्रांग	एक कल्पवृक्ष	२५१
वत्थदुम	वस्त्रद्रुम	वस्त्र-दाता, वस्त्र देनेवाला कल्पवृक्ष	२५६
वत्थहर	वस्त्रधर	वस्त्रका धारक	२६१
वप्प	वप्ता, बाप	बोनेवाला, पिता	१०४
वराडय / वरालय	वराटक	कौड़ी	३८४
वय	व्रत	नियम, त्याग	२४
वयण	वचन	वचन, वाणी	२१०
वयण	वदन	मुख	४६८
वयसावय	व्रतिकश्रावक	द्वितीय प्रतिमाधारी	२०६
वलइय	वलयित	वलयाकार, वलयको प्राप्त	४७०
ववहार	व्यवहार	एकनय, आचरण, व्यापार	२१
वसण	वसन	निवास	१२५
वसित्त	वशित्व	वशमें करनेवाली ऋद्धि	५१३
वसुणंदि	वसुनन्दि	प्रस्तुत ग्रन्थके निर्माता आचार्यका नाम	५४६
वसुदेव	वसुदेव	कृष्णके पिता	३४८
वसंगद	वशगत	वशको प्राप्त	७७
वामदिट्ठी	वामदृष्टि	मिथ्यादृष्टि	२४६
वाउ	वायु	पवन	१२
वच्चिअ	वाच्चिक	वचन-सम्बन्धी	२२८
वायण	वाचन	सूत्रपाठ, वांचना	२८४
वायर	बादर	स्थूल	१३
वायरलोह	बादर-लोभ	नवम गुणस्थानका नाम	५२२
वायस	वायस	काक	१६६
वारवई	द्वारावती	कृष्णपुरी	३४६
वारस	द्वादश	बारह	३७०
वारसी	द्वादशी	तिथि-विशेष	३७०
वारिसेण	वारिषेण	श्रेणिक-पुत्र	५४
वालुय	बालुका	रेत	१६६
वालुप्पहा	बालुप्रभा	नरक-भूमि	१७२
वावत्तरि	द्वासप्तति	बहत्तर	५३५
वाविय	उप्त	बोया गया	२४१
वावी	वापी	बावड़ी	५०१
वास, वस्स	वर्ष	साल, संवत्सर	३६३
वासिय	वासित	सुगन्धित	४०४
वासि	वासि	वसूला	२७६
वासुदेव	वासुदेव	कृष्ण	३४६

वासुपुज्ज	वासुपूज्य	बारहवें तीर्थंकर	३६४
वाहण	वाहन	सवारी	१६४
वाहि	व्याधि	शारीरिक रोग	२३६
विइअ	द्वितीय	दूसरा	३१०
विउण	द्विगुण	दुगुना	३५६
विउल	विपुल	अधिक, बहुत	३६५
विउलगिरि	विपुलगिरि	विपुलाचल	३
विउव्वण	विगूर्वण	विक्रिया	५१२
विओग / **विओय**	वियोग	विछुड़ना	३१, १७६
विकत्तण	विकर्तन	कतरना	६२
विक्कय	विक्रय	बेचना	२१३
विकिंचण	व्याकुंचन	विवेचन, दूर करना	३३६
विचिट्ठ	विचेष्ट	नाना चेष्टाएँ	७१
विजय	विजय	कल्पातीत विमान-विशेष	४६२
विजइअ	विजयी	विजेता	४६२
विंजण	व्यञ्जन	वर्ण, अक्षर, पकवान, मशा आदि चिह्न,	४३४
विज्जा	विद्या	शास्त्र-ज्ञान	३३५
विज्जाविच्च	वैयावृत्य	सेवा-शुश्रूषा	३४६
विणअ	विनय	नम्रता, भक्ति	३१६
विणिवाय	विनिपात	विनाश, प्रणिपात	६७
विणीय	विनीत	नम्र, विनय-युक्त	२६३
*****विणेऊण**	विनीय	व्यतीत कर	५०६
विणोय	विनोद	मनोरंजन	५०६
विण्णाण	विज्ञान	विशेष ज्ञान	२२४
विण्हु	विष्णु	कृष्ण, देवता विशेष	५४
वितय	वितत	वाद्यका स्वर विशेष	२५३
*****वित्थारिऊण**	विस्तरयित्वा	विस्तार करके	२५७
विदण्णू	विप्र	जानकार	३८८
विदिय	द्वितीय	दूसरा	२१८
विदिस	विदिग्	विदिशा	२१४
विप्प	विप्र	ब्राह्मण	८४
विप्पओय	विप्रयोग	वियोग	२६५
†**विप्फुरंत**	विस्फुरन्त	स्फुरायमान	४५६
विब्भम	विभ्रम	विलास, विपरीत ज्ञान	४१४
विंभिय	विस्मित	चित्त-भ्रम, आश्चर्यको प्राप्त	४६८
विरयाविरय	विरताविरत	संयतासंयत	२६५
विरह	विरह	वियोग	२८
विलक्ख	विलक्ष	लज्जित	११७
†**विलवमाण**			२०१
विलप्पमाण	विलपमान	विलाप करता हुआ	१६३

*विमग्गित्ता	विमार्गयित्वा	अन्वेषण करके	२२६
विमाणपंती	विमानपंक्ति	विमानोंकी श्रेणी	३७७
विमुक्क	विमुक्त	छूटा हुआ	७
विम्हअ	विस्मय	आश्चर्य	८
विवज्जिय	विवर्जित	रहित	५
विवरीय	विपरीत	उलटा	४०
विविह	विविध	नाना प्रकार	२५७
वियक्खण	विचक्षण	बुद्धिमान्	१३१
वियड्ढ	विदग्ध	चतुर, निपुण	५४७
वियप्पय	विकल्प	भेद	४०६
*वियप्पिऊण	विकल्प्य	विकल्प करके	४६०
वियलिंदिय	विकलेन्द्रिय	द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव	१७८
वियार	विकार	विकृत भाव	४१४
वियोय	वियोग	विछोह	१८३
विलित्त	विलिप्त	अत्यन्त लिप्त	४०३
विलोयण	विलोकन	देखना	२६
विल्ल	विल्व	वेलफल	४४१
विस	विष	हलाहल, जहर	६५
विसण	व्यसन	बुरी आदत	१३२
विसय	विषय	गोचर-योग्य	२६
विसहर	विषधर	सर्प	२८३
विसाअ	विषाद	रंज, खेद	६
विसुद्ध	विशुद्ध	अत्यन्त शुद्ध	३८२
विसुद्धमाण	विशुध्यमान	विशुद्ध होता हुआ	५१६
{ विसोहि / विसोही	विशोधि	विशुद्ध	५० / ५२०
विस्सास	विश्वास	प्रतीति	६४
विहव	विभव	समृद्धि	४२१
विहाण	विधान	निर्देश	२३२
*विहरिऊण	विहृत्य	विहार करके	५२८
विहि	विधि	रीति	३७६
वीचि	वीचि	तरंग	६१
वीणा	वीणा	वाद्य-विशेष	४१३
वीभच्छ	वीभत्स	भयानक	८५
वीया	द्वितीया	दोज, दूसरी तिथि	३६८
वीरचरिया	वीरचर्या	सिंह-वृत्तिसे गोचरी करना	३१२
वीरिय	वीर्य	वल, पराक्रम	५२७
वीस	विंशति	बीस	१७४
वीसरिय	विस्मृत	भूला हुआ	२१०
वुड्डण	ब्रुडन्	डूबना, डुबकी लगाना	५०१
वुड्ढ	वृद्ध	बूढ़ा	३२४
वुब्वुय	बुद्बुद	बबूला	३६६

{ वेइ	वेदी	वेदिका	४०५
{ वेइय	वेदिका	गोलाकृति उच्च भूमिका	४०१
वेजयंत	वैजयन्त	विमान विशेष	४६२
*वेढिऊण	वेष्टयित्वा	वेष्टित करके	४७१
वेदगसद्दिट्ठी	वेदकसम्यग्दृष्टि	क्षायोपशमिक-सम्यक्त्वी	५१६
*वेदंत	वेदयन्	अनुभव करता हुआ	५२३
वेयणीय	वेदनीय	एक कर्म	५२६
वेर	वैर	विरोध, शत्रुता	१७०
वेरग्ग	वैराग्य	उदासीनता	२६७
{ वेसा { वेस्सा	वेश्या	बाजारू स्त्री	१६४ ८८
वोसरण	व्युत्सर्जन	परित्याग	२७१
वंचण	वंचन	छलना	८६
वंजण	व्यञ्जन	वर्ण, चिह्न, पकवान	३४
वंजणपज्जाय	व्यंजनपर्याय	स्थूल पर्याय	२६
वंद	वृन्द	समूह	३६६
वंदण	वन्दना	{ वन्दना	२७५, ३६५
वंदणमाला	वदनमाला		
वंभ	ब्रह्म	आत्म स्वरूप	४
वंभण	ब्राह्मण	विप्र, द्विज	६७
वंभयारी	ब्रह्मचारी	कामनिग्रही	२९७
वंस	वंश	कुल, गोत्र, अन्वय	४१३

स

सइ	सकृत्	एक बार	३०३
*सईऊण	शयित्वा	सो कर	२८६
सक्क	शक्र	इन्द्र	४०४
सक्कर	शर्करा	बालु, शक्कर	२६१
सक्करप्पह	शर्कराप्रभा	दूसरी नरक भूमि	१७२
सक्खिय	साक्षिक	गवाह	२८३
सग	स्वक	अपना	२१७
सग्ग	स्वर्ग	देवलोक	४३६
{ सगिह { सघर	स्वगृह	अपना घर	२७१, १८७
सच्च	सत्य	यथार्थ	२१०
सचित्त	सचित्त	जीव-युक्त	४
सचित्तपूजा	सचित्तपूजा	सचित्त द्रव्यसे पूजन या चेतनकी पूजा	४४९
सच्चित्त	सचित्त	जीव युक्त	४४६
सजण	स्वजन	कुटुम्बी	६४
सज्जण	सज्जन	सत्पुरुष	३४४
सजोगिकेवलिजिण	सयोगकेवलिजिन	तेरहवें गुणस्थानवर्त्ती जिनेन्द्र अरहन्त	४२५
सण्णा	संज्ञा	चैतन्य, होश, आहारादिकी वांछा	७३

सत्त	सप्त	सात	१७४
	सत्त्व	बल, जीव	३४८
सत्तमि	सप्तमी	तिथि विशेष	२८१
सत्तमी			३६६
सत्तरस	सप्तदश	सत्तरह	१७४
सत्ति	शक्ति	आयुध विशेष	१४१
		सामर्थ्य	१२०
सत्तु	शत्रु	वैरी	२७६
सत्थ	शास्त्र	ग्रन्थ	३३६
सदद	सतत	निरन्तर	११४
सद्द	शब्द	अक्षर, आलाप	४१३
सद्दहण	श्रद्धान	दृढ़-प्रतीति	१५
***सद्दहमाण**	श्रद्दधत्	श्रद्धान करता हुआ	५६
सद्दहंत	श्रद्दधन्त		११
सद्दाउल	शब्दाकुल	शब्दसे व्याप्त	४८६
सद्धा	श्रद्धा	विश्वास	२२३
सधण	सधन	धन-युक्त	१८५
समग्ग	समग्र	सम्पूर्ण	४८२
समचउरस्स	समचतुरस्र	सुन्दर संस्थान आकार	३६६
समचउरस्ससंठाण	समचतुरस्र संस्थान	प्रथम संस्थानका नाम	२६२
समज्जिय	समर्जित	उपार्जित	३४६
समप्पह	समप्रभ	समान प्रभावाले	२५६
समभिभूअ	समभिभूत	अत्यन्त पराभूत	१६१
समय	समय	परमागम, क्षण	७
समवसरण	समवसरण	तीर्थंकरोंकी सभाविशेष	४७३
सम्म	सम्यक्	सम्यक्त्व	५३६
सम्मत्त	सम्यक्त्व	सम्यग्दर्शन	५०
सम्मदिट्ठी	सम्यग्दृष्टि	सम्यक्त्वी	५६
समासओ	समासतः	संक्षेपसे	२४४
समाहि	समाधि	ध्यानावस्था	४६४
सम्माण	सन्मान	प्रतिष्ठा	४०६
समुग्घाय	समुद्घात	आत्मप्रदेशों का शरीरसे बाहिर निकलना	५२८
समुद्द	समुद्र	सागर	६१
समुद्दिट्ठ	समुद्दिष्ट	कहा हुआ	४५
समुप्पत्ति	समुत्पत्ति	पैदायश	१६८
समुवइट्ठ	समुपविष्ट	बैठा हुआ	३०३
सपएस	सप्रदेश	प्रदेशयुक्त	२४
सप्प	सर्प	साँप	६५
सप्पि	सर्पि	घी	४५४
सब्भाव	सद्भाव	तदाकार, भद्रता	२३
समाण	समान	तुल्य	२६६
सय	शत	सौ	८६

सयं	स्वयं	आप, खुद	३०४
सयल	सकल	सम्पूर्ण	१७
सयवत्त	शतपत्र	कमल	४२६
सया	सदा	नित्य	३८
सयसहस्स	शतसहस्र	लाख	१७१
सयास	सकास	समीप	३०८
सर	सर.	सरोवर	८८
सरण	शरण	आश्रय	६२
***सरिऊण**	सृत्वा	जाकर	५१६
सरिस	सदृश	समान	८५
सरिसव	सर्षप	सरसों	४८१
सरूव	स्वरूप	लक्षण, अपना रूप	३१, ३४५
सलायपुरुष	शलाकापुरुष	प्रसिद्ध महापुरुष	४२२
सलिल	सलिल	जल	६१
सल्लेखण	सल्लेखना	काय-कषायको कृश करना	२७२
सवत्त	सपत्न	शत्रु, प्रतिपक्षी	४६१
सवह	शपथ	सौगंध, प्रतिज्ञा	६७
सव्व	सर्व	समस्त	४६
सव्वग	सर्वग	सर्वव्याप्त	३७, ३
सव्वगत	सर्वगत		
सव्वंग	सर्वाङ्ग	सर्वशरीरमें व्याप्त	१०२
सव्वत्थसिद्धि	सर्वार्थसिद्धि	सर्वार्थसिद्धि नामक कल्पातीत विमान	४९२
‡**सव्वत्थ**	सर्वत्र	सर्व स्थानपर	२२९
‡**सव्वदा**	सर्वदा	सदाकाल	२९७
सव्वस्स	सर्वस्व	सर्वधन	८९
सव्वोसहि	सर्वौषधि	एक ऋद्धिविशेष	३४६
सविवाग	सविपाक	फल देनेवाली निर्जरा	४३
सविसेस	सविशेष	विशेषता-युक्त	९२
ससमय	स्वसमय	अपना सिद्धान्त	५४०
ससंक	शशाङ्क	चन्द्रमा	३३२
ससंवेय	ससंवेग	संवेग-सहित	२७८
ससि	शशि	चन्द्र	४२९
सहण	सहन	सहना	१८१
सहस्स	सहस्र	हजार	६५
सहाव	स्वभाव	प्रकृति	१४०
साइय	स्वाद्य	आस्वादन योग्य	२३४
सामण्ण	सामान्य	विशेषता-रहित	३३५
सामाइय	सामायिक	एक नियम, व्रत विशेष	४
सामि	स्वामी	अधिपति	९०
सामित्त	स्वामित्व	आधिपत्य	४६
सायर	सागर	मापविशेष, एक माप	१७५
सायरोपम	सागरोपम	अलौकिक माप-विशेष	१७३

सायार	सागार	गृहस्थ	२
	साकार	आकारवान्	३८३
साय	स्वाद्य	आस्वाद-योग्य	२६१
सारीर	शारीर	शारीरिक	१७६
सारमेय	सारमेय	कुत्ता	१७१
सालि	शालि	धान्य-विशेष	४३०
सावअ	श्रावक	व्रतीगृहस्थ	५७
सावय	श्वापद	मांस-भक्षी जानवर	५८
सावज्ज	सावद्य	सदोष	२६१
सासण	सासादन	दूसरा गुणस्थान	४५
साहण	साधन	हेतु	४६
साहिय	साधिक	कुछ अधिक	१७४
साहु	साधु	मुनि	२३१
सिक्खावय	शिक्षाव्रत	मुनि शिक्षा देनेवाले व्रत	२०७
सिक्खावण	शिक्षापन	शिक्षण, सिखाना	२८४
सिग्घ	शीघ्र	जल्दी	३०५
सिट्ठ	शिष्ट	सभ्य	३
सिंदुवार	सिन्दुवार	सिन्दुवार, वृक्ष-विशेष, निर्गुंडीका पेड़	४३१
सिद्ध	सिद्ध	मुक्त	११
सिद्धन्त	सिद्धान्त	सिद्धान्त, परमागम	५४२
सिद्धत्थ	सिद्धार्थ	सरसों	४२१
सिद्धिसोक्ख	सिद्धिसौख्य	मोक्ष-सुख	३७५
सिय	सित	श्वेत	४०६
सियपंचमी	सितपंचमी	शुक्लपक्षीय पंचमी तिथि	३५३
सियायवत्त	सितातपत्र	श्वेत-छत्र	५०५
सिर	शिर	मस्तक	१५७
सिरि	श्री	लक्ष्मी	४६६
सिरिखंड	श्रीखंड	चन्दन-विशेष	४०३
सिरिणंदि	श्रीनन्दि	आचार्य-विशेष	४४२
सिरिभूइ	श्रीभूति	एक आचार्यका नाम	१३०
सिला	शिला	चट्टान	१५२
सिल्हारस	शिलारस	शिलाजीत	४३८
सिस्स	शिष्य	अन्तेवासी, दीक्षित	५४३
सिसिर	शिशिर	शीतल, ऋतु विशेष	४२५
सिसु	शिशु	बच्चा	६७
सिहर	शिखर	चोटी, अग्रभाग	४६३
सिहा	शिखा	ज्वाला, चोटी	४३६
सिहामणि	शिखामणि	मस्तक-मणि	२३८
सिंहासण	सिंहासन	सिंहाकृति आसन-विशेष	५०४
सीउण्ह	शीतोष्ण	सर्द-गर्म	१७६
सीदुण्ह			१४०
सीय	शीत	ठंडा	१३६

सील	शील	ब्रह्मचर्य	२२३
सीस	शीर्ष	मस्तक	७४
सुइ	{ शुचि	पवित्र	२७४
	श्रुति	शास्त्र	३४४
सुकहा	सुकथा	उत्तम कथा	४२२
सुक्क	शुक्ल	उज्ज्वल	५१८
सुक्कझाण	शुक्लध्यान	सर्वोत्तम ध्यान	५२४
सुकंदुत्थ	(देशीशब्द)	नील कमल	४०५
सुक्ख	सौख्य	आनन्द	३६७
सुक्खसम्पत्ति	सौख्यसम्पत्ति	एक व्रत विशेष	३७१
सुज्ज	सूर्य	रवि	२५८
सुट्ठु	सुष्ठु	उत्तम	१४७
सुणय	सुनय	सम्यक्नय	५४२
सुण्ण	शून्य	खाली, रिक्त	४६५
सुण्णहर	शून्यगृह	सूना घर	१२०
सुणिम्मल	सुनिर्मल	अतिपवित्र	६
सुत्त	सूत्र	परमागम, डोरा, धागा	२१७
सुत्तहार	सूत्रधार	मुख्य पात्र	४०८
सुत्ताणुवीचि	सूत्रानुवीचि	शास्त्रानुसारी वचन	३२७
सुत्तुट्ठिय	सुप्तोत्थित	सोकरके उठा हुआ	४९८
सुत्तत्थ	सूत्रार्थ	सूत्रका अर्थ	६
सुदिट्ठी	सुदृष्टि	सम्यग्दृष्टि	२४६
सुद्ध	शुद्ध	राग-द्वेषरहित	५१
सुपक्क	सुपक्व	उत्तम पका हुआ	४४१
सुप्पसिद्ध	सुप्रसिद्ध	प्रख्यात	८३
सुब्भ	शुभ्र	उज्ज्वल	५४१
*सुमराविऊण	स्मारयित्वा	स्मरण कराकर	१७०
सुमिण	स्वप्न	स्वप्न	४९९
सुय	{ श्रुत	शास्त्र-ज्ञान	३८०
	सुत	पुत्र	७६
सुयदेवी	श्रुतदेवी	सरस्वती	३९१
सुयंध	सुगंध	खुशबू	४२९
सुरतरु	सुरतरु	कल्पवृक्ष	५१९
सुरवइ	सुरपति	इन्द्र	१
सुरहि	सुरभि	सुगंध	४२६
सुरा	सुरा	मदिरा	७२
सुरिंद	सुरेन्द्र	देवोंका स्वामी	१९८
सुवइट्ठय	सुप्रतिष्ठक	सांथिया	४००
सुवण्ण	{ सुवर्ण	सोना	४२५
	सौवर्ण्य	सुवर्णमय	४३५
सुसिर	सुषिर	एक स्वर विशेष	२५३

सुह	{ शुभ { सुख	अच्छा आनन्द	३६ १५७
सुहग	सुभग	दूसरोंका प्यारा	२३२
सुहजोय	शुभयोग	पुण्यवर्धक योग	३२६
{ **सुहम** { **सुहुम**	सूक्ष्म	दृष्टि-अगोचर	५३५, ५३३
सुहावह	सुखावह	सुखदायक	३३३
सुहुमलोह	सूक्ष्मलोभ	अत्यन्त क्षीण लोभ	५२३
सुहुमसंपराय	सूक्ष्मसाम्पराय	दशवें गुणस्थानका नाम	५२३
सुहुमसुहुम	सूक्ष्म-सूक्ष्म	अतिसूक्ष्म	५१५
सुहोवयोग	शुभोपयोग	पुण्य-वर्धक योग	४०
सुई	सूति	प्रसूति	२६४
सूर	शूर	वीर	२५
सूल	शूल	पीड़ा	१०६
सेश्र	{ स्वेद { श्वेत	पसीना उज्ज्वल	८
सेढि	श्रेणि	पंक्ति	१७१
सेणिय	श्रेणिक	मगधराज, श्रेणिक बिम्बसार	३
सेयकिरिया	सेकक्रिया	सेंकना	३३८
सेल	शैल	पर्वत	५०६
सेविश्र	सेवित	सेया गया	१९८
सेस	शेष	अवशेष	२९
***सोऊण**	श्रुत्वा	सुनकर	१२१
सोक्ख	सौख्य	आनन्द	४५
सोग	शोक	विषाद	१९५
सोय	श्रोत्र	कर्ण	५००
सोलह	षोडश	सोलह	५०२
सोवण्ण	सौवर्ण्य	सुन्दर वर्णवाला, सोने-सा रंगयुक्त	४३३
सोहग्ग	सौभाग्य	सुन्दर भाग्य	४८३
सोहण	शोधन	शोधना	३४०
सोहम्म	सौधर्म	प्रथम स्वर्ग	३९५
{ ***सोहिऊण** { **सोहित्ता**	शोधयित्वा	शोध कर	३०८-५४८
संक	शंका	सन्देह	६
संकप्प	संकल्प	दृढ़ विचार	२९३
***संकप्पिऊण**	संकल्प्य	संकल्प करके	३८४
संख	शंख	शंख	४११
संखा	संख्या	गणना	१७५
संखेव	संक्षेप	साररूप	१३४
संखोय	संक्षोभ	हल-चल	३४७
संगह	संगत	युक्ति-युक्त	२१६
संगाम	संग्राम	युद्ध	४८९

संगीय	संगीत	गायन	४५४
संघाय	संघात	समूह	४४६
संजम	संयम	यम-नियम	२२१
संजुय	संयुत	सयुक्त	२७७
संजोय	संयोग	संप्राप्ति	२७६
***संठाविऊण**	संस्थाप्य	स्थापन करके	४०८
संणिह	सन्निभ	सदृश	४७२
संतट्ट / **संतत्त**	संतप्त	अति संताप युक्त	१८०-१०२
संताविय	संतापित	संताप युक्त	१६१
संथार	संस्तर	विस्तर	३४०
संदेह	सन्देह	शंका	८४
संधाण	सन्धान	अचार	५८
संधिबन्ध	सन्धिबन्ध	एक वाद्य-विशेष	४१३
संपण्ण	सम्पन्न	समाप्त	३४८
संपुण्ण	सम्पूर्ण	सम्यक् प्रकार पूर्ण	६६
संपत्त	सम्प्राप्त	हस्तगत	१९१
संपाविय	सप्लावित, सम्प्राप्य	ओत-प्रोत, अच्छी तरह पाकर	४८६
संपुड	संपुट	दो समान भागोंका जोड़ना	४९५
संपुडंग	संपुटांग	जुड़ा हुआ अंग	२३०
संभूसिऊण	संभूष्य	आभूषित होकर	३९९
सम्मोह	सम्मोह	मोहित करना	१९४
संयोयज	संयोगज	संयोग-जनित	१०३
संवच्छर	संवत्सर	वर्ष	१२५
संवर	संवर	कर्मास्रव रोकना	१०
संवरण	संवरण	संकुचित	४३२
संवेअ	संवेग	वैराग्य	४९
संसारत्थ	संसारस्थ	संसारी	११
संसित्त	संसिक्त	सिंचा हुआ, व्याप्त	५८
संसिय	संश्रित	आश्रित	२०२

ह

***हणिऊण**	हत्वा	मार कर	५२५
हणु	हनु	ठोड़ी, दाढ़ी	४६१
हत्थ	हस्त	हाथ	३९८
हत्थणापुर	हस्तिनापुर	प्राचीन पांडव-पुरी	५४
***हम्ममाण**	हन्यमान	मारा जाता हुआ	१८०
हर	धर	धारण करना	२६३
***हरिऊण**	हृत्वा	हर करके	१०२
हरिय	हरित	हरा वर्ण	२९५
हिय	हित	भलाई	३२७
	हृत	हरा हुआ	७३

हियय	हृदय	मन	४६८
हिरण्ण	हिरण्य	सोना, चांदी	२१३
हिंडंत	हिण्डन्त	भूलता हुआ	१७७
हिंडित	भ्रमित	भ्रमण किया हुआ	१३०
हिंताल	हिन्ताल	हिन्ताल वृक्षविशेष	४४०
हुडुक्क	(देशी शब्द)	वाद्य-विशेष	४१२
हुंडावसप्पिणी	हुंडावसर्पिणी	काल-विशेष, जिसमें अनुचित एवं असंगत बातें भी होवें	३८५
हेउ / हेदु	हेतु	साधन	२६३, ३६
होऊण	भूत्वा	हो करके	१३१

* इस चिह्नवाले संबंध बोधक कृदन्त शब्द हैं।

† इस चिह्नवाले वर्तमान कृदन्त शब्द हैं।

‡ इस चिह्नवाले अव्यय शब्द हैं।

आवश्यक निवेदन—

मुझे इस संग्रह में कुछ प्रसिद्ध या प्रचलित विषयों के विरुद्ध भी लिखना पड़ा है वह केवल पाठकों की सुगमता के लिए ऐसा किया है। ग्रन्थ में आये हुए शब्दों की अकारादि क्रम से तालिका दी गई है, साथमें उनका अर्थ भी। ग्रन्थ गत अर्थ पहले और उसके अन्य अर्थ उसके पीछे दिये गये हैं।

ऐतिहासिक-नाम-सूची

भौगोलिक-नाम-सूची

व्रत-नाम-सूची

गाथानुक्रमणिका

भारतीय ज्ञानपीठ काशीके सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

[प्राकृत, संस्कृत ग्रंथ]

१.	**महाबन्ध** [महाधवल सिद्धान्त शास्त्र]—प्रथम भाग, हिन्दी अनुवाद सहित	१२)
२.	**करलक्खण** [सामुद्रिक शास्त्र]—हस्तरेखा विज्ञानका नवीन ग्रन्थ [स्टाक समाप्त]	१)
३.	**मदनपराजय**—भाषानुवाद तथा ७८ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावना	८)
४.	**कन्नड प्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थसूची**—	१३)
५.	**न्यायविनिश्चय विवरण** [प्रथम भाग]	१५)
६.	**तत्त्वार्थवृत्ति**—श्रुतसागर सूरिरचित टीका। हिन्दी सार सहित	१६)
७.	**आदिपुराण** भाग [१]—भगवान् ऋषभदेवका पुण्य चरित्र	१०)
८.	**आदिपुराण** भाग [२]—भगवान् ऋषभदेवका पुण्य चरित्र	१०)
९.	**नाममाला सभाष्य**—	३॥)
१०.	**केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि**—ज्योतिष ग्रन्थ	४)
११.	**सभाष्यरत्नमंजूषा**—छन्दशास्त्र	२)
१२.	**वसुनन्दि-श्रावकाचार**	५)
१३.	**समयसार**—[अंग्रेजी]	८)
१४.	**कुरलकाव्य**—तामिल भाषाका पञ्चमवेद [तामिल लिपि]	४)

[हिन्दी ग्रन्थ]

१५.	**मुक्तिदूत** [उपन्यास]—अञ्जना पवनञ्जयकी पुण्यगाथा	५)
१६.	**पथचिह्न**—[स्वर्गीय बहिनके पवित्र संस्मरण और युगविश्लेषण]	२)
१७.	**दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ**—	३)
१८.	**पाश्चात्य तर्कशास्त्र** [अप्राप्य]	६)
१९.	**शेरो-शायरी** [उर्दूके सर्वोत्तम १५०० शेर और १६० नज्म]	८)
२०.	**मिलनयामिनी** [गीत]	४)
२१.	**वैदिक साहित्य**—वेदोंपर हिन्दीमें साधिकार मौलिक विवेचन	६)
२२.	**मेरे बापू**—महात्मा गाँधीके प्रति श्रद्धाञ्जलि	२॥)
२३.	**पंच प्रदीप** [गीत]	२)
२४.	**भारतीय विचारधारा**—	२)
२५.	**ज्ञानगंगा**—[संसारके महान् साधकोंकी सूक्तियोंका अक्षय भण्डार]	६)
२६.	**गहरे पानी पैठ**—सूक्तिरूपमें ११८ मर्मस्पर्शी कहानियाँ	२॥)
२७.	**वर्द्धमान** [महाकाव्य]	६)
२८.	**शेर-ओ सुखन**	८)
२९.	**जैन-जागरणके अग्रदूत**	५)
३०.	**हमारे आराध्य**	३)
३१.	**भारतीय ज्योतिष**	६)
३२.	**रजतरश्मि**	२॥)
३३.	**आधुनिक जैन कवि**	३॥)
३४.	**जैनशासन**—जैनधर्मका परिचय तथा विवेचन करनेवाली सुन्दर रचना।	३)
३५.	**कुन्दकुन्दाचार्यके तीन रत्न**—	२)
३६.	**हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास**	२॥=)

भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस ४

सन् १९५१ की प्रकाशित पुस्तकें



भारतीय ज्ञानपीठ काशी